CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसार

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Bop-2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीजानकीपरमकृपापात्रैर्बिन्दुश्रीप्रवर्तकाचार्य्यैः
श्रीरामानन्दसम्प्रदायकमलोल्लासकैः
श्रीमद्भगवद्रामप्रसादाचार्य्यैरयोध्यकैः
प्रणीतस्य

श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य

संक्षिप्तसारः

सम्पादको व्यवस्थापकः संशोधकश्च
परमहंसपरिव्राजक—
पण्डितराज-स्वामि-श्रीभगवदाचार्य्यः

प्रेस ...
उन्होंने ।५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकाशकः—

स्वामी श्रीरामचरित्राचार्य व्याकरणाचार्य

श्रीराममन्दिर, मोटी हवेली नी-पोल, दरियापुर,

अहमदाबाद १

सर्वाधिकार प्रकाशकायत्त

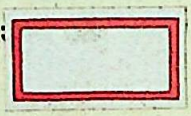

प्रथमसंस्करण जून १९५८ ई०

प्राप्तिस्थान—

(१) महान्त श्रीकृष्णदास

श्रीरामानन्द साहित्यमन्दिर, अट्टा

अलवर (राजस्थान)

(२) स्वामी श्रीरामचरित्राचार्य व्याकरणाचार्य

श्रीराममन्दिर, मोटी हवेली नी-पोल, दरियापुर,

अहमदाबाद १

मुद्रक—बालकृष्णशास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस,

कालभैरव मार्ग, वाराणसी ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

धन्यवाद

वह कल्पित आनन्दभाष्य इतना अशुद्ध छपा है और इतना लम्बा चौड़ा उसमें जाल बिछाया गया है कि सामान्य कोई उसे न तो शुद्ध कर सकता है और न उसके असली रूप को पकड़ सकता है। इसमें श्रीजानकीभाष्य तो है ही, परन्तु उसमें कहीं कहीं संशोधनकार पण्डित श्री रघुवरदास जी के भी शब्द और वाक्य हैं। कहीं कहीं श्रीभाष्य की भी पङ्क्तियाँ हैं। कहीं कहीं वेदान्तसार की भी पङ्क्तियाँ हैं। कल्पित आनन्दभाष्य, श्रीजानकीभाष्य, श्रीभाष्य, वेदान्तसार आदि ग्रन्थों का मिलान करके शुद्ध श्रीजानकीभाष्य का संक्षिप्त सार बनाना अत्यन्त दुरूह कार्य था। ७८ वर्ष की उम्र में मेरे लिये तो अवश्य ही यह कठिन कार्य था और जब कि मेरा कोई अन्य सहायक नहीं। मैंने बहुत श्रम किया, आनन्दभाष्य की काट-छाँट की तब उसमें से यह विशुद्ध श्रीजानकीकृपाभाष्य संक्षिप्तसार निकल सका।

काटते, छाँटते, सुधारते, लिखते, मेरे लिये थक जाना बहुत स्वाभाविक बात थी। इसके सुधारने में कितनी ही भूलें भी रह गयीं। भाष्य सुधारने में लग गया तो सूत्र की ओर ध्यान नहीं गया और वह अशुद्ध ही रह गये।

इस ग्रन्थ का प्रूफ संशोधन मैंने नहीं किया है। ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी के अध्यक्ष श्रीमान् पण्डित बालकृष्ण शास्त्रीजी ने ही किया है। उन्होंने कितनी ही अशुद्धियों को तो शुद्ध कर लिया परन्तु तो भी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कितनी ही रह गयी हैं। जो पाण्डुलिपि मैंने तैयार की थी और जिसपर से यह ग्रन्थ छपा है, उसे मैंने सुरक्षित रखा है। उसके देखने से ही मूर्छा आ जाती है! उपर्युक्त श्रीशास्त्रीजी ने महापरिश्रम से इसका संशोधन किया और आशातीत शुद्धता के साथ यह ग्रन्थ मुद्रित हो सका। इसके लिये मैं श्रीशास्त्रीजी का अत्यन्त आभार मानता हूँ और उन्हें शतशः धन्यवाद देता हूँ। सच तो यह है कि जितना श्रम श्रीशास्त्रीजी-ने किया है उतना मैं नहीं कर सकता था, अत एव इतनी शुद्धताके साथ यह ग्रन्थ छप भी नहीं सकता था। अतः मैं इस ग्रन्थके पाठक विद्वानोंसे प्रार्थना करूँगा कि इसमें जहाँ कहीं थोड़ी भी भूलें रह गयी हैं और वे केवल मेरी भूलें हैं, मेरी ही अनवधानता से पाण्डुलिपि में वह भूलें रह गयी थीं, अतः मेरी वृद्धता, अनेक कार्यपरायणता आदि की ओर ध्यान देकर उन्हें सुधार लेंगे और मुझे क्षमादान देंगे।

७ जून १९५८ ई० } भगवदाचार्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपकारस्मृति

बिन्दुश्रीप्रवर्तकाचार्य श्रीरामानन्दसम्प्रदायकमलदिवाकर आयोध्यक श्रीस्वामी रामप्रसादाचार्यजी महाराजकी गादीके आचार्य स्वामी श्रीगोपालप्रसादजी महाराजके कृपापात्र आयुर्वेदविद्वान् परोपकारपरायण परमवीतराग स्वसम्प्रदाय-सम्प्रदायाचार्यनिष्ठ स्वामी श्रीदयानन्ददासजी महाराजकी परम-उदारतासे यह दिव्यग्रन्थ शीघ्र मुद्रित हो सका है। अतः मैं सम्प्रदायके इस महान् उपकारके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। स्वामी श्रीदयानन्ददासजी महाराज अब वृद्ध हो गये हैं परन्तु उनका धार्मिक उत्साह तो नवयुवक ही है। अतः हमें आशा है कि हम लोग आपके पवित्र धन और उदारताका साम्प्रदायिक कार्यमें पुनरपि उपयोग करनेके लिये भाग्यशाली बनेंगे।

अहमदाबाद
७ जून १९५८

भगवदाचार्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रपाठसंशोधनम्

अशुद्धः पाठः	शुद्धः पाठः		पृष्ठ
यत्तु	तत्तु	...	४५
उपपत्ते	उपपत्तेः	...	९७
स्थानादि व्यप	स्थानादिव्यप	...	९७
वस्वानरः	वैश्वानरः	...	१०४
धृते	धृतेः	...	११८
विरोधः	विरोधः	...	१३७
वृतावप्य	वृत्तावप्यः	...	१४०
भ्यामपि–	भ्यामपि	...	१७३
नवकाशदोष	नवकाशदोष–	...	१८२
वयवत्त्व	वयवत्व	...	२०१
थाह्याह	था ह्याह	...	२२९
देह योगाद्वा	देहयोगाद्वा	...	२७४
सूर्यकादि	सूर्याकाशादि	...	२८१
तथाहि	तथा हि	...	२८४
शाखा हि	शाखासु हि	...	३१८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

महामृत्युञ्जय दर्शन

मैं सत्यको ही महामृत्युञ्जय नाम दे रहा हूँ। उसीका दर्शन हम यहाँ करना-कराना चाहते हैं।

आनन्दभाष्यनामक ग्रन्थ सन् १९२९ ई० में अहमदाबादके उत्कृष्ट प्रेससे छपकर प्रकाशित हुआ था। स्वामी श्री रघुवरदासजी वेदान्तीने उसका संशोधन किया था। उन्होंने उस ग्रन्थमें अपनी एक भूमिका भी संस्कृत भाषामें लिखी है उसका नाम रखा है—तत्त्वप्रकाशिका। उस आनन्दभाष्यका वास्तविक इतिहास मैंने सन् १९५५ ई० में मुद्रित श्रीरामपटलमें—सिंहावलोकनमें प्रकाशित कर दिया है। वह आनन्दभाष्य कल्पित भाष्य है। श्रीरामानन्दस्वामीजीका उसके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह बात मैं लगभग १९ वर्षोंसे कहता और लिखता आ रहा हूँ। अप्रैल १९३९ में मैंने प्रथमवार इस बातको तत्त्वदर्शीके विशेषाङ्कमें लिखा था। उस समय इस ग्रन्थके संशोधक पण्डित श्री रघुवरदासजी जीवित थे। बहुत दिनों तक जीवित रहे थे। उन्होंने मेरे लेखके उत्तरमें कभी भी एक शब्द भी नहीं लिखा। मेरी बातको सुननेवालोंमेंसे कुछ सत्य घटनासे परिचित हैं, कुछ अपरिचित हैं। अपरिचित समाज कुछ नहीं बोल सका है। परन्तु परिचितोंकी एक छोटी सी टुकड़ी सदा मेरे सामने यह बात रखती आ रही है कि वह आनन्दभाष्य श्रीरामानन्दस्वामीजी का ही निर्मित है जो श्रीसम्प्रदायके एक महान् आचार्य थे।

महान्त श्रीवासुदेवाचार्यजी अयोध्या, महान्त श्री वैष्णवाचार्यजी अहमदाबाद और श्री बजरङ्गदासजी रमतेराम इन तीनों सन्तोंने यह आग्रह ले रखा है कि सत्यको असत्य और असत्यको सत्य सिद्ध करना परमावश्यक है। महान्त श्री वासुदेवाचार्यजी पण्डित हैं, विद्वान् हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उन्होंने अपने लिये एक डिग्री बना ली है—दार्शनिक सार्वभौम। अब वह सार्वभौमके नाम से प्रसिद्ध हो चले हैं। महान्त श्री वैष्णवाचार्यजी विद्वान् भी हैं और कुछ लिखते रहनेके अभ्यासी भी हैं। उन्होंने अपनी दो एक छोटी-छोटी पुस्तकोंमें उस आनन्दभाष्य नामक ग्रन्थमेंसे कहीं कुछ उद्धरण भी किया है। उन्होंने यह भी घोषित किया है कि उस आनन्दभाष्य पर श्री टीलाजी और श्री मङ्गलदासजीकी टीकाएँ हैं। आबूके श्री रघुनाथमन्दिरसे एक सिद्धान्तदीपक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसके कर्त्ता स्वामी अनन्तानन्दजी बताये गये हैं। उसमें एक श्लोकमें लिखा है कि श्री रामानन्दस्वामी आनन्दभाष्यके कर्त्ता हैं। उस सिद्धान्त-दीपककी हिन्दी व्याख्या श्री रघुनाथमन्दिरके ही वर्तमान महान्त श्री रामशोभादासजीके नामसे प्रकाशित है। अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ लोगोंने आनन्दभाष्यका नाम इन २० वर्षोंमें लिखा और प्रकाशित किया है। तीसरे बजरङ्गदासजी रमतेराम ही हैं। कभी मनमें आया और कहींसे कुछ पैसे मिल गये, तो कुछ लिख डाला। उनके लेखमें सिर-पैर विनाकी बातें रहती हैं। इन्होंने कितनी ही विज्ञप्तियाँ छपा डाली हैं और आनन्द-भाष्यके सम्बन्धमें मुझसे शास्त्रार्थ करनेके लिये चैलेंज भी दे दिया है। कभी-कभी मेरा पराजय भी छाप दिया है। यह तो मियाँ-मिट्ठूवाली बात है। अभी उन्होंने एक छोटी सी पुस्तक बालविधके विषय में लिखी है। भूपतवाला हरिद्वारके श्रीमान् महान्त पण्डित लक्ष्मणदासशास्त्रीजीसे भी कुछ रुपये उस पुस्तकको छपानेके लिये उन्होंने प्राप्त किये। पुस्तक छप गयी। उसमें मुझे भरपेट कोसा गया। महान्त पण्डित श्री लक्ष्मणदासजी-ने मुझे लिखा, शायद विरक्तपत्रमें भी प्रकाशित किया कि "यदि मुझे मालूम होता कि वह भगवदाचार्यको गालियाँ देंगे तो मैं एक पैसा भी सहायता न देता"।

डाकोरके श्रीमान् श्री महान्त रामनारायणदासजी टीलागाद्याचार्य माने जाते हैं। मङ्गलपीठाधीश भी वह हैं। अतः मैंने उनसे पत्र लिखकर पूछा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि आपके पास आनन्दभाष्यके ऊपर टीलाजीकी कोई टीका और उसके ऊपर मङ्गलदासजीकी कोई टीका है ? उन्होंने उत्तर दिया कि सब ग्रन्थ थे परन्तु पण्डित वैष्णवाचार्यजी छपवानेके लिये अहमदाबाद ले गये हैं। मैं तो अहमदाबादमें ही रहता हूँ। श्री रामानन्दपत्रिकामें एक लेख लिखकर मैंने पण्डित वैष्णवाचार्यजीसे उन दोनों या तीनों ग्रन्थोंको देखनेके लिये इच्छा प्रकट की परन्तु वह निष्फल गयी क्योंकि ये तीनों ग्रन्थ इस धरातलपर तो नहीं ही हैं। यदि हों भी तो बनावटी होंगे और उन्हें मेरे जैसोंको दिखानेका किसीको साहस ही नहीं हो सकता। यही कथा सिद्धान्तदीपक की भी है। एक झूठे आनन्दभाष्यको सच्चा साबित करनेके लिये अनन्त झूठ का सेवन करके पापार्जनसे किसी को भय ही नहीं हो रहा है। यदि सम्प्रदाय पाप और पापाचार-की वृद्धिके लिये ही हो तो उसका आज ही नाश हो जाना चाहिये। दम्भ और पाषण्ड, असत्य और दुराचारके लिये सम्प्रदाय नहीं होना चाहिये। इन सब दुर्गुणोंकी निवृत्तिके लिये ही सम्प्रदायका अस्तित्व होना चाहिये। यदि मान लें कि श्री रामानन्द सम्प्रदायमें रामानन्द स्वामी-से पूर्व अथवा उनके पश्चात् बहुत दिनों तक कोई संस्कृतका महाविद्वान् और ग्रन्थ लेखक नहीं आया तो हो क्या गया ? यह सम्प्रदाय तो भक्तसम्प्रदाय है। इसमें भक्त हुए या नहीं, यह देखना चाहिये।

मैंने अपने समस्त प्रतिपक्षियोंको चैलेंज दे रखा है कि आनन्दभाष्य (उत्कृष्ट मुद्रणालयमें छपाकर श्री रघुवराचार्य द्वारा प्रकाशित) को यदि श्रीरामानन्दाचार्य कृत सिद्ध करना है तो उसकी वह प्राचीन प्रति मुझे दिखाइये, किसीको भी दिखाइये जिसके आधारपर यह आनन्दभाष्य छपाया गया है। परन्तु आजतक किसीका भी साहस ऐसा करनेका नहीं हुआ। हो भी नहीं सकता है; क्योंकि यदि कोई प्राचीन प्रति दिखायी जा सकती है तो वह श्री जानकीभाष्यकी ही प्रति होगी और उसमें कांट-छाँट किया हुआ स्पष्ट ही दीख पड़ जायगा। कोई भी उसकी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राचीन प्रति हस्तलिखित दिखायी नहीं जा सकती है और मुद्रित प्रति प्रामाणिक मानी नहीं जा सकती है अतः भइ गति साँप छुछुन्दर केरी वाली बात हुई है। प्रतिपक्षी हैरान और परेशान हैं।

मैंने श्रीरामानन्दपत्रिका (वर्ष अङ्क) में घोषित कर दिया था कि यदि कोई भी मेरे प्रतिपक्षी आनन्दभाष्यकी हस्तलिखित मूल प्रति नहीं दिखावेंगे तो मैं इस आनन्दभाष्यको संक्षिप्त जानकीभाष्यके नामसे मुद्रित कराकर प्रकाशित करूँगा। अभी तक किसीने उसे दिखानेका साहस नहीं किया है। कोई झूठा ही यह न कह दे कि मैंने मूल हस्तलिखित आनन्दभाष्यको भगवदाचार्यको दिखा दिया था, अतः मैंने यह भी घोषणा कर रखी है कि मैं ज़िला कलक्टर और किसी अन्य सम्प्रदायके प्रतिष्ठित विद्वान्के साथ उस ग्रन्थको देखूँगा। यदि कोई कहेगा कि मैं मूल हस्तलिखित आनन्दभाष्यको भगवदाचार्यको दिखा चुका हूँ तो उस ग्रन्थपर मेरा, ज़िला कलक्टरका तथा किसी अन्य विद्वान्का हस्ताक्षर दिखाना ही पड़ेगा। यदि उस ग्रन्थपर मेरा हस्ताक्षर नहीं है तो अवश्य ही यह सिद्ध मानना पड़ेगा कि मैंने उसे देखा ही नहीं है।

पण्डित श्री रघुवरदासजीने कल्पित आनन्दभाष्यकी अपनी तत्त्वप्रकाशिका भूमिकामें अन्तमें टिप्पणीमें लिखा है कि—

"अयोध्यामें ही किसी वैष्णवमन्दिरमें एक पुस्तक है ऐसा मैंने सुना परन्तु देखा नहीं। मेरे एक मित्रने उसे देखा और कहा कि वह रामानन्दभाष्य नहीं है, प्रत्युत किसीने वेदान्तसूत्रोंको उद्धृत करके उसकी टीकाके बहानेसे उपनिषद् और गीताके वाक्योंको नीचे उद्धृत करके जानकीभाष्यके नामसे उसे प्रसिद्ध किया है। वह भाष्य प्रतिपद अशुद्ध है, उत्सूत्र (सूत्रके भावोंके विरुद्ध) है, अपार्थक (अनर्थक) है और बाललीला-विलसित है। यह सुनकर मैं उसके संग्रह करनेसे अलग

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ही रहा। मैं मानता हूँ कि इसी श्रेयोनिधान आनन्दभाष्यको जड़-मूलसे उलटा-पुलटा करके किसी ख्यातिलोभीने दुर्वचनरूप चीवरवाले इस ग्रन्थरूप कन्थाको तैयार किया है"।

इसपर मैंने अयोध्यासे निकलनेवाले संस्कृतम् नामके साप्ताहिक पत्रमें लिखा कि यदि जानकीभाष्य उत्सूत्र है, अपार्थक है, प्रतिपद अशुद्ध है और बाललीला विलसित है, तो यदि इस आनन्दभाष्यमें भी जानकी-भाष्यके ही शब्द, धातु, अव्यय, क्रियापद, समस्तपद, श्रुति, स्मृति, सब मिल जायँ, आनुपूर्वी पाठ भी यदि इन दोनों ग्रन्थोंका सम हो तो यह आनन्दभाष्यभी प्रतिपद अशुद्ध, उत्सूत्र, और बाललीलाविलसित सिद्ध होगा या नहीं? किसी भी आग्रही बन्धुने मेरे उस लेखका उत्तर नहीं दिया।

इसी तत्त्वप्रकाशिका की भूमिकामें पं० श्रीरघुवरदासजीने लिखा है कि "इस आनन्दभाष्यकी एक हस्तलिखित पुस्तक जो बहुत अशुद्ध नहीं थी, और जिसके कितने ही स्थलोंसे अक्षर उड़ गये थे, हमारे गुरुने, जिनको कश्मीरमें रहनेका रस लगा था, मुझे दिया। उस समय मैं न्याय-वेदान्तादि पढ़नेमें लगा था अतः अपने गुरुके ही बड़े भारी पुस्तकालयमें उसे रख दिया।"

पण्डित श्री रघुवरदासजीने जन्मभर अपने गुरुस्थानको छिपानेका प्रयत्न किया है। इसका कारण यह था कि यह स्वयं धनाढ्य महन्त थे और उत्तम विद्वान् थे। इनके गुरुजी साधारण स्थितिके और साधारण विद्या सम्पन्न महान्त थे। इन्होंने अपने इस लेखमें न तो अपने गुरु या आचार्यका नामोल्लेख किया और न स्थान-मन्दिरनामनिर्देश किया है। यदि गुरुजी कश्मीरमें रहनेके रसिक थे और उनका बड़ा भारी पुस्तका-लय था तो वह किसी मन्दिरमें ही रहते होंगे, या किसी आश्रममें रहते होंगे। उस मन्दिर और उस आश्रमका नाम तो बताना चाहिये। बहुत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बड़े पुस्तकालयके लिये छोटा मन्दिर तो अवश्य ही अनुपयुक्त है। उन्होंने कोई नाम-ग्राम नहीं लिखा है। वस्तुतः वह कश्मीरमें रहते ही नहीं थे। कश्मीरमें उन्हें न तो कोई सन्तमहान्त जानते हैं और न वहाँ के कोई प्रतिष्ठित विद्वान् जानते हैं। यह कथा अनादिकालकी तो है ही नहीं। ३२ या ३५ वर्षोंसे अधिककी यह बात ही नहीं है। तब यह भी तो नहीं पता लग रहा है कि वह परमगरीयान् आचार्य पुस्तकालय गया कहाँ? यह सब बातें कल्पित हैं। उनके गुरुजी या आचार्यजी महान्त श्री हनुमानदासजी सौराष्ट्रके चीतल ग्राममें एक छोटेसे महान्त थे। सुदामापुरी जाते समय चीतल रेलवे स्टेशन आता है। वहाँ ही वह रहते थे। पण्डित श्री रघुवरदासजी वहाँ ही, उसी ग्राममें, उन्हीं महान्त-जीके बाल्यावस्थामें शिष्य बने थे। अन्तमें वह पिपठिषु होकर अयोध्या गये थे और वहाँ बड़ा स्थान के श्री बिन्दुगाद्याचार्य दिवङ्गत स्वामी श्री राममनोहरप्रसादाचार्यजी महाराजकी कृपासे बड़ा स्थानमें ही रहकर विद्याध्ययन करने लग गये थे। थोड़ा सा व्याकरण और मीमांसा पढ़ाकर स्वामी श्रीराममनोहरप्रसादजी महाराजने उन्हें मुज़फ्फरपुर न्याय पढ़नेको भेज दिया था। अयोध्याके बड़ा स्थानके आचार्यचरण श्रीराममनोहरप्रसादजी महाराजने ही उन्हें विद्वान् भी बनाया था और प्रतिष्ठित भी।

अस्तु, सत्य बात तो इतनी ही है कि यह आनन्दभाष्य श्रीजानकी-भाष्यका ही संक्षिप्त स्वरूप है। श्रीजानकीभाष्यकी श्रीरघुवरदासजीने निन्दाकी है और उसके प्रणेता स्वामी रामप्रसादजी महाराजके लिये अपशब्द-प्रयोग किया है वह तो उनके ही गुण-दोष के परिचायक हैं। अच्छा आदमी न किसीको गाली देता है और न किसीकी निन्दा करता है।

आज मैं उस कृत्रिम आनन्दभाष्यको उसके वास्तविक स्वरूप में ले जा रहा हूँ। जिसको कुछ लोगोंने आनन्दभाष्य कहा और लिखा है

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तथा अन्योंसे कहलाया और लिखाया है उसी ग्रन्थको मैं "श्री जानकी भाष्यका संक्षिप्तसार" यह नाम दे रहा हूँ। यही सत्य है। यही उचित है। यही न्याय है और यही ग्राह्य है। आजसे यह आनन्दभाष्य समाप्त होता है। सबको, सब विद्वानोंको, सब आचार्योंको, सब साम्प्रदायिकोंको आजसे यह जान लेना चाहिये कि स्वामी रामानन्दजी महाराजका बनाया हुआ वेदान्तदर्शनपर आनन्दभाष्य अभी तक दुष्प्राप्य है। वह अब दुष्प्राप्य ही रहेगा। मैंने भी आनन्दभाष्यके सम्बन्धमें झूठी-सच्ची बातें लिखी हैं, कही हैं, उनका भी आजसे अन्त हो रहा है। स्वामी श्री रामप्रसादजी महाराजके श्रमको छिपा दिया गया था, वह आज प्रकट हो रहा है। श्री रामानन्द सम्प्रदायपर इस जानकीकृपाभाष्यके द्वारा उनका जो महान् उपकार है, उसे भुला देनेका प्रयत्न किया गया था परन्तु वह सब प्रयत्न आजसे निष्फल हो रहे हैं। किसीके उपकारको भुला देनेमें निरी राक्षसता है।

श्रीजानकीकृपाभाष्यको आनन्दभाष्य बनानेमें पण्डित रघुवरदासजी को क्या-क्या उलट-फेर करना पड़ा था उसका थोड़ासा यहाँ विवरण देना उचित भी है और उत्तम भी है। विद्वत्पाठक ध्यानसे इसका निरीक्षण करेंगे, ऐसी आशा है।

१—श्रीमद्रामप्रसादाचार्य विरचितं शारीरकमीमांसायाः श्रीजानकी-भाष्यम् के स्थानपर श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचितं शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्यम् लिखा गया।

२—श्रीजानकीभाष्यमें मङ्गलाचरणके सात अनुष्टुप् छन्दमें श्लोक हैं जो निम्नलिखित हैं—

श्रीरामाख्यं परं ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणम्।
स्वभक्तैध्ययमाप्यं च वन्दे दिव्यगुणाकरम् ॥१॥
श्री रामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनीम्।
तां सृष्टिस्थितिसंहारकारिणों सर्वदेहिनाम् ॥२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सीतां स्वादिगुरुं वन्दे शरणागतवत्सलाम् ।
यत्परम्परया लब्धो मन्त्रोस्माभिः षडक्षरः ॥३॥
वेदवेदान्तगुह्यार्थो यत्कृपातः प्रकाशते ।
तं सर्वनिगमाचार्यं हनूमन्तं गुरुं भजे ॥४॥
सीतारामैकगतिकं सीतारामपरायणम् ।
सीतारामैकसंप्राप्यं स्वाचार्यं तुलसीं भजे ॥५॥
शब्दब्रह्मपरब्रह्मनिष्णातं सूत्रकारकम् ।
व्यासं सत्यवतीं सूनुं प्रणमामि पुनः पुनः ॥६॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे श्री रामं करुणानिधिम् ॥७॥

इन श्लोकोंकी विशेषताकी ओर भी ध्यान देना चाहिये। श्री रामानुजसम्प्रदायसे श्रीरामानन्दसम्प्रदायको जिस गुरुपरम्पराके आधारपर पृथक् किया गया था उसका इसमें संक्षेपमें उल्लेख है। गुरुपरम्पराके आदिमें श्री राम है। इस प्रथम श्लोकमें भी श्री रामका स्मरण है। परम्परामें रामके पश्चात् सीता आती हैं। यहाँ भी द्वितीय और तृतीय श्लोकसे श्री सीताका स्मरण हुआ है। परम्परामें सीताके शिष्य श्री हनुमान् निर्दिष्ट हैं। यहाँ भी चतुर्थ श्लोकसे श्रीहनुमान्‌जीका स्मरण किया गया है। गुरुपरम्परामें व्यासजी भी पठित हैं, यहाँ भी षष्ठ श्लोकमें व्यासजीका स्मरण है। श्रीरामानन्दसम्प्रदायाचार्य श्री रामानन्दस्वामीजीको पाँचवें श्लोकमें स्वाचार्यम् कहकर स्मृत किया गया है। गुरुपरम्पराका मूल सौ वर्षोंसे सम्प्रदायमें प्राप्त है, यह सिद्ध करनेके लिये उत्तम साधन श्रीजानकीभाष्यकारने यहाँ उपस्थित कर दिया है। परिवर्तनकार (पण्डितरघुवरदासजी) ने इन सात श्लोकोंके बदले निम्नलिखित दो श्लोक रखे हैं—

यस्माद्विश्वमुदेति येन लभते संरक्षणं शाश्वतं,
यस्मिन्नप्ययमेति यो हि सततं कारुण्यवारां निधिः ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यः कल्याणगुणाकरस्त्रिजगतः श्रेयः परं प्रापक-
स्तं ब्रह्मार्चितपादपद्मयुगलं रामाख्यमीशं नुमः ॥१॥
श्रीरामाख्यं परं ब्रह्म सदाम्नायान्तदीपितम् ।
स्वभक्तैर्ध्येयमाप्यं च वन्दे दिव्यगुणाकरम् ॥२॥

इन दोनोंमें से प्रथम श्लोक तो उनका है और द्वितीय श्लोक श्री जानकीभाष्यका है। केवल द्वितीय चरणमें जगज्जन्मादिकारणम् के स्थानपर सदाम्नायान्तदीपितम् लिख दिया है। इसके बदलनेमें हेतु स्पष्ट है। प्रथम श्लोकमें भी जगज्जन्मादिकारयता कहा गया है, द्वितीय श्लोकमें भी वही विषय रहे तो पुनरुक्त होता था। अतः बदल डाला।

(३) चतुःसूत्री पर श्रीजानकीभाष्यको परिवर्तित करनेमें बहुत बड़ा प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ सूत्रका तो परिवर्तनकारने सर्वथा ही नया भाष्य बना डाला है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु जानकीभाष्यमें वह विषय जहाँ-तहाँ आ ही गया है। नवीनता कुछ नहीं है। चतुस्सूत्रीके शेष तीन सूत्रोंपर भी कला दिखायी गयी है। प्रथम सूत्रके जानकीभाष्यके कितनेही अंश द्वितीय या तृतीयसूत्रके कल्पित आनन्दभाष्यमें रखे गये हैं। ऐसा भी किया गया है कि द्वितीय तृतीय सूत्रके जानकीभाष्यके कुछ अंश प्रथमसूत्रके कल्पित आनन्दभाष्यमें रखे गये हैं। उदाहरणके लिये मैं कुछ स्थल यहाँ निर्दिष्ट करता हूँ।

(क) जानकीभाष्यमें प्रथमसूत्रके भाष्यमें ही अद्वैतवादके अध्यासादितत्त्वोंका खण्डन किया गया है। कल्पित आनन्दभाष्यमें द्वितीयसूत्रके भाष्यमें वह खण्डन रखा गया है।

(ख) जानकीभाष्यमें अथ परा यया (मु० १।१।६) यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च (मु० १।१।७) "यथा पृथिव्याम्०" "तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" "एतस्माज्जायते प्राणः०" (मु० २।१।३) इत्यादि श्रुतियोंका उल्लेख करके लिखा गया है—इत्येवमादिश्रुति-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रतिपाद्यं निर्गुणं ब्रह्म यस्मिन् सर्वं चराचरं जगदध्यस्तमस्ति यच्चराचरात्मकजगत्कल्पनाधिष्ठानं सर्वकल्पनाधिष्ठानरज्जुवत् रजतकल्पनाधिष्ठानशुक्तिकावत् तन्निर्गुणं ब्रह्म जिज्ञास्यमित्यतो जगतो ब्रह्मण्यध्यस्तत्वज्ञानायाध्यासस्वरूपं वर्णयामासुः।

कल्पित आनन्दभाष्यमें भी यही सब श्रुतियाँ हैं और ये ही सब वाक्य और शब्द हैं। कहीं-कहीं परिवर्त्तन किया गया है। परन्तु ये सब प्रकरण प्रथमसूत्र से उठाकर द्वितीयसूत्रभाष्यमें रखा गया है।

(ग) जानकीभाष्यमें भी शङ्करभाष्यका उद्धरण दिया गया है और वे ही सब उद्धरण कल्पित आनन्दभाष्यमें भी उपस्थित हैं।

(घ) जानकीभाष्यमें प्रथमसूत्रभाष्यमें लिखा है—"निर्गताः प्राकृताः सत्त्वादयो गुणा यस्मात्तन्निर्गुणम्"। कल्पित आनन्दभाष्यमें जन्माद्यधिकरणमें लिखा गया—निर्गता निकृष्टाः सत्त्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणम्। जानकीभाष्यमें उसी स्थानपर लिखा है—निकृष्टगुणरहितत्वं निर्गुणत्वम्। कल्पित आनन्दभाष्यमें लिखा गया जन्माद्यधिकरणमें—"निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्"।

(च) जानकीभाष्यमें प्रथमसूत्रमें बहुत दूर जाकर अदृश्यम् इत्यादि श्रौतपदोंकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

अदृश्यम् अदृश्यम्। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" "क्षीयन्ते चास्य०" (मु. २।८) "एष सर्वेषु भूतेषु, दृश्यते त्वग्रया बुद्धया" (क० २।३।१२) इति तस्य सूक्ष्मदर्शिभिः सूक्ष्मया बुद्ध्या दृश्यत्वश्रवणात्।

कल्पित आनन्दभाष्यमें उपर्युक्त सभी श्रुतियाँ इसी क्रमसे लिखकर लिखा गया 'इत्यादौ स्वकण्ठरवेणैव तस्य दर्शनीयत्वप्रतिपादनात्। अतोऽदृश्यमित्यस्य स्थूलबुद्धया द्रष्टुमशक्यम्। लौकिकप्रत्यक्षाविषयमिति यावत्। सूक्ष्मबुद्धिविषयत्वं तूदाहृतश्रुत्यनुरोधेन वर्तत एवेति भावः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(छ) 'अग्राह्यम्' की व्याख्या जानकीभाष्यमें यों है—अपरिच्छिन्नत्वेनातिसूक्ष्मत्वेन चाकाशवदग्राह्यमित्यर्थः। कल्पित आनन्दभाष्यमें यही आनुपूर्वी उपस्थित है।

(ज) 'अगोत्रम्' की व्याख्यामें जानकी भाष्यमें लिखा है—स्वसमानद्वितीयब्रह्माजनकत्वात् पुत्रपौत्रादिपरम्पराया अप्रवर्तकत्वाद्वागोत्रमवंशमित्यर्थः। कल्पित आनन्दभाष्यमें भी यही आनुपूर्वी उपस्थित है।

(झ) 'अवर्णम्' की व्याख्यामें जानकीभाष्यमें लिखा है—ब्राह्मणादिवर्णरहितं प्राकृतनीलश्वेतादिवर्णरूपरहितं वा। कल्पित आनन्दभाष्यमें भी यही आनुपूर्वी उपस्थित है परन्तु द्वितीयसूत्रभाष्यमें।

चतुःसूत्रीसे आगेका जानकीभाष्य प्रायः ज्योंका-त्यों कुछ घटा-बढ़ाकर कल्पित आनन्दभाष्यमें रखा गया है। विद्वानोंको चाहिये कि वह जानकीभाष्य और कल्पित आनन्दभाष्य दोनोंको एक साथ रखकर दोनों पढ़ें। तब यह अवश्यही निश्चय होगा कि जानकीभाष्यको ही आनन्दभाष्य नाम दिया गया है। अन्तर इतना ही है कि जानकीभाष्य छोटे पतले अक्षरोंमें रायल ८ पेजी साइज़में ५९७ पृष्ठोंमें पूरा हुआ है और कृत्रिम आनन्दभाष्य डेमी ८ पेजी साइज़ व ४३२ पृष्ठोंमें स्थूल अक्षरोंमें पूरा किया गया है।

कितने ही बुद्धिभूधर महाशय कहते हैं कि इस आनन्दभाष्यके आधारपर श्रीरामप्रसादस्वामीजीने जानकीभाष्य लिखा है और अपने आचार्य रामानन्दके शब्दों, पदों, समस्तपदोंको ज्योंका-त्यों रख लिया है। ऐसे महाविद्वानोंके लिये एक ही उत्तर पर्याप्त है—यदि रामानन्दस्वामी की कीर्ति बढ़ानेके लिये ही जानकीभाष्य लिखा गया है और आनन्दभाष्यके पद-पदार्थ ले लिये गये हैं तो रामप्रसादजी महाराज इस आनन्दभाष्यका ५९७ पृष्ठोंमें कहीं भी तो नाम लेते। यदि आनन्दभाष्य जैसी कोई भी वस्तु अस्तित्वमें उस समय होती तो अवश्य ही वह परमादरके साथ उसका उल्लेख करते। ऐसा कहीं भी जानकीभाष्यमें किया नहीं गया है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अतः यह कहना कि आनन्दभाष्य रामानन्दाचार्यका ग्रन्थ है, रामप्रसादजी भी रामानन्दीय थे अतः उन्होंने अपने आचार्यके शब्दों, पदोंको ले लिया और आनन्दभाष्यसे अधिक ग्रन्थ लिखकर आनन्दभाष्यका ही विस्तार किया, सर्वथा मूर्खतापूर्ण और अविवेकपूर्ण है।

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदीकी एक टीका तत्त्वबोधिनी है। वह टीका अधिकांशमें मनोरमाका ही सार है। असत्यताका समादर करनेवाले लोग कहते हैं कि जैसे तत्त्वबोधिनीकारने मनोरमाके शब्द और भाव ले लिये और वह अनुचित और अप्रमाणिक नहीं माना गया वैसे ही जानकीभाष्यमें आनन्दभाष्य शब्द, पद, धातु आदि और अक्षर-अक्षर पङ्क्ति और वाक्य ले लिये गये, उनमें कुछ वृद्धि की गयी, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। इसपर मुझे दो बातें कहनी हैं—१. अनुचितका अर्थ पाप तो नहीं है। चोरी करनेवालोंको गलित कुष्ठ तो हो ही नहीं जाता। अप्रतिष्ठा होती है, अनुकरणकर्ता और चोर वह माने जाते हैं। अतः असत्यताके पक्षपाती भी यह तो कहते ही हैं कि मनोरमाका ही रूपान्तर तत्त्वबोधिनी है। इतना कलङ्क तो सदाके लिये ही तत्त्वबोधिनीकारके विशाल मस्तकमें लगा हुआ है ही। २. तत्त्वबोधिनीकार टीकाकार हैं भाष्यकार नहीं हैं। टीकाकार और भाष्यकार की मर्यादामें बहुत बड़ा अन्तर होता है।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्य भाष्यविदो विदुः॥

इस भाष्यलक्षणके अनुसार भाष्यकारको अपने पदोंका भी वर्णन-विवरण करना पड़ता है। सूत्रार्थ लिखना पड़ता है। तत्त्वबोधिनीमें ऐसा नहीं हुआ है। वहाँ तो अप्रतिपत्त्यादिनिवारणप्रयोजनक तत्समानार्थक-पदान्तरसे सविस्तर तत् तत् पदों वाक्योंका अर्थ कथन हुआ है। टीका, व्याख्या, व्याख्यान ये तीनों शब्द समानार्थक हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपोथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम् ॥

यह व्याख्यानका लक्षण है। तत्त्वबोधिनी टीका है, व्याख्या है, व्याख्यान है। अतः उसके साथ श्रीजानकीभाष्यकी तुलना नहीं करनी चाहिये।

शुक्लयजुर्वेदपर सायणका भी भाष्य है और महीधरका भी। सायणभाष्य आज उपलब्ध नहीं है। महीधरभाष्य उपलब्ध है। महीधरने आरम्भमें ही उपकार स्मरण करते हुए कह दिया है कि—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं विलोक्यौवटमाधवीयम्।
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं परोपकाराय निजेक्षणाय ॥

"मैं उव्वट और माधव (सायण) के भाष्यको देखकर यजुर्वेदके मन्त्रोंका अर्थ लिखता हूँ।" यदि उस समय आनन्दभाष्यका नामोनिशान होता तो श्रीरामप्रसादजी महाराज भी ऐसा ही अवश्य करते; क्योंकि कल्पित आनन्दभाष्यके पक्षपाती लोग इतना तो मानते ही हैं कि स्वामी रामप्रसादजी महाराज रामानन्दस्वामीको अपना आचार्य मानते थे। इसीलिये उन्होंने अपने मङ्गलाचरणके पाँचवें श्लोकमें स्वाचार्यम् लिखा है।

सच बात यह है कि अविवेकियोंने, क्रूर हृदयवालोंने, सत्य-असत्यमें तनिक भी भेद न समझनेवालोंने श्री रामप्रसादजीमहाराजके श्रमको, उनके उपकारको, उनकी विद्वत्ताको मट्टियामेट करनेका बीड़ा उठा लिया है। 'उलटा चोर कोतवालको डाटे' वाली बात हुई है। चोरी करे आनन्दभाष्य और डाटा जाय श्रीजानकीभाष्य।

सबसे बढ़कर बात तो यह है कि अनेकों बार कहनेपर भी आज तक किसीने आनन्दभाष्यकी वह प्रति नहीं दिखायी जिसपर से उत्कृष्टप्रेस अहमदाबादमें यह कल्पित आनन्दभाष्य छापा गया है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इससे बढ़कर, इस आनन्दभाष्यके कल्पित होनेमें दूसरा प्रमाण नहीं मिलेगा।

इस प्रस्तुत आनन्दभाष्यकी कृत्रिमताके सम्बन्धमें मैंने तत्त्वदर्शीमें, रामानन्द पत्रिकामें, अपने अनेक पुस्तकोंमें, संस्कृतम् में बहुत कुछ लिखा है। बहुत वर्षों पूर्व कल्याणके सम्पादकने भी पं० वैष्णवदासजीके एक लेखपर टिप्पणि करके इसे अप्रामाणिक बताया है। यह कल्पित आनन्दभाष्य जब तक अस्तित्वमें रहेगा तबतक आचार्य श्री रामानन्द स्वामीजीकी प्रतिष्ठा भयमें ही रहेगी। जब तक संसार रहेगा तबतक इसकी प्रामाणिकतामें सन्देह बना ही रहेगा। अतः आग्रही बन्धुओंसे मेरा आग्रहपूर्वक कथन है कि वह पापसे बचने और अन्योंको बचानेके लिये इस कल्पित आनन्दभाष्यका आग्रह छोड़ दें और किन्हीं प्राचीन पुस्तकालयोंमें दूसरे सच्चे आनन्दभाष्यको ढूँढ़ने लग जायँ।

पं० रघुवरदासजीने लिखा है कि जानकीभाष्य प्रतिपद अशुद्ध है, उत्सूत्र है, अपार्थक है और बाललीलाविलसित है। पाठक देखेंगे ही कि यह कल्पित आनन्दभाष्य जानकीभाष्यसे अलग नहीं जा रहा है तो यह आनन्दभाष्य भी प्रतिपद अशुद्ध, उत्सूत्र, अपार्थक और बाललीलाविलसित क्यों नहीं ?

पं० रघुवरदासजीने यह भी लिखा है कि किसीने वेदान्तसूत्रोंका उल्लेख करके उसकी टीकाके बहानेसे उपनिषद् और गीताके वाक्योंको उद्धृत करके जानकीभाष्यके नामसे उसे प्रसिद्ध किया है। कोई विद्वान् देख सकेंगे कि जानकीभाष्यमें जो उपनिषद्वाक्य अथवा गीतावाक्य उद्धृत किये गये हैं वे ही वाक्य इस कल्पित आनन्दभाष्यमें भी उपस्थित हैं।

पं० रघुवरदासजीकी विद्वत्ताकी रूपरेखाको पहचाननेके लिये उनके इस लेखको पढ़िये—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"पुनरयोध्यायामेव कस्मिंश्चिद्वैष्णवमन्दिरेप्येकं पुस्तकमस्तीति श्रुतमस्माभिः, परं न दृष्टम्। एतदुपक्रम्य मन्मित्रेण दृष्टतद्ग्रन्थेनाभ्यधायि यन्न तद्रामानन्दभाष्यमपि....."

"मैंने सुना कि अयोध्यामें ही किसी वैष्णवमन्दिरमें एक पुस्तक (रामानन्दभाष्यपुस्तक) है, परन्तु मैंने नहीं देखा। इसके आधारपर मेरे मित्रने उस ग्रन्थको देखा और कहा कि वह रामानन्दभाष्य नहीं है किन्तु (जानकीभाष्य है)।"

यहाँ विचार करना है कि प० रघुवरदासजी अयोध्यामें ही रहते थे। सब स्थानोंसे परिचित थे। वह पुस्तक जिस स्थानमें रहा होगा और जिस स्थानमें उनके मित्रने उसे देखा होगा, उस स्थानका नाम न तो वह स्वयं ले रहे हैं और न उनके मित्र ही ले रहे हैं। इसका कारण क्या है ? इतना ही नहीं, वह अपने उस मित्रका नाम भी नहीं ले रहे हैं। इसमें भी तो कुछ कारण होना चाहिये। उन कारणोंको मैं बताता हूँ। वह जानकीभाष्य—पुस्तक किसी अप्रसिद्ध स्थानमें नहीं थी। जानकी घाट जैसे परमप्रसिद्ध स्थानमें थी। उस स्थानका यदि नाम लेकर वह ऐसा अनर्गल लेख लिखते तो वह जेल की हवा खाते। एवं यदि वह उस भाष्यके कर्ता स्वामी रामप्रसादजी महाराजका नाम लेकर उनको गाली देते तो भी वह जेल में ही पहुँचाये जाते। एवं यदि अपने मित्र महाशयका भी वह नाम लेते तो उनकी विपत्तिका पार न होता। अतः सब गोल-गोल लिखकर पापका पहाड़ तैयार किया और उसे अपने ऊपर उठा लिया।

एक बात और कह दूँ। जिस हस्तलिखित पुस्तकके आधारपर यह कल्पित आनन्दभाष्य तैयार किया गया है उसमें प्रत्येक पादके अन्तमें लिखा हुआ है—

"इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञवैष्णवप्रवर-श्रीसम्प्रदायाभिवर्धक श्रीमद्रामानन्दीयाचार्य्यश्रीरामप्रसाद-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वामिकृते ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पाद" इत्यादि।"

यहाँ पर ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्ये ये दो पद विचारणीय हैं। रामप्रसादस्वामीजीके भाष्यका नाम ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप है या श्रीजानकीकृपाभाष्य है? यह शङ्का किन्हीं लोगोंकी है। उत्तर यह है कि रामप्रसादस्वामीजीके रचे हुए ब्रह्मसूत्रके भाष्यका नाम श्रीजानकीकृपाभाष्य है, ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप नहीं। यह तो श्रीजानकीकृपाभाष्य का विशेषण है। अर्थात् अबतक ब्रह्मसूत्रपर जितने भाष्य हुए हैं उनका दीपक समान यह श्रीजानकीभाष्य है। सर्वभाष्यश्रेष्ठ कहनेमें तात्पर्य है।

एक और विचारणीय प्रश्न है। मैंने आनन्दभाष्यका चतुर्थाध्याय अपने हिन्दी भाषानुवादके सहित संवत् १९८९ वि० में मुद्रित कराया था। इतना ही नहीं उसपर एक देवानन्दस्वामीके नामसे प्रमिताक्षरावृत्ति भी प्रकाशित की थी। लोगोंका प्रश्न यह है कि तुमनेभी उस ग्रन्थको आनन्दभाष्य ही कहा है, समर्थित किया है, आज उससे विपरीत क्यों बोलते हो? मेरा उत्तर यह है कि सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्—सत्यकी नाव सत्कर्मा पुरुषको पार ले जाती है। मनुष्य जो कुछ जब करता है उसके लिये वह काल, वह परिस्थिति उसमें कारण होती है। उस समय तक मुद्रित जानकीभाष्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। मैं जानता भी नहीं था कि वह भाष्य मुद्रित हो चुका है। मेरा चतुर्थाध्याय-आनन्द भाष्य संवत् १९८९ में प्रकाशित हुआ था और श्रीजानकीभाष्य भी संवत् १९८९ वि० में प्रकाशित हुआ था।

मैंने उत्कृष्टमुद्रणालय अहमदाबादमें मुद्रित आनन्दभाष्यके आधारपर ही उसका प्रकाशन किया था। उस समय मैंने उस ग्रन्थमें मुद्रित पण्डित श्री रघुवरदासजीकी भूमिका नहीं पढ़ी थी। पढ़नेके लिये उसमें कोई नयी सामग्री नहीं थी। अतः मैंने उसकी उपेक्षा की थी। मुझे मुद्रित आनन्दभाष्य संवत्·····में प्राप्त हुआ और संवत्·····में मैंने

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अविलम्ब तत्त्वदर्शी में उसका विरोध किया। विरोधके कारण केवल दो थे—एक तो यह कि जब जानकीभाष्य छप ही चुका है तो उसके कर्ताका नाम विलुप्त करना अमानवीय कृत्य बन जायगा। किसीकी कीर्तिका संरक्षण करना ही तद्वंशजोंका परमधर्म हुआ करता है। दूसरा कारण यह था कि जानकीभाष्य ही तो आनन्दभाष्य है। दोनोंकी भाषा तथा विचार, प्रमाणावतरण सब समान ही हैं। तब यही कहा जायगा कि यह आनन्द-भाष्य जानकीभाष्यकी कतरन है। मेरी दृष्टिसे रामानन्दस्वामीके नामपर यह कलङ्क लगता है। जब तक आनन्दभाष्यको जन्म नहीं दिया गया था, उसके बिना भी रामानन्दसम्प्रदायके स्थापक स्वामी रामानन्दकी विद्वज्जगत्में पूर्ण प्रतिष्ठा थी। आनन्दभाष्य प्रतिष्ठावृद्धिके लिये ही स्वामी रामानन्दके नामसे तैयार किया गया था। परन्तु यदि वह प्रतिष्ठाविघातक सिद्ध हो तो आचार्यकी प्रतिष्ठाकी रक्षाको आदर्श बनाकर उसका विलोप करना चाहिये। मैंने इन्हीं दो कारणोंसे उस आनन्दभाष्यका विरोध किया और अब तक करता आ रहा हूँ। लेकिन जब मैंने देखा कि आनन्द-भाष्यको रामानन्दस्वामीकी कृति बताकर उसपर टीलाजी और मङ्गलदास-जी की वृत्ति, टीका—टिप्पणीकी निराधार बातें फैलायी जा रही हैं और रामप्रसादजीका नाम और श्रम विलुप्त किया जा रहा है तब सम्प्रदायको असत्य और अन्यायके खड्डेमें गिरनेसे बचा लेना मेरा कर्तव्य मुझे प्रतीत हुआ। ऐसा ग्रन्थ आचार्यके नामपर क्यों होना चाहिये जिसके विषयमें प्रलयान्त सन्देहकी दृष्टि विद्वानोंकी बनी रहे? अतः मैंने जिसे अपने हिन्दी भाषा-नुवादसहित मुद्रित कराया था वह चतुर्थाध्याय भी आनन्दभाष्य नहीं है, वह भी श्रीजानकीभाष्यका ही संक्षिप्त स्वरूप है। उस ग्रन्थमें जो देवा-नन्दस्वामीजीके नामसे प्रमिताक्षरावृत्ति प्रकाशित है, वह मेरी बनायी हुई वृत्ति है। मैं सम्प्रदायको आगे बढ़ाना चाहता था, आज भी चाहता हूँ। उस समय मुझे अप्रामाणिक साधनोंमें विश्वास था अतः मैंने अप्रामाणिक मार्गका ग्रहण कर लिया था। अब मुझे यह अनुभव हुआ कि अप्रामा-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

णिक मार्गसे जाने पर भी यह सम्प्रदाय आगे नहीं बढ़ा। उस कल्पित आनन्दभाष्यका भी न कोई अध्यापक मिला और न कोई अध्याप्य। प्रमिताक्षरावृत्तिकी भी वही दशा हुई है। मैं जानता हूँ कि दूर भविष्यमें तत्त्वान्वेषी विद्वान् यही सिद्ध करेंगे कि यह आनन्दभाष्य कल्पित है और यह प्रमिताक्षरावृत्ति भी कल्पित है। बहुत देरमें इन ग्रन्थों की छीछालेदर हो उससे अच्छा है कि उसके सत्यस्वरूपको स्वयं प्रकट करके सब भूत और भावी कलङ्कोंको मिटा दिया जाय।

सत्यका स्वीकार करलेने पर किसी सम्प्रदायकी या किसी व्यक्तिकी प्रतिष्ठा नहीं जाती है प्रत्युत प्रतिष्ठारक्षण होता है। असत्य वस्तुको पकड़ रखने पर जन्मभर और प्रलय तक नये-नये असत्यों को जन्म देना पड़ता है तभी स्वीकृत असत्य का अत्यल्पकालके लिये रक्षण होता है। सदा असत्य ही बोलना पड़े, सदा पाखण्ड ही करना पड़े, सदा आत्मवञ्चना ही करनी पड़े, यह किसी भी सम्प्रदायके लिये प्राणघातक कार्य है। अतः सत्यं वद, सत्यान्नास्ति परो धर्मः, सत्ये नास्ति भयं क्वचित्, सत्यमेव जयते नानृतम् इत्यादि वाक्यों और उपदेशोंको जीवित रखनेमें ही रामानन्द् सम्प्रदायका कल्याण है। इस अनुपम तत्त्वको हमारे बन्धु सोचें, समझें, मानें, इसीमें उनका और सम्प्रदायका कल्याण है।

अब एक अन्य आवश्यक बात कहकर इस प्रस्तावनाको समाप्त करूँगा। श्रीजानकीभाष्यको संक्षिप्त करके आनन्दभाष्य बनानेवाले पण्डित श्री रघुवरदासजी ही थे। उन्होंने जानकीभाष्यकी निरर्थक अत्यन्त भर्त्सना की है। उन्हें जानकीभाष्यकार की वन्दना करनी चाहिये थी, शत-शतवार साष्टाङ्ग प्रणिपात करना चाहिये था, उन्होंने ऐसा न करके उनके लिये अनुचित शब्दप्रयोग किया—'मन्यामहे श्रेयोनिधानमिदमेवानन्दभाष्यं मूलतो विपर्यस्य ख्यातिसतृष्णः कश्चिद्रचयांचकार दुर्वचस्चीवरचणामिमां ग्रन्थकन्थाम्। अर्थात्—मैं मानता हूँ कि मङ्गलमय

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसी आनन्दभाष्यको मूलसे उलट-पलट कर इधर-उधर करके किसी-ने इस ग्रन्थकन्था को तैयार किया है जिसमें दुर्वचचीवर भरे पड़े हैं। पण्डित श्री रघुवरदासजीने यह लिखकर बड़ा भारी पाप किया है। जिस ग्रन्थ-के लिये यह लिखते हैं कि "मैंने देखा नहीं है" उस ग्रन्थके विषयमें अनवलोकित ग्रन्थके विषय में ऐसी अनर्गल सम्मति देना बड़ा भारी अन्याय्य कार्य है। मुझे अच्छा यही लगा कि मैं उनके नामको जीवित रहने दूँ और इस कल्पित आनन्दभाष्यको यमराजके हवाले कर दूँ। अतः संक्षिप्तकर्ता का नाम उनका ही रहने दिया है। इससे उनका मोक्ष हो जायगा। उनके अक्षम्य पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा।

पण्डित श्री रघुवरदासजी ने, जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है चतुःसूत्री-के जानकीभाष्यमें तुम्बाफेर बहुत किया है। मैंने उसे सुधार कर श्री-जानकीभाष्यके क्रमसे ही यहाँ रखा है। एवम् कामाच्च नानुमानापेक्षा १।१।१९। इस सूत्रके भाष्यकोभी उन्होंने बिगाड़ा है, उसे भी मैंने जानकीभाष्य के अनुगुण ही रखा है।

भूत तो वह कि जो सिरपर चढ़कर बोले। पण्डित श्रीरघुवरदासजी-ने कल्पित आनन्दभाष्यमें कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १।१।१९॥ इस सूत्र के भाष्य में—

"ये त्वनुमीयत इत्यनुमानमनुमानगम्यं प्रधानं तस्य नापेक्षा परमात्मन आनन्दमयस्य जगत्सर्गेपेक्षा नास्तीत्यर्थः। कुतः? कामात्। सोऽकामयत बहुस्यामित्यारभ्येदं सर्वमसृजतेत्यादौ काममात्रेण जगत्सृष्टिश्रवणादित्याहुः" इतना पाठ उद्धृत करके आगे खण्डन किया है—'तन्नोपपद्यते'। मैं विश्वभरके विद्वानोंको आमन्त्रण देता हूँ इस विचारके लिये कि यह उद्धृत पाठ किस ग्रन्थका है बताया जाय। श्रीभाष्य में यह पाठ है नहीं। शाङ्करभाष्य में भी यह पाठ नहीं है। अन्य किसी भी सम्प्रदायाचार्यके भाष्य में यह पाठ नहीं है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तब यह पाठ आया कहाँ से ? इसका उत्तर तो मैं ही दे सकता हूँ। उसे आप सब विचारक विद्वान् सुनें। श्रीजानकीभाष्य में इसी सूत्र के आरम्भ में उपर्युक्त उद्धृत पाठ उपलब्ध है। देखिये—

अनुमीयते इत्यनुमानमनुमानगम्यं प्रधानं तस्य नापेक्षा परमात्मन आनन्दमयस्य जगत्सर्गेपेक्षा नास्तीत्यर्थः, कुतः ? कामात्। 'सोऽकामयते" त्यारभ्य "इदं सर्वमसृजते" ति काममात्रेण जगत्सृष्टिश्रवणात्।'

इस उद्धरणमें पण्डित श्री रघुवरदासजीने केवल सोऽकामयते' त्यारभ्य के स्थानमें सोऽकामयत बहु स्यामित्यारभ्य ऐसा लिखा है। अर्थात् श्रुति को थोड़ा सा पूर्ण किया है। एवम् 'इदं सर्वमसृजतेति' के स्थानमें 'इदं सर्वमसृजतेत्यादौ" लिखा है। यहाँ केवल आदौ पद बढ़ा दिया है। अब नये रूपसे विद्वद्वर्ग विचार करें कि श्री रघुवरदासजी कहते हैं कि मैंने जानकीभाष्यको देखा नहीं है, यदि उन्होंने उसे देखा नहीं था तो उसके आनुपूर्वी वाक्योंको लेकर ये तु कहकर खण्डन कैसे किया ? अतः पाठक महानुभाव समझ लें कि किस दुर्भाव, छल, कपट, द्वेष, वञ्चनाके साथ जानकीभाष्यको बिगाड़ा गया है और कृत्रिम आनन्दभाष्यको उपस्थित किया गया है।

श्री रघुवरदासजी कहते हैं कि इसी आनन्दभाष्यको उलट-पुलट करके जानकीभाष्य बनाया गया है। मैं कहता हूँ कि जगत्में आनन्दभाष्यका कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा है और न आज है। यदि यही आनन्दभाष्य है तो मैं कहता हूँ कि यही संक्षिप्त श्रीजानकीभाष्य है। इसको संक्षिप्त करनेका अब तक स्वामी रघुवरदासजीके नामपर कलङ्क था। आज मैं उसे धो देता हूँ और उन्हें इस विद्वत्तापूर्ण कार्य के लिये इस श्रेयका भागी बनाता हूँ। वह मेरे मित्र थे। कभी अनन्य मित्र थे। मैं अपने मित्रके कलङ्कको सुकृतके रूपमें परिणत करता हूँ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह बात तो अब किसीसे भी अविदित नहीं है कि श्रीरामानुज सम्प्रदायसे श्रीरामानन्दसम्प्रदायको पृथक् करनेका यशोभाक् केवल मैं हूँ। मेरे परमविरोधी श्रीरामटहलदासजीने भी मेरा लोहा मान लिया है। सहायक मेरे अनेक थे, इसका अस्वीकार नहीं कर रहा हूँ। दोनों सम्प्रदायोंको पृथक् करनेमें जो भावना मुझमें काम कर रही थी उसका साक्षी केवल मैं ही बन सकता हूँ, अन्य नहीं। मैं चाहता था कि रामानुजसम्प्रदायके साथ श्रीरामानन्दसम्प्रदायका कहीं भी ऐसा संगम न हो जाय जो ऐक्यका सम्पादक हो। इस दिशामें मेरा जो प्रयत्न रहा है वह मेरे अनेक ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है।

आनन्दभाष्यवादियोंका कहना यह है कि जब सम्प्रदाय पृथक् है तो प्रस्थानत्रयीका भाष्य भी पृथक् होना चाहिये। उनका कथन यह भी है कि वह भाष्य आचार्य रामानन्दकृत ही होने चाहिये। मैं कहता आया हूँ कि आचार्यको प्रस्थानत्रयीपर भाष्य करना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। हम देखते हैं कि श्रीरामानुजस्वामीने भी प्रस्थानत्रयीपर भाष्य नहीं किया है। श्रीवल्लभाचार्यजीने भी ऐसा नहीं किया है। श्रीनिम्बार्काचार्यने भी ऐसा नहीं किया है। तब यह कहा जा सकता है कि इन उपर्युक्त आचार्योंने प्रस्थानत्रयीपर नहीं, तो एकाध प्रस्थानपर तो भाष्य किया ही है। श्रीरामानन्दभाष्य भी किसी प्रस्थानपर होना ही चाहिये। मैं यह कहता आया हूँ कि आचार्य रामानन्दका समय भाष्य बनानेके अनुकूल नहीं था। इसकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं हुई। अतः उन्होंने भाष्य नहीं बनाया। यदि उन्होंने प्रस्थानत्रयीपर भाष्य नहीं लिखा तो सम्प्रदायका बिगड़ क्या जाता है? यह कहा जा सकता है कि प्रमाण-प्रमेयादिकी व्यवस्थाके लिये आचार्यचरणोंका अनुशासन अवश्य अपेक्षित है। परन्तु इसपर यह भी तो कहा जा सकता है कि आचार्यके आचार-विचारकी पर्यालोचनासे उनके अभिमत प्रमाण-प्रमेयादिकी सुव्यवस्था अब भी की जा सकती है। यह कार्य आजके

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विद्वान् भी कर सकते हैं। पुराणमित्येव न साधु सर्वम् का ध्यान क्यों नहीं रखा जाता। रामानन्दके अभिमत प्रमाण-प्रमेयादिको अत्यधिक स्पष्ट करनेके लिये आज अत्यधिक उत्तम काल उपस्थित है। असत्यका आश्रय सर्वथा त्याज्य होना ही चाहिये। कल्पितवस्तु अवस्थान और उत्थानका हेतु नहीं बन सकती। अस्तु।

जब सम्प्रदाय पृथक् है और उसके भाष्यादि भी पृथक् ही हैं, ऐसी धारणा बना ली गयी है तो उसमें इस बातका भी संनिवेश करना चाहिये कि जिसके साथ पार्थक्य हुआ है उसीके सम्प्रदायके या उसी सम्प्रदायके आचार्य के शब्द, पद, वाक्यादि रामानन्दभाष्यमें कहीं भी नहीं आने चाहिये। यदि कल्पित आनन्दभाष्यमें श्रीभाष्यके शब्द, पद, वाक्यादिकी आनुपूर्वी आ जाय अथवा किञ्चिन्मात्र परिवर्तित करके वही आनुपूर्वी रखी जाय तो इससे बढ़कर निर्लज्जता, मूर्खता और अदूरदर्शिता हो ही नहीं सकती। तब तो यही सबसे कहलाना और सुनना आनन्दभाष्यवादियोंको इष्ट होगा कि रामानन्द चोर थे और श्रीभाष्यसे भी चोरी करके अपना ग्रन्थकन्था उन्होंने तैयार कर लिया है। अभी तक तो मैं यही सिद्ध करता रहा हूँ कि वर्तमान आनन्दभाष्य श्रीजानकीभाष्यकी कतर-ब्योंत है। श्रीजानकीभाष्यको ही बिगाड़कर आनन्दभाष्य बनाया गया है। यही सत्य भी है। परन्तु इससे अधिक अन्याय और अविवेक तो तब सिद्ध होता है जब हम आनन्दभाष्यमें श्रीभाष्यकी भी पङ्क्तियां देखते हैं। उदाहरणके लिये नीचेके भाष्यों पर दृष्टिपात करें—

आनन्दभाष्य

"ननु अथैनं गार्हपत्योनुशशास" इत्यादिभिर्मध्येऽग्निविद्योपदेशात् कथमक्षिस्थानः परमात्मेति चेन्न। "तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति "य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इत्युपक्रमोपसंहारयोः श्रयमाणेन ब्रह्मशब्देन मध्य उपदिष्टाया अग्निविद्याया ब्रह्मवि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्याङ्गत्वावगमात् । एवं चाङ्गत्वेवगते सति फलानुकीर्तनमर्थवाद इति निश्चीयते । 'अपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति" इत्यादिश्रुत्यधिगतानां फलानामपि मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात् । न ह्यत्र मोक्षविरोधि किञ्चिदपि फलं श्रूयते । तत्र पापशब्दस्य ब्रह्मविद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकपापपरत्वं लोकशब्दस्य च ब्रह्मलोकप्राप्ति-मार्गभूताग्निलोकपरत्वमवगन्तव्यम् । अत एव ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य गतवति गुरावरुचिर्माभूदिति स्वपरिचर्यया परं सन्तोषमुपगताश्चा-भ्ययोन्तेवासिनमुपकोशलमुपचिकीर्षवो ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूताम-ग्निविद्यां चोपदिश्य "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति श्रुतेराचार्य एवास्मै संयद्वामत्वादिगुणकं ब्रह्म तदुपासनस्थान-मर्चिरादिकां गतिं चोपदिशत्विति मनस्याकलय्य साधुतमत्वप्राप्तये "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता 'इत्यूचुरिति" ॥ १ । २ । १५ ॥

अब आप इसी सूत्रका श्रीभाष्य देखें—

श्रीभाष्य

ननु अग्निविद्याव्यवधानात् 'कं ब्रह्म' इति प्रकृतं ब्रह्म नेह संनिधत्ते । तथाहि अग्नयः "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति ब्रह्मविद्यामुपदिश्य "अथ हैनं गार्हपत्योनुशशास" इत्यारभ्याग्नी-नामुपासनमुपदिदिशुः । न चाग्निविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति शक्यं वक्तुम् । ब्रह्मविद्याफलानन्तर्गततद्विरोधिसर्वायुःप्राप्तिसन्तत्यविच्छे-दादिफलश्रवणात् । उच्यते । "प्राणो ब्रह्म" "एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इत्युभयत्र ब्रह्मसंशब्दनात् 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इत्यग्निवचनाच्च गत्युपदेशात्पूर्वं ब्रह्मविद्याया असमाप्तेस्तन्मध्यगताग्निविद्या ब्रह्मवि-द्याङ्गमिति निश्चीयते । "अथ हैनं गार्हपत्योनुशशास" इतिब्रह्मविद्या-धिकृतस्यैवाग्निविद्योपदेशाच्च । किं च व्याधिभिः प्रतिपूर्णोस्मि" इति ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तनानाविधकामोपहतिपूर्वकगर्भजन्मजरामरणादि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भवभयोपतप्तायोपकोसलाय "एषा सोम्य तेस्मद्विधात्मविद्या च "इति समुच्चित्योपदेशान्मोक्षैकफलात्मविद्याङ्गत्वमग्निविद्याया: प्रतीयते। एवं चाङ्गत्वेवगते सति फलानुकीर्तनमर्थवाद इति गम्यते। न चात्र मोक्षविरोधिफलं किञ्चिच्छ्रूयते। "अपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते उप वयन्तं भुञ्जामोस्मिंश्चलोकेमुष्मिंश्च" इत्यमीषां फलानां मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात्। अपहते पापकृत्याम्—ब्रह्म-प्राप्तिविरोधि पापं कर्मापहन्ति। लोकी भवति-तद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं प्राप्नोति। सर्वमायुरेति-ब्रह्मोपासनसमाप्तेर्यावदा-युरपेक्षितम्, तत्सर्वमेति। ज्योग् जीवति-व्याध्यादिभिरनुपहतो यावद्ब्रह्मप्राप्ति जीवति। नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते—अस्य शिष्यप्रशि-ष्यादयः पुत्रपौत्रादयोपि ब्रह्मविद एव भवन्ति।.....उप वयन्तं भुञ्जामोस्मिंश्च लोकेमुष्मिंश्च—वयमग्नयस्तमेनमुपभुञ्जामः—यावद्ब्रह्म-प्राप्ति विघ्नेभ्यः परिपालयाम इति। अतोग्निविद्याया ब्रह्मविद्याङ्ग-त्वेन तत्सन्निधानाविरोधात् सुखविशिष्टं प्रकृतमेव ब्रह्मोपासन-स्थानविधानार्थं गुणविधानार्थं चोच्यते। ननु "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इतिगतिमात्रपरिशेषणादाचार्येण गतिरेवोपदेश्येति गम्यते, तत्कथं स्थानगुणविध्यर्थतोच्यते। तदभिधीयते "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यस्यायमभिप्रायः—ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य प्रोषिषु गुरौ तदलाभादनाश्वासमुपकोसलमुज्जीवयितुं स्वपरिचरणप्रीता गार्हपत्यादयो गुरोरग्नयस्तस्मै ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूतां चाग्निवि-द्यामुपदिश्य "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति श्रुत्यर्थमालोच्य साधुतमत्वप्राप्त्यर्थमाचार्य एवास्य संपद्गामत्वादि-गुणकं ब्रह्म तदुपासनस्थानमर्चिरादिकां च गतिमुपदिशत्विति मत्वा "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यवोचन्। गतिग्रहणमुपदेश्यविद्या-शेषप्रदर्शनार्थम्। अत एवाचार्योपि "अहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" इत्युपक्रम्य संयद्वामत्वादिकल्याणगुणविशिष्टं ब्रह्माक्षिस्थानोपास्यमर्चिरादिकां च गतिमुपदिदेश। अतः "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोत्राभिधानादयमस्याधारः परमात्मा ॥ १ । २ । १५ ॥

(२)

आनन्दभाष्य

प्रतिबिम्बात्मनस्तावत्पुरुषान्तरसंनिधानाधीनत्वान्न नियमेन स्थितिसम्भवः। देवतात्मनोपि "रश्मिभिरेषोस्मिन् प्रतिष्ठितः" इति रश्मिद्वारेणावस्थितिवचनादेशान्तरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुष्यवस्थानत्वम्। तथैव जीवात्मनोपि सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिमत्त्वात्केवले चक्षुषि नावस्थानम्। तदन्यतमेमृतत्वाभयत्वसंयद्वामत्वादिनिरुपाधिकगुणानामसम्भवाच्च। अक्ष्याधारपुरुषत्वेन परमात्मैवोपास्य इति सिद्धम् ॥ १ । २ । १८॥

(२)

श्रीभाष्य

प्रतिबिम्बादीनामक्षिणिनियमेनावस्थानादमृतत्वादीनां च निरुपाधिकानां तेष्वसम्भवान्न परमात्मन इतरः छायादिः अक्षिपुरुषो भवितुमर्हति। प्रतिबिम्बस्य तावत् पुरुषान्तरसन्निधानायत्तत्वान्न नियमेनावस्थानसम्भवः। जीवस्यापि सर्वेन्द्रियव्यापारानुगुणत्वाय सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिरिति चक्षुषि नावस्थानम्। देवतायाश्च "रश्मिभिरेषोस्मिन् प्रतिष्ठितः" इति रश्मिद्वारेणावस्थानवचनादेशान्तरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुष्यवस्थानम्। सर्वेषामेवैषां निरुपाधिकामृतत्वादयो न सम्भवन्त्येव। तस्मादक्षिपुरुषः परमात्मा ॥ १ । २ । १८ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आनन्दभाष्य

.....। स एव चैकः सन् सर्वलोकसर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति। तथा 'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य "तमन्तर्यामिणं ब्रूही"ति उद्दालकेन पृष्ट आचार्यस्तस्योत्तरमाह—"यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादि। तस्मादेतत्सर्वभूतसर्वदेवसर्ववेदादियज्ञान्तानां नियमनं सर्वशरीरतया सर्वात्मत्वं च सर्वशक्तेः पुरुषोत्तमादन्यस्य कस्यचिदपि न सम्भवतीति तदन्ये हि.....॥ १। २। १९॥

श्रीभाष्य

.....। यदेक एव सन् सर्वलोकसर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति। तथा उद्दालकप्रश्नः "य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योन्तरो यमयति" इत्युपक्रम्य "तमन्तर्यामिणं ब्रूहि" इति तस्य चोत्तरम् "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यारभ्योक्तम्। तदेतत्सर्वाँल्लोकान् सर्वाणि च भूतानि सर्वान् देवान् सर्वान्वेदान् सर्वाँश्च यज्ञानन्तःप्रविश्य सर्वप्रकारनियमनम्, सर्वशरीरतया सर्वस्यात्मत्वं च सर्वज्ञात्सत्यसंकल्पात् पुरुषोत्तमादन्यस्य न सम्भवति।" १। २। १९॥

इसी प्रकार १। १। २१॥ १। १। २४॥ १। १। २८॥ १। २। १२॥ १। २। १३॥ १। २। १५॥ १। २। १८॥ १। २। १९॥ १। २। २७॥ १। २। ३२॥ १। ३। १॥ १। ३। २॥ १। ३। ७॥ १। ३। १०॥ १। ३। १३॥ १। ३। १४॥ १। ३। २९॥ १। ३। ३३ (वेदान्तसार)॥ १। ३। ३५॥ १। ४। १॥ इत्यादि अनेक सूत्र हैं जिनके श्रीभाष्यकी या तो आनुपूर्वी इस कृत्रिम आनन्दभाष्यमें उपस्थित है और या तो उसकी स्पष्ट छाया है। यह भी स्मरण रहे कि श्रीजानकीकृपाभाष्यमें यह दोष नहीं है। कहीं-कहीं उसमें

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी श्रीभाष्य का अनुसरण भी है और अनुकरण भी है परन्तु जो स्थलऊपर निर्दिष्ट हैं उनमें श्रीजानकीभाष्य निर्दुष्ट है। केवल कृत्रिम आनन्दभाष्यमें ही यह कुकृत्य हुआ है। संक्षिप्तकार स्वामी रघुवरदासजीको ऐसा करना क्यों पड़ा, इसे भी जान लेना चाहिये। श्रीजानकीभाष्य बहुत बृहद् ग्रन्थ है। जब उसे संक्षिप्त बनानेसे वह थक जाते थे तब इधर-उधर-से लेकर सन्दर्भके समन्वयकी ओर झुक जाते थे और जहाँ से जो मिल गया, लिखकर ग्रन्थ पूरा कर दिया करते थे। उनकी रीति से यही प्रतीत होता है।

जो लोग यह कहते हैं कि स्वामी रामानन्द जी गुरु थे और स्वामी रामप्रसादाचार्यजी शिष्य थे। गुरुके ग्रन्थकी अभिवृद्धि शिष्यने की तो अनुचित नहीं हुआ; उनसे पूछना चाहिये कि जब गुरुशिष्यकी ही बात मध्यस्थ बनती है तो शिष्यने गुरुके सूत्रपाठकी अवहेलना क्यों की? कल्पित आनन्दभाष्यमें सूत्रोंका जो पाठ है उससे विपरीत पाठ श्रीजानकी-कृपाभाष्यमें उपलब्ध है। दृष्टान्तके लिये १।२।५॥ १।१।२०॥ १।३।३॥ १।३।४॥ १।३।५॥ १।३।३४॥ १।३।३५॥ २।१।११॥ २।१।१८॥ २।२।६॥ २।३।६॥ २।३।१३॥ ३।३।७॥ इत्यादि सूत्र देखें। इस व्यतिक्रमसे यही सिद्ध होता है कि आनन्दभाष्य जैसी कोई भी चीज जानकीकृपाभाष्यकारके समय में नहीं थी अन्यथा परमगुरुभक्त जानकी-कृपाभाष्यकार कभी भी अपने सम्प्रदायाचार्यके नियतपाठके विरुद्ध न जाते। यदि विरुद्ध जाना ही पड़ता तो वे अवश्य निर्देश करते कि परमाचार्य-निर्धारित सूत्रपाठसे विरुद्ध जानेमें अमुक कारण है। भाष्यकारने कहींपर भी आनन्दभाष्यका नाम नहीं लिया है। आनन्दभाष्यकारके रूपमें कहीं पर आचार्यका स्मरण भी नहीं किया है। अतः आनन्दभाष्यकी कल्पना उसपर टीका जी और मङ्गलदासजीके सुरतरु और सुरतरुमञ्जरी आदि ग्रन्थनामोंकी कल्पना, सिद्धान्तप्रदीपादि

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रन्थोंकी कल्पना निरर्थक और इस सम्प्रदायकी प्रतिष्ठाको धूलमें मिलानेवाली है। उपर्युक्त ग्रन्थोंमें से एक भी मूल-वास्तविक ग्रन्थ पृथिवीपर नहीं है। अवश्य ही वे गगनकुसुम हैं।

इस आनन्दभाष्यके कल्पित होनेमें एक दूसरा प्रबल प्रमाण अब उपलब्ध हुआ है। समय बीतता जायगा और असत्यतानिवारणके लिये स्वयं ही कितने ही प्रमाण सत्यप्रेमियोंकी आँखोंके सामने आते जायँगे। बजरङ्गदासजीका नाम ऊपर कई जगह लिखा गया है। उन्हें शास्त्रार्थकी खुजली बहुत होती है। यद्यपि वह किसी भी शास्त्रके पण्डित नहीं हैं।

विरक्त साप्ताहिकपत्रके १८ फरवरी १९५८ ई० के अङ्कमें उनके एक भाषणका सार छपा है। उसमें बिना शास्त्रार्थके ही मेरे पराजयकी बात भी की गयी है। अन्य भी कितनी ही बातें—एक गंजेडीकी बातें जैसी उसमें कही गयी हैं। उसी सिलसिलेमें उन्होंने एक बड़े कामकी बात कह दी है। कहा है कि—विक्रम संवत् १९७४-७५ में सूरतके पास छह कोसकी दूरी पर खरवासा ग्राममें उन्हें हस्तलिखित आनन्दभाष्य मिला। तब वह फूलकर कुप्पा हो गये। उस ग्रन्थको उन्होंने वि० संवत् १९७७ में श्रीजनकनन्दिनीशरणजीको दे दिया। उसी ग्रन्थको वि० संवत् १९८४ में पण्डित श्रीरघुवरदासजीने उत्कृष्ट मुद्रणालय अहमदाबादमें छपाकर प्रकाशित किया।

अब इस कथनका विश्लेषण कीजिये। विश्लेषण करनेसे पूर्व पाठक इतना निश्चित समझ लें कि श्रीबजरङ्गदासजीको संस्कृतभाषाका पल्लवग्राहिपाण्डित्यसे अधिक पाण्डित्य नहीं है। उनके पास इतना संस्कृतज्ञान नहीं है कि जिससे वह पण्डित श्रीरघुवरदासजीकी तत्त्वप्रकाशिका भूमिकाको समझ सकें।

अब आगे चलिये। पण्डित श्रीरघुवरदासजी कहते हैं कि उस कल्पित आनन्दभाष्यकी एक प्रति उन्हें उनके गुरुजीके महापुस्तकभण्डारमें से

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कश्मीरसे मिली थी। वह यह भी लिखते हैं कि उन्हें उस ग्रन्थकी एक प्रति किसी नैपाली श्रीरामानन्दीय वैष्णव छात्रसे प्राप्त हुई थी। इन्हीं दो प्रतियोंका नाम मुद्रापक और संशोधक महाशय ले रहे हैं। तीसरी किसी उस प्रतिका नाम वह नहीं ले रहे हैं जिसकी सहायतासे नकली आनन्द-भाष्य छपाया गया।

यदि बजरङ्गदासजी सच्चे हैं तो पण्डित श्रीरघुवरदासजी अवश्य ही झूठे सिद्ध होते हैं क्योंकि उन्होंने न बजरङ्गदासजीका नाम लिया है, न जनकनन्दनीशरणजीका नाम लिया है। यदि पण्डित जी सच्चे हैं तो बजरङ्गदासजी अपने आप ही झूठे सिद्ध हो जाते हैं। कौन झूठा है, कौन सच्चा है, इस झगड़ेमें मुझे पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो इतना ही कह देना है कि आनन्दभाष्य कल्पित ग्रन्थ है। वह न पण्डित रघुवरदासजीको कश्मीरसे मिला है और न बजरङ्गदाससे परम्परया मिला है। वह तो श्रीजानकीभाष्यका ही कतरन है। झूठी बातको सच्ची बताने और बनानेमें सैकड़ों झूठी बातें बनानी पड़ती हैं और पापका पहाड़ सिरपर लादना पड़ता है। ऐसे पापभारवाह श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें अनेक हैं।

अब बजरङ्गदासजीके शास्त्रार्थके चैलेंजकी बात कर दूँ। मैंने उनके चैलेंजको एक क्षणका भी विलम्ब किये विना स्वीकृत कर लिया और विरक्तमें प्रकाशित कर दिया कि शास्त्रार्थ काशीमें होगा और अमुक-अमुक विद्वान् मध्यस्थ होंगे। बस, सब मज़ा किरकिरा हो गया। बजरङ्ग-दासजीने कहा कि "मैं ऐसा शास्त्रार्थ नहीं करूँगा। मैं तो चाहता हूँ कि विरक्तपत्रमें मैं भी लेख लिखूँ और स्वामीजी (भगवदाचार्य) भी लिखें।" बस, उनका शास्त्रार्थ पूरा हो गया।

पहले तो उन्होंने लिखा था कि शास्त्रार्थके मध्यस्थ होंगे महामहो-पाध्याय पण्डित गिरिधरशर्माजी चतुर्वेद। जब मैंने उन्हें छोड़कर काशी और बङ्गाल आदि विद्वानोंके नाम लिये तो उत्तर दिया कि वे सब

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विद्वान् अवैष्णव हैं—अरामानन्दीय हैं। विरक्तके विद्वान् सम्पादक ब्रह्मचारी श्री वासुदेवाचार्यजीने स्वयं प्रश्न कर दिया कि यदि काशीके विद्वान् अवैष्णव हैं तो पण्डित श्री गिरिधर शर्मा जी भी तो अवैष्णव ही हैं? उन्हें आपने कैसे मध्यस्थ चुन लिया? तब टाँय-टाँय फिस। जिन्हें निग्रहस्थानोंका भी पता नहीं है वह चले हैं शास्त्रार्थ करने मुझसे। आश्चर्यमेतत्।

विरक्तपत्रके विद्वान् सम्पादक ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजीने तथा मैंने भी श्रीवजरङ्गदासजीको सूचना दी थी कि एक एक क च ट त प से तो शास्त्रार्थ करना ही निरर्थक और अयुक्त है। कल फिर कोई रमताराम कहेगा कि मैं भी स्वामीजीसे शास्त्रार्थ करूंगा और परसों पुनः ऐसा ही कोई कहेगा। अतः सर्वोत्तम यह होगा कि आप सम्प्रदायके अखाड़ों, खालसों, द्वारागाद्याचार्यों, प्रतिष्ठित मठमन्दिराधीशों और समस्त विद्वानोंका प्रतिनिधित्व लेकर शास्त्रार्थ करनेके लिये काशीमें अमुक निश्चित तिथिमें उपस्थित हो जायँ। परन्तु वह किसीका भी प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त कर सके। इसका अर्थ यह है कि उनकी विद्या, बुद्धि आदिका किसी भी श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवको विश्वास नहीं है। उनके विजयसे सम्प्रदाय अपनेको विजयी और उनके पराजयसे अपनेको पराजित माननेको तैयार नहीं है। सम्प्रदायने यह भी सिद्ध कर दिया कि कल्पित आनन्दभाष्यके साथ उसका अब कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध रखनेकी इच्छा होती तो श्रीवजरङ्गदासजीने शास्त्रार्थका अथवा प्रामाणिक विचारका अवसर सभी विद्वानोंके लिये उपस्थित कर दिया था। वजरङ्गदासजीको आगे न करते तो स्वयं भी कोई विद्वान् आगे आते और विचार करते। परन्तु कोई भी नहीं आया। इसमें शास्त्रार्थ और विचार करना ही क्या था? मैं तो केवल आनन्दभाष्यकी कोई हस्तलिखित प्राचीन प्रति चाहत था। उसे दिखाकर कोई भी विद्वान्, अविद्वान् मुझे पराजित कर सकता था। परन्तु पराजित होना तो मेरे भाग्यमें विधाताने लिखा ही नहीं है

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तो कोई मुझे पराजित करता तो कैसे करता ? अब आनन्दभाष्यको लक्ष्य बनाकर सब शास्त्रार्थोंकी समाप्ति आजसे हो रही है, सब विवादों और विद्रोहोंका आजसे अन्त हो रहा है, उसपर कही जानेवाली किसी भी टीका-टिप्पणीका आजसे घोष, आघोष, व्याघोष बन्द हो रहा है। आजसे सम्प्रदाय एक दम्भ और पाषण्डके पर्दैको चीरकर आगे बढ़ रहा है। आज सम्प्रदाय भगवान् सत्यनारायणके सामने नतमस्तक हो रहा है। आजसे आनन्दभाष्य गया और उसके स्थान पर श्री जानकीकृपाभाष्य संक्षिप्त सारका पवित्र पादार्पण हुआ है। आज सत्यके विजयका पवित्र और ओजस्वी दिन है। आजके पुण्यप्रभातमें श्रीरामानन्द सम्प्रदाय अपने उन्नत मस्तकके साथ जगत्के प्राङ्गणमें उपस्थित है।

अन्तमें एक बात और कह दूँ। वि० संवत् १९९८ में चौखम्बा संस्कृतसीरीज आफिस वाराणसीसे एक ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्ति प्रकाशित हुई है। उसके रचयिता हैं स्वामी श्रीरघुवराचार्यवेदान्तकेसरी। वि० संवत् १९८६ में कल्पित आनन्दभाष्य छपा है। उसके परिशोधक स्वामी श्री रघुवरदास वेदान्ती ही १२ वर्षोंके बाद मेरा अनुयायी बनकर स्वामी श्रीरघुवराचार्य बने थे। ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्ति शब्दका अर्थ समञ्जस हो अथवा असमञ्जस, परन्तु वह वेदान्तवृत्ति कल्पित आनन्दभाष्यानुसारिणी है। और कल्पित आनन्दभाष्य श्रीजानकीकृपाभाष्यका ही संक्षिप्त सार है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि यह वेदान्तवृत्ति भी श्रीजानकीकृपाभाष्यसंक्षिप्तसारका सार है। इस वृत्तिमें नवीनता कुछ भी नहीं है। श्री जानकीकृपाभाष्यसंक्षिप्तसारके वाक्यों और शब्दोंका परिवर्तनमात्र है। अतिसंक्षिप्त तो है ही। इसे विद्वान् लोग ब्रह्मसूत्रकी वृत्ति मान सकते हैं या नहीं, यह सन्देहास्पद है। इतना अवश्य सत्य है कि इस वृत्तिवामक अतिसंक्षिप्त ग्रन्थसे श्रीजानकीकृपाभाष्य जैसे महाग्रन्थका आशय अतिसंक्षेपमें समझा जा सकता है। इस वृत्तिग्रन्थमें प्रारम्भमें वृत्तिकार महोदय लिखते हैं—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"·····सर्वेश्वरो भगवान् साकेताधिपतिर्द्वापरान्ते जनान् वृजिनार्णवनिमग्नान् अवलोक्य·····तेषामुद्धाराय कृतेक्षणः स्वयमेव द्वैपायनस्वरूपेणाध्यवनिमण्डलमवतीर्य प्रणिनाय····· ब्रह्ममीमांसाम्। इमाम् अतिगम्भीराशयशालिनीं संक्षिप्तां चोपलक्ष्य अल्पश्रुतैरर्थान्तरयोजनयानया तत्त्वबुभुत्सूनामपि अनर्थावाप्तिर्जातु स्यादिति सम्भाव्य स्वजनजातकरुणः तां पुनः सुविशदं व्याचिख्यासुः कलेरादौ अधिभारतभूमि भूयोपि स एव साकेतनिकेतनो देवदेवः श्रीरामानन्दस्वरूपं विधाय व्यरीरचत् अत्रानन्दभाष्यम्। श्रीमदाचार्यप्रसादिते·····भाष्ये सर्वेष्यर्था विपश्चिद्धुरीणैरेवावगन्तुं शक्या न पुनः साधारणैरित्यवधार्य महाचार्यकृपावलम्बिना मया समेषां सुखावगमाय इयमतिसंक्षिप्ता वृत्तिर्विधीयते।"

इसका भाव। रामजीने द्वापरयुगके अन्तमें मानवोंको पापसागरमें डूबे हुए देखकर उनके उद्धारके लिये विचार करके व्यासके रूपमें पृथ्वीपर आकर ब्रह्ममीमांसाका प्रणयन किया। पश्चात् रामजीको याद आया कि मेरी बनायी हुई ब्रह्ममीमांसा बहुत संक्षिप्त है। संभव है कि थोड़े पढ़े-लिखे लोग इसका वह अर्थ न करें जिस अर्थको मैंने समझकर उसे लिखा है, तब तत्त्वबोधकी इच्छा रखनेवालोंको अनर्थकी प्राप्ति होगी ऐसी सम्भावना करके कलियुगके आदिमें उन्हीं रामजीने रामानन्दका रूप धारण करके आनन्दभाष्य रच डाला। फिर मैंने निश्चय किया कि आचार्यका वह आनन्दभाष्य केवल बड़े-बड़े पण्डित ही समझ सकते हैं अन्य लोग नहीं इस लिये महाचार्यकी कृपाके अवलम्बसे मैं यह अतिसंक्षिप्त वृत्ति बना रहा हूँ जिससे सबको अनायास ही बोध हो जाय।"

इस लेखसे निम्नलिखित बातें कही गयीं—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अच्छा, रामजी आ गये, रामानन्दस्वामी बन गये और भाष्य करने लग गये। शङ्करभाष्यको उड़ा दिया, निम्बार्कभाष्य को उड़ा दिया, मध्वभाष्यको उड़ा दिया। श्री भाष्यका क्या किया? इसका तो खण्डन रामजीने किया ही नहीं। वही विशिष्टाद्वैत, वही तत्त्वत्रय, वही सायुज्य मुक्ति। नया तो कुछ रामजीने किया ही नहीं। अरे, रामानुजके भाष्यके अक्षरों और पदोंको भी रामजीने आनन्दभाष्यमें सुरक्षित रख लिया। तब प्रश्न है कि रामजीके आनेकी आवश्यकता ही क्या थी? शेषावतारने ही सब काम बना दिया था। नया कुछ कहना नहीं था, फिर रामावतार की=श्री रामानन्दस्वामीजीकी क्या आवश्यकता पड़ी? एक प्रयोजन कहा जा सकता है। वह यह कि—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्रमें ब्रह्मशब्द रामजीने लिख दिया था, वह गड़बड़ था। ब्रह्मका ब और ह भूलसे लिखा गया था। र की मात्रामें भी भूल हो गयी थी अतः ब्रह्मको राम समझानेके लिये ही रामानन्दावतार हुआ था। परन्तु रामजी अपने आनन्दभाष्यमें प्रथम सूत्रमें इसका स्फोट करना भूल गये तब वृत्तिकार महाशयने उस भूलका सुधार किया और प्रथम सूत्रकी वृत्तिमें लिख दिया कि—ब्रह्मणः परमपुरुषश्रीरामस्य ··· विचारः कर्तव्यः। इस वेदान्तदर्शनमें रामजीने रामका क्या विचार किया है, यह तो रामजी ही जानें। इतना तो खटकता ही है कि रामजीने तिलक, कण्ठी, राममन्त्रजप, नाम, मुद्रा आदिका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। पञ्च संस्कारोंके बिना पापियोंका उद्धार होगा कैसे? यह भी समझमें नहीं आया। रामजीने आनन्दभाष्यमें न तो सरयूस्नान लिखा, न गङ्गास्नान ही लिखा। तीर्थयात्रा करनेकी भी बात नहीं लिखी। अवधवास करनेकी भी आज्ञा नहीं दी। किसी ग्रन्थका नित्य पाठ करना भी नहीं बताया। रामतापिनी उपनिषद्के एक ही वाक्यका उच्चारण किया, अवशिष्ट मन्त्रों या श्लोकोंका स्मरण भी नहीं किया? पापियोंका उद्धार होगा तो कैसे होगा?

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अच्छा, इस उद्धारकी बात छोड़ दें। यह तो होता ही रहेगा, होता ही रहा है। अब इस वृत्तिकी बात करें। रामजीने अतिसंक्षिप्त ब्रह्मसूत्र लिखा और उन्हें संभावना हुई कि सब मेरे अर्थका अनर्थ कर डालेंगे, इसीलिये तो उन्हें ५ हज़ार वर्षके बाद भाष्य—आनन्दभाष्य करनेका सूझा। और आप पुनः अतिसंक्षिप्त वृत्ति लिखकर वही भूल करने चले, तो यह तो अच्छा नहीं हुआ। अच्छा, यह भी सही। यहाँ लेखसे यह बताया गया है कि वृत्तिकार स्वबुद्धिसे वृत्ति बना रहे हैं परन्तु मङ्गलाचरणके चतुर्थ श्लोकसे यह कहा गया है कि—

श्रीमदानन्दभाष्यस्याशयं तदनुसारतः।
विचार्य ब्रह्मसूत्रेषु वृत्तिरेषा विधीयते॥

अर्थात् "आनन्दभाष्यके आशयको विचार करके, उसीके अनुसार ब्रह्मसूत्रोंपर यह वृत्ति बनायी जा रही है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि इस वृत्तिमें वृत्तिकार की स्वबुद्धिका उपयोग नहीं हुआ है, आनन्दभाष्यके अनुसार ही यह वृत्ति बनायी गयी है। यही ठीक भी है क्योंकि आनन्दभाष्यके ही भाव, परिवर्तित पदादि यहाँ वृतिमें उपस्थित हैं। परन्तु तत्तु समन्वयात् इस सूत्रमें तो सब गड़बड़ हो गया है। रामजीके आनन्दभाष्यमें जो कुछ लिखा है, उससे सर्वथा ही विरुद्ध इस सूत्रकी वृत्तिमें लिखा गया है। अतः प्रतिज्ञाविरोध तो हुआ ही और समाधान दुःशक है। ऐसे विरोधका अन्य सूत्रोंकी वृत्ति में भी होना असम्भव नहीं है।

वृत्तिकार बन्धुने उपर्युक्त संस्कृत लेख बहुत असम्बद्ध लिखा है। वह यह भूल जाते हैं कि सूत्रग्रन्थ संक्षिप्त ही होते हैं। उनकी काय-वृद्धि तो भाष्यकारकी बुद्धिकी बात है। ग्रन्थका कोई अनर्थ करेगा ऐसे भविष्यकी संभावना रामजीको क्यों हुई जब कि रामानन्दके रूपमें अनेक अर्थ उस ग्रन्थके किये जा चुके थे? वृत्तिकारने यह इस लिये लिखा है उन्हें बताना था कि रामानन्द स्वामीजी कलियुगके आदिमें हुए थे

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परन्तु यह तो स्पष्ट ही असत्य है। वृत्तिकार महाशयके गड़बड़ने श्री रामजीको भी गड़बड़ कर दिया।

अस्तु, मुझे तो कहना यह है कि वृत्तिकारने सब झूठ ही लिखा है। न रामजीने भाष्य किया है और न रामानन्द स्वामीजीने। मैं कह चुका हूँ कि एक असत्यको छिपानेके लिये अनेक असत्योंको जन्म देना पड़ता है। और नासत्यात्पातकं परम्—असत्यसे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। गोसाईंजीने भी तो कहा है—"नहिं असत्य सम पातकपुंजा"। अतः सदा असत्यकी धारा चलती रहे, यह सम्प्रदायके लिये कलङ्क है, इस विचारसे मूलोच्छेद मैंने कर दिया है। आनन्दभाष्य जैसी कोई वस्तु इस जगत्में न पैदा हुई है और न पैदा की गयी है। यदि वह की गयी है तो उसकी मिट्टी भी खराब हो गयी है।

अब एक दूसरी बात। स्वामी श्री रामप्रसादजी महाराजने एक धर्म-शिक्षा-पत्री लिखी है। वह वि० संवत् १९८७ में प्रथमवार अयोध्यामें ही छपी है। इससे पूर्व वह हस्तलिखित थी जिसका दर्शन मुझे भी पवहारीजीके वंशके एक महात्मा केशवदासजीके द्वारा तभी हुआ था, जिन दिनों मैं नया दीक्षित था। इस धर्मशिक्षापत्रीमें २२० श्लोक हैं। श्रीमान् पण्डित श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराजने उसपर हिन्दी टीका लिखी है। उस ग्रन्थमें एक सौ चौदहवां श्लोक इस प्रकार हैं—

भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण च।
शारीरकं च श्रीभाष्यं पूर्वाचार्यकृतं च मे॥

१०८ वें श्लोकके अनुसन्धान से इस श्लोकका अर्थ यह है—"भक्ति शास्त्र, योगशास्त्र, धर्मशास्त्र, वेदान्तदर्शन पर पूर्वाचार्यका किया हुआ श्रीभाष्य तथा वेदान्तदर्शनपर मेरा किया हुआ भाष्य विशेष रूपसे माननीय हैं।" इस श्लोकमें श्रीभाष्य शब्द आया है। वह अवश्य ही रामानुजभाष्यके लिये हैं। परन्तु टीकाकार विद्वान्ने उसका अर्थ—"श्रीरामानन्दस्वामीजीका किया हुआ भाष्य—" ऐसा किया है वह तो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नवीनधाराके अनुसार है। विक्रम संवत् १९८६ में कृत्रिम आनन्दभाष्य छपा है और विक्रम संवत् १९८७ में शिक्षापत्री छपी है। अतः उस श्लोकके अर्थमें श्रीरामानन्दस्वामीजीका भाष्य माननीय है, ऐसा लिखना युगधर्म था। बहुत बड़ी बात तो यह हुई है कि उसमें आनन्दभाष्यका नाम नहीं दिया गया है। अस्तु; मुझे तो यह सूचित कर देना है कि श्रीरामप्रसादजी महाराज केवल श्रीभाष्यसे परिचित थे किसी भी आनन्द-भाष्यसे वह परिचित नहीं थे; क्योंकि उनके समयमें आनन्दभाष्य था ही नहीं, अतएव उन्होंने श्रीजानकीभाष्यमें कहीं पर भी आनन्दभाष्यकी चर्चा नहीं की है।

अब एक और बात। आनन्दभाष्यके सम्बन्धमें मेरे थोड़ेसे लेख और कितनी घोषणाएँ अभी गत थोड़े वर्षोंमें जहाँ-तहाँ प्रकाशित हुई हैं, उनका यहाँ पर उल्लेख कर देना बहुत ही आवश्यक है।

(१)

मैंने अपने "तत्त्वदर्शी" मासिकपत्रके आठवें वर्षके विशेषाङ्कके ६१वें पृष्ठपर लिखा है—"इस अहमदाबादी आनन्दभाष्यको शीघ्र ही अप्रामाणिक घोषित कर देना चाहिये" वह मेरा लेख ८ पृष्ठोंमें है। पढ़ने योग्य है (१ अप्रैल १९३९)

(२)

पण्डित श्रीरामचरणशरण जी शास्त्रीने भी उसी विशेषाङ्कमें आनन्द-भाष्यकी आलोचना ११॥ पृष्ठोंमें की है। (१ अप्रैल १९३९)

(३)

"जब तक प्रामाणिकोंके समक्ष यह सिद्ध न कर दिया जाय कि यह आनन्दभाष्य श्रीजानकीभाष्यका ही रूपान्तर नहीं है तबतक आनन्द-भाष्य श्री रामानन्दस्वामीजी महाराज प्रणीत है, यह कभी माना या मनाया नहीं जा सकता।" यह लेख श्री वैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थकी भूमिकामें मैंने लिखा था। (वि० संवत् श्रावण वदि ११, २००२)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(४)

"एक मेरी और भी सूचना है। यदि इसी विजयादशमी तक अयोध्याके रामानन्दीयवैष्णवपरिषद्वाले पण्डितलोग प्राचीन आनन्द-भाष्य-जिसपरसे कि यह वर्तमान आनन्दभाष्य छापा गया है—नहीं दिखा सकेंगे तो मैं आनन्दभाष्यका अपनी ओरसे प्रकाशन करूँगा और उसका नाम रखूँगा संक्षिप्त जानकीभाष्य।" (ता० २७-९-५५)। यह मेरा लेख श्रीरामानन्दपत्रिकाके १ अक्टूबर १९५५ के अङ्कमें छपा था।

(५)

·····अहमदाबादमें छपे हुए आनन्दभाष्यको मैं जानकीभाष्य ही मानता हूँ।" श्री रामानन्दपत्रिकामें यह मेरा लेख है (१ नवम्बर ५५)

(६)

"किसीमें साहस हो, सत्यता हो, धार्मिकता हो तो उस दिन आनन्दभाष्यको मुझे और पूर्वोक्त महानुभावोंको दिखावें। यदि यह तारीख भी पूर्वकी तारीखोंके समान ही चली जायगी और हवाई किलेके निवासी बन्धु महाशय चुप ही रहेंगे तो यह आनन्दभाष्यके माननेवालोंका पूर्ण और अन्तिम पराजय होगा।" यह मेरा लेख उसी रामानन्दपत्रिकामें मुद्रित है। (१७-१०-५५ ई०)

(७)

रामानन्दपत्रिकाके १ अक्तूबर १९५५ ई० के अङ्कमें मेरा एक लेख मुद्रित है। वह यह है—

डभोई (गुजरात) से एक गृहस्थ बन्धु अपने २३-९-५५ ई० के पत्रमें पूछते हैं कि—"स्वामी टीलाचार्यकृत आनन्दभाष्यका सुरद्रुम व्याख्यान तथा स्वामी मङ्गलदासजी कृत सुरद्रुममञ्जरी ये दोनों ग्रन्थ कहाँ से मिल सकते हैं ? तथा हिन्दीमें हैं या संस्कृतमें ?"

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मेरा उत्तर है कि आनन्दभाष्य तो जानकीभाष्यका कतरन है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। वह स्वामी रामानन्दजीका ग्रन्थ नहीं है। वह पुराना ग्रन्थ ही नहीं है। परन्तु यदि उस भाष्यका व्याख्यान सुरद्रुम है और उसका व्याख्यान सुरद्रुममञ्जरी है तो मोक्षका मार्ग हमारे कितने ही बन्धुओंके लिये बहुत सरल हो गया है। स्वामी टीलाजीकी गादी कहाँ हैं, मैं जानता नहीं हूँ। परन्तु डाकोरके महान्त श्री रामनारायणदासजीको कितने ही लोग टीलागाद्याचार्य लिखते हैं। तब मैं श्रीमान् महान्त श्री रामनारायणदास जी महाराजसे प्रार्थना करूँगा कि वह टीलागाद्याचार्य भी हैं और मङ्गलपीठाधीश भी हैं। अतः उनके पास ये दोनों ग्रन्थ यदि उपस्थित हों तो कृपाकर मुझे सूचित करें। मैं श्री टीलाजीके और श्री मङ्गलदासजीके उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ देखना चाहता हूँ। मैं इन ग्रन्थोंको अकेला नहीं देखूँगा। मैं जिला कलक्टर तथा दो संस्कृतके विद्वानोंके साथ देखूँगा। जब मैं देख लूँगा तो लिखकर दूँगा कि मैंने अमुक-अमुकके साथ वे दोनों ग्रन्थ देखे और ये पुराने हैं या नये हैं। जब तक मैं इतना नहीं लिखूँ तब तक किसीके कहनेसे कोई यह मान न ले कि मुझे ये दोनों ग्रन्थ दिखाये गये हैं।

श्री महान्त अयोध्यादास जी शास्त्री जी (अहमदाबाद) भी श्री मङ्गलपीठाधीश हैं। उनसे भी मेरी यही प्रार्थना है।

यदि ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन कागजपर प्राचीन स्याहीसे प्राचीन अक्षरों-में लिखे हुए मुझे मिल जायँगे तो मुझे आनन्दभाष्यको मान लेनेमें बहुत बाधा नहीं पड़ेगी। यदि ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन नहीं मिलेंगे तो ये दोन ग्रन्थ भी कल्पित और तरङ्गी हैं। आनन्दभाष्य तो कल्पित है ही।

डाकोर और अहमदाबादमें बहुत अन्तर नहीं है। एक ही दिनमें यह काम पूरा हो सकता है। अतः १५ वीं अक्तूबर तक मैं समय देता हूँ। इतने समयमें यदि मुझे ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होंगे, दिखाने-वाले नहीं दिखावेंगे तो रामानन्दस्वामी और श्री रामानन्दसम्प्रदायकी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रतिष्ठाको नष्ट करनेवाले आनन्दभाष्य, सुरद्रुम, सुरद्रुममञ्जरी ये तीनों ग्रन्थ झूठे, जाली और तरङ्गी सिद्ध हो जायँगे।

एक मेरी और भी सूचना है। यदि इसी विजयादशमी तक अयोध्याके रामानन्दीय-वैष्णव-परिषद्वाले पण्डितलोग प्राचीन आनन्दभाष्य जिसपरसे कि यह वर्तमान आनन्दभाष्य छापा गया है, नहीं दिखा सकेंगे तो मैं आनन्दभाष्यका अपनी ओरसे प्रकाशन करूँगा और उसका नाम रखूँगा संक्षिप्त जानकीभाष्य·····।

२७-९-५५ ई०.] भगवदाचार्य

(८)

मेरे "मोक्षके सरल उपायका" कुछ न कुछ उत्तर तो डाकोरसे विरक्तद्वारा मिला ही। मैं उपकार मानता हूँ। दुःख इतना ही है कि मुझे उत्तर जहाँसे मिलना चाहिये था वहाँसे नहीं मिला। महान्त श्री रामनारायणदासजी महाराजने कृपा नहीं की।

उत्तर देनेवाले चाहे जो हों, मैं मान लेता हूँ कि वह उत्तर महान्त श्री रामनारायणदासजीको स्वीकृत है। क्योंकि उसमें लिखा है कि:— "इनकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ हमारे पास थीं। प्रकाशित करनेके समय श्री वैष्णवाचार्य जी म० वै० भू० वे० ती० त्रणदेवड़ी अहमदाबाद हमारे स्थानसे ले गये।"·····महान्तजीकी ओरसे यह कहा गया है कि सुरद्रुम, सुरद्रुममञ्जरीको उन्हें प्रकाशित करनेके समय श्री वैष्णवाचार्यजी ले गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों ही ग्रन्थ प्रकाशित हैं। मिलनेका पता नहीं लिखा गया। मैं मिलनेका पता चाहता हूँ।

तथा श्रीवैष्णवाचार्यजीसे अनुरोध करता हूँ कि वह उन प्राचीन प्रतियोंको दिखानेकी मुझे सूचना दें।

रामानन्दपत्रिका
१-११-१९५५ ई० } भगवदाचार्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(९)

रामानन्दपत्रिकाके इसी अङ्कमें और इसी पृष्ठमें श्री मङ्गलपीठाधीश श्री महान्त अयोध्यादासजी शास्त्री का मेरे लेखका उत्तर छपा है। वह इस प्रकार है—" ·····। मेरा उत्तर यह है कि यह मङ्गलपीठ बहुत प्राचीन स्थान है। परन्तु यहाँ पर न तो श्रीटीलाचार्य्यजी महाराजका बनाया हुआ सुरद्रुम है और न श्रीमङ्गलदासजी महाराज का बनाया हुआ सुरद्रुममञ्जरी नामका व्याख्यान है। मेरे यहाँ सुरद्रुम–सुरद्रुममञ्जरी या ऐसे ही किसी अन्य ग्रन्थ का कहीं न तो उल्लेख है और न पता ही है। यदि कोई आदमी श्री स्वामीजीको इन ग्रन्थों को दिखलाने की सूचना दे तो यदि स्वामीजी मुझे भी सूचित करेंगे तो नियत समयपर मैं भी श्री मङ्गलदासजी महाराज के हस्ताक्षर के साथ उनके पास अपना प्रतिनिधि भेजूँगा ॥

(१०)

इसी उपर्युक्त पत्रिकाके इसी अङ्क में बजरङ्गदासजी के लिये भी मैंने कुछ लिखा है। आवश्यक अंश ये हैं—"उन्होंने अभी मेरे पास एक विज्ञप्ति भेजी है जो मुझे २१–१०–'५५ ई० को मिली है। उन्हें खुजली हो रही है। वह आनन्दभाष्य के लिये मुझे शास्त्रार्थ करनेको चैलेंज दे रहे हैं। मैं ऐसे लोगों को कहूँ तो क्या कहूँ ? उन्हें मैंने उत्तर तो रजिष्ट्री पत्र से भेज दिया है; परन्तु वह ऐसे जीव हैं कि शान्त नहीं होंगे·····।

उनका जय-पराजय उनका ही जय-पराजय माना जायगा या सम्प्रदायका, यह भी नहीं मालूम। ऐसे पण्डित तो कितने ही मारे-मारे फिरते हैं। किस किससे शास्त्रार्थ किया जाय ?·····।"

उनकी जय-पत्रिका में जय-विजय छपा है वह अशुद्ध है। जय-पराजय ऐसा पाठ होना चाहिये। इसे मैंने यहाँ सुधार दिया है। (भगवदाचार्य)

(११)

रामानन्दपत्रिका के इसी अङ्क में मेरा एक और लेख है जिसका कुछ अंश यों है—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"परन्तु एक अवसर आज मैं उन लोगों को देता हूँ जो मानते हों कि सुरद्रुम भी है और सुरद्रुममञ्जरी भी है। वे लोग इसी ७–११–'१५ ई० को आनन्दभाष्यके इन बच्चे-कच्चे दोनों ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ उपस्थित करें। मुझे ता० ७–११–'१५ ई० तक सूचना मिल जानी चाहिये कि मैं कब और कहाँ सरकारी उच्चपदाधिकारी जिला कलक्टर और दो अन्य तटस्थ विद्वानोंके साथ उन दोनों ग्रन्थों को देखूँ। यदि वह तारीख निकल जायगी और सुरद्रुम-सुरद्रुममञ्जरी के नाम की माला फेरनेवाले मूर्ख, पण्डित, पठित, अपठित, सन्त, महान्त, महात्मा इन दोनों ग्रन्थों की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ नहीं दिखा सकेंगे तो आज से इन ग्रन्थों और ग्रन्थों के नामों का अन्त समझ ही लेना चाहिये।

अहमदाबाद
१७–१०–'१५ } भगवदाचार्य

(१२)

पत्रिका के इसी अङ्कमें पण्डित वासुदेवाचार्यजी दार्शनिक सार्वभौम-के लिये भी मैंने एक लेख लिखा था। पण्डित वासुदेवाचार्यजीने मेरे पास एक पत्र आनन्दभाष्य की रक्षा में भेजा था जो २० अङ्गुल लम्बा, १२ अङ्गुल चौड़ा और ६९ लाइनों वाला था। उसीके उत्तरमें मैंने यह लेख लिखा था। उसमें मैंने उनसे ६ प्रश्न किये थे, मैंने अन्त में लिखा था—"इन छहों प्रश्नों का उत्तर यदि पत्र-पत्रिका में वह न देना चाहें तो जैसे अभी एक पत्र मेरे पास भेजा है वैसे ही एक पत्र में, रजिष्टर्ड कराकर उत्तर भेजें। यदि दीपावली से पूर्व ही मुझे मेरे पहले लेखका उत्तर मिल जायगा तो मैं उसके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करूँगा। यदि तब तक उत्तर न मिला तो इस लेख के लिये भी मैं २० नवम्बर तक प्रतीक्षा करूँगा। यद्यपि नियमानुसार तो सुरद्रुम और सुरद्रुममञ्जरी की घोषणा का पराजय-पूर्ण पराजय १५ अक्तूबर १९५५ ई० को ही हो चुका है। दीपावली के दिन आनन्दभाष्य के समस्त पक्षपातियों का पूर्ण पराजय हो जायगा। गत जून

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मासमें भी आनन्दभाष्य के माननेवालों का पराजय कर चुका हूँ। अब तो मरे को मारनेकी बात है। यह मेरा लेख अब कार्तिक वदि प्रतिपद् तदनुसार १ नवम्बर को प्रकाशित होगा। जून के अन्त में भी पराजय हुआ। विजयादशमी को भी पराजय हुआ। दीपावली को भी पराजय होगा और मैं ता० २०–११–'५५ की एक तारीख और देता हूँ। किसी में साहस हो, सत्यता हो, धार्मिकता हो, तो वह उस दिन आनन्दभाष्य को मुझे और पूर्वोक्त महानुभावों को दिखावें। यदि यह तारीख भी पूर्व की तारीखों के समान ही चली जायगी और हवाई किले के निवासी बन्धु महाशय चुप ही रहेंगे तो आनन्दभाष्य के माननेवालों का यह पूर्ण और अन्तिम पराजय होगा।

अहमदाबाद
१७–१०–'५५ } भगवदाचार्य

इस कल्पित आनन्दभाष्यके विषयमें और भी मेरे कितने लेख मिल सकते हैं। किसीने भी मेरे लेखोंके उत्तरके लिये साहस नहीं किया है। अयोध्यासे निकलनेवाले प्रसिद्ध साप्ताहिक संस्कृतपत्र **संस्कृतम्** में भी मेरे ४–५ लेख आनन्दभाष्य के कल्पित होने के सम्बन्धमें प्रकाशित हो चुके हैं।

अहमदाबाद
१७–१०–'५५ } भगवदाचार्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

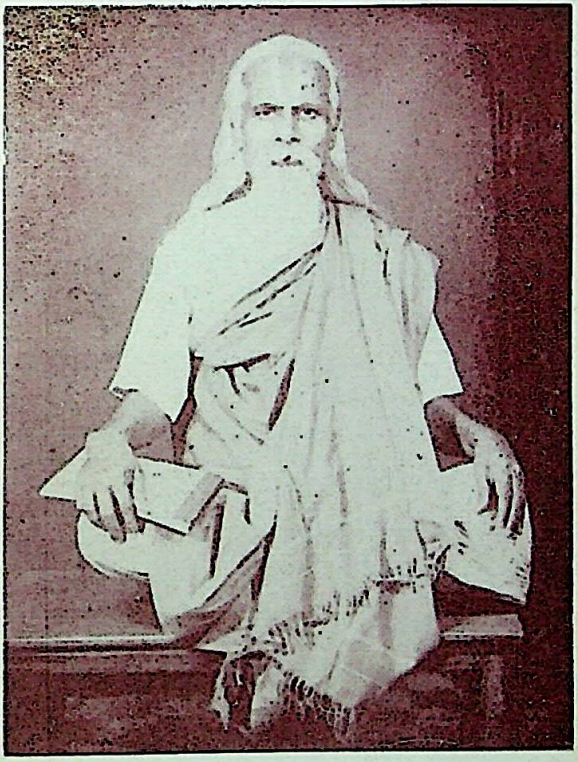

श्रीमान् वैद्यराज स्वामी दयानन्ददासजी महाराज
बड़ास्थान, अयोध्या
(वर्तमान निवास, अहमदाबाद)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीमतेरामानन्दायनमः

श्रीजानकीपरमकृपापात्रैर्विन्दुश्रीप्रवर्तकाचार्य्यैः

श्रीमद्भगवद्रामप्रसादाचार्य्यैरायोध्यकैः

प्रणीतस्य

शारीरकमीमांसायाः

श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य

संक्षिप्तसारः

श्रीरामाख्यं परं ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणम् ।
स्वभक्तैर्ध्येयमाप्यं च वन्दे दिव्यगुणाकरम् ॥१॥
श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनीम् ।
तां सृष्टिस्थितिसंहारकारिणीं सर्वदेहिनाम् ॥२॥
सीतां स्वादिगुरुं वन्दे शरणागतवत्सलाम् ।
यत्परम्परया लब्धो मन्त्रोस्माभिः षडक्षरः ॥३॥
वेदवेदान्तगुह्यार्थो यत्कृपातः प्रकाशते ।
तं सर्वनिगमाचार्यं हनूमन्तं गुरुं भजे ॥४॥
सीतारामैकगतिकं सीतारामपरायणम् ।
सीतारामैकसंप्राप्यं स्वाचार्य्यं तुलसीं भजे ॥५॥
शब्दब्रह्मपरब्रह्मनिष्णातं सूत्रकारकम् ।
व्यासं सत्यवतीसूनुं प्रणमामि पुनः पुनः ॥६॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रथमोऽध्यायः, प्रथमः पादः

(जिज्ञासाधिकरणम्)

अथाखिलाम्नायाध्ययनमनुपपत्तिमद्दते ब्रह्मचर्यादिति तत्प्रयुक्त वाक्यविचारस्याप्यन्तरेण वेदाध्ययनमसम्भवाद् ब्रह्मविचाराऽनुप पत्तिरित्यापाततो ब्रह्मज्ञानमन्तरेण तद्विषयकजिज्ञासाया अनुदय त्तदभावे चाखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरत्वाश्रयभगवत्स रूपानुभवासम्भवान्मोक्षानुपलब्धिः।

तस्मादर्थावगमपुरस्सरमादौ वेदाध्ययनमापादनीयम्। तेन कर्मणामल्पास्थिरफलकत्वमाकलय्यानन्तानन्दफलावाप्तये ब्रह्मस रूपानुभवसाधनीभूतान्नायान्तवाक्यविचारोऽनुष्ठेय इत्यर्थाल्लभ्यते एवञ्च "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचि लोकः क्षीयते" (छा० ८।६।१) इति श्रुतिविरुद्धत्वात् "अक्षय ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति तस्माच्चातुर्मास्येन यजेत त्यस्य विधिशेषत्वेन तदर्थवादतया तत्स्तुतिमात्रपरत्वमवगन्तव्यम् स्मर्यतेऽपि च उपभुक्तकर्मविपाकानामुर्वरितानुशयशालिनाम्पुनर वृत्तिः। "आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" (गीता ८।१६ इत्यादिना। तस्मा "त्परीक्ष्य लोकान् कर्म्मचितान् ब्राह्मणो निर्वे मायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् स मि त्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्व ब्रह्मविद्याम्। (मु० १।२।१२।१३) मोक्षस्य ब्रह्मावाप्तिलक्षणस्य कृतो कर्मणाऽसिद्धेरिति ततो विरक्तस्य परतत्त्वबुभुत्सया स्वाचार्योपसद पूर्वकं ब्रह्मविद्योपदेशश्रवणात्तस्या एव परमात्मनः प्राप्तिहेतुत्वम सीयत इति। द्रढयत्यमुमेवार्थं श्रुतिगणः। "ब्रह्मविदाप्नोति पर (तै० १। १। १) "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" (मु० ३।२।९) "यो दे

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निहितं गुहायाम्" (तै० २।१) "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै० २।१।१) "ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३।१।३) "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मुण्ड० २।२।८) "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ० २।६।१४।) "न च पुनरावर्तते" (छा० ८।१५) इति ब्रह्मज्ञानस्यैव परब्रह्मानुभवरूपफलत्वश्रवणात् "येनाक्षरं पुरुषं वेद" इत्यादौ कर्मफलविरक्तस्यैव ब्रह्मज्ञानार्थित्वमवसीयते । एवञ्च "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वेति तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वानन्दम्ब्रह्म व्यजानात्" (तै० ३।५।६।) इति तपसो ब्रह्मजिज्ञासायास्तज्ज्ञानस्य च साधनत्वश्रवणादादौ तदनुष्ठेयम् ।

एतदुक्तम्भवति । परमपुरुषार्थानुभवलक्षणविलक्षणसुखावाप्तिकामेनादौ ब्रह्मचर्यादिनियमपूर्वकं सार्थानुश्रवमधीत्य तदुदितकर्मणामन्तवत्फलमाकलय्यानन्तफललिप्सया मनःस्थैर्यादिसाधनमधिष्ठाय ब्रह्मविचारोऽहर्दिवं विभावनीय इति । तदर्थं भगवान् बादरायण आम्नायान्तवाक्यविचारलक्षणीं प्रणिनाय शारीरकब्रह्ममीमांसाम् । तस्याश्चेदमादिमं सूत्रम् ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १। १। १।

अत्रानन्तर्यार्थकोऽयमथशब्दः । अधिकारादिवाचकस्य तस्य प्रकृतेऽनुपयोगात् । अतःशब्दो हेत्वर्थकः । एवञ्च, साङ्गसशिरस्कवेदाध्ययनेनाधिगतकर्मज्ञानस्य तत्फलवितृष्णतयाऽवाप्ततपस्त्वमुमुक्षुत्वाद्यनेकसाधनस्य, अविनाशिफलमोक्षाभिलाषुकस्य तदुपायतयावगतब्रह्मजिज्ञासैवानन्तरभाविनी ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्मज्ञानानुष्ठानयोश्चित्तकल्मषापनयनपूर्वकवैराग्योत्पादनद्वारा च ब्रह्मज्ञानम्प्रति साधनत्वेन तयोर्हेतुहेतुमद्भावतया पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकशास्त्रत्वम् । ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । कर्मण्येषा षष्ठी । 'कर्तृकर्मणोः कृती'ति कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवतीति कृद्योगलक्षणा षष्ठी । इध्मप्रव्रश्चनपलाशशातनादिवत्समासः । एवञ्च "कृद्योगा च षष्ठी समस्यत" इति वचनबलात् "प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत" इति निषेधस्याप्रसक्तिः । अथवा शेषलक्षणेयं षष्ठीति न किमपि वक्तव्यमवशिष्यते । न चैवं सर्वत्र शेषलक्षणषष्ठ्यैव कार्य्यसम्भवे षष्ठीसमासप्रतिषेधसूत्राणामानर्थक्यमितिवाच्यम् । तेषां स्वरचिन्तायामुपयोगस्याङ्गीकारादिति सर्वमवदातम् ।

ब्रह्मशब्दश्चमहापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्ताखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममेवाह । सामान्यवाचकानां पदानां विशेषाथ पर्यवसानात् ।

जिज्ञासेत्यत्र प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमितः सनोऽन्यत्रेति वचनबलादिच्छायाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणज्ञानमिह विधेयम् । न केवलं कर्मभिः परपुरुषानुभवरूपो मोक्षः शक्योऽवाप्तुम् । वेदान्तवाक्यविचाररूपाया उत्तरमीमांसाया वैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

इदमत्र विचार्यते । परभक्त्यपरपर्यायज्ञानातिरेकिकर्मभिर्मुक्तिस्तद्विरहितेन ज्ञानेन वा ? नाद्यः । वेदान्तविचारशास्त्रानारभ्यत्वप्रसङ्गात् । नान्त्यः । अपसिद्धान्तान्नैष्कर्म्यवादप्रसङ्गाच्च । तस्मात् कर्मविशिष्टस्यैव ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वमितिसिद्धान्तः । तथा च श्रुतिः । "अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।" (ईश० ९) अत्राविद्याशब्देन केवलं कर्मोच्यते "अविद्या कर्मसंज्ञान्ये" तिस्मृतेः । एवं विद्यायां

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रता इत्यस्य स्वाधिकारोचितकर्मपरित्यागेन विद्यायां रता इत्यर्थः। अयमभिप्रायः। पार्थक्येन नैकस्यापि श्रेयःसाधनत्वमपि तु कर्मसचिवज्ञानस्यैवेति वेदवित्समयः। दर्शयति चामुमेवार्थं श्रुतिः। "विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० ११) इति नित्यनैमित्तिककर्मणां कल्मषापनयनद्वारा ब्रह्मोपासनरूपविद्योपचायकत्वमेव।

एवञ्च, अङ्गाङ्गिभावेन सहानुष्ठेयं यो वेद सोऽविद्यया विद्याङ्गतयाऽनुष्ठितेन कर्मणा मृत्युं ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकीभूतमदृष्टपदवेदनीयं प्राक्तनं कर्म तीर्त्वोल्लङ्घ्यामृतमश्नुते मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः। अस्यां श्रुतौ विद्याशब्देन प्रकृतसूत्रे च ब्रह्मजिज्ञासाघटके जिज्ञासापदेन ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं वेदनमेवोच्यते न तु वाक्यजन्यमापातज्ञानम्। पदवाक्यप्रमाणनिष्णातस्य व्युत्पत्तिमतः पदसन्दर्भश्राविणो विधिमन्तरेणाऽपि तस्य प्राप्तत्वात्। समामनन्ति च, "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० ६।५।) "अनुविद्य विजानाति" (छा० ८।१२।६) "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" (बृ० ६।४।२१) "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० ३।४।७) इत्यादिश्रुतयः। अतो निदिध्यासनमेवात्र विहितम्। तथा च श्रुतिः। "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। (श्वे० १।३) तच्च विसजातीयप्रहासंसृष्टाकारकमनोवृत्तिरूपम्। सा च वृत्तिः स्मृत्यपरपर्य्याया साक्षात्काररूपैव। अत एव "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २।८) "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इत्यादावपरोक्षात्मकानुभवरूप एव प्रदर्शितः। प्राप्नोति च स्मृतिरेव भावनाप्रकर्षादर्शनरूपताम्। द्रढयत्यमुमेवार्थं श्रुतिः। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्। (मु० ३।२।३) अयमर्थः—"यथा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि हिरण्यं निधाय तु चेतव्यम्।" इत्यादौ केवलपृथिव्याद्यधिकरणकाग्निचयनं निषिध्य हिरण्यस्थापनपूर्वकं तद्विधीयते। तथात्रापि केवलेन प्रवचनसाधनेन मननेन ध्यानेन श्रवणेन वेदमात्मस्वरूपं नासाद्यते। अपि तु निरतिशयप्रेमविशिष्टेनैव। एष आत्मा यं प्रीतिविशिष्टं पुरुषं वृणुते स्वीकरोति तेनैव पुरुषविशेषेणायं लभ्यः। स्वीक्रियमाणता च स्वविषयकाखण्डानुरागवत्येव जायत इति लोकव्यवहारः।

एवञ्च, परमात्मविषयकोऽनुरागस्तस्मिन् परमपुरुषे प्रेमोत्पादनद्वारा तदवाप्तौ कारणताम्भजत इति निर्विवादम्। अत एव "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"। (गी० १०।१०) "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।" (गी० ८।२२) 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गी० ७।१७) इत्यादयः स्मृतयः सङ्गच्छन्ते। तस्योपासकस्योत्कटदिदृक्षागर्भरूपपरभक्तिमत एष आत्मा परमात्मा स्वरूपं प्रकाशयति प्रदर्शयतीतिसिद्धम्।

अनेन श्रवणादिसाधनसम्पन्नस्यापि परभक्तिरूपोत्कृष्टसाधनस्यावश्यकत्वमित्यर्थस्वभावादुपबृंहणबलाच्चावगन्तव्यम्। ध्रुवानुस्मृत्यपरपर्य्यायपरभक्त्यतिरेकेण श्रवणादीनां वैयर्थ्यमेवेतिहृदयम्।

सा च भक्तिः परमप्रेयोभगवदितरवैतृष्ण्यपूर्वकपरमपुरुषानुरागरूपो ज्ञानविशेष एव। तदुद्भवश्च संसारस्यानित्यतामाकलय्याचार्योपसत्तिपुरस्सरवर्णाश्रमाचारसेवनजनितपुण्यक्षालितकषायस्य विवेकवैराग्याभ्यासादिभिरेवेति सर्वमवदातम्।

केचित्तु आहुः। ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र निरस्ताखिलभेदमशेषविशेषप्रत्यनीकं चिन्मात्रमेव तत्त्वं ब्रह्मपदवाच्यम्। तदेव वस्तुपदाभिलप्यं परमार्थरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमप्याम्नायावगततत्त्वमस्यादिवाक्यावसेयसामानाधिकरण्यविनिश्चितजीवैक्यं बध्यते मुच्यते

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

च । एवञ्च षड्विधतात्पर्यनिर्णायकैर्लिङ्गैस्समेषां वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मण्येव निश्चयः । "नेह नानास्ति किञ्चन मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (का० २।१।११) उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" (तै० २।७) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति कश्चित्" (श्वे० ३।९) "यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० ७) एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (क० २।२) तथाक्षरा द्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (मु० २।१।१) "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मु० २।१।३) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० २।४।४) "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कम्पश्येत् तत्केन कं विजानीयात्" (बृ० २।४।१४) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० ६।१।४) "मायामात्रन्तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" (ब्र० सू० ३।२।३) "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" (गी० १।३।२।) "न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।" (गी० १०।३९) "विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति" (वि० पु० ६।७।९४) "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः (गौ० पा० का० १७) इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृतिप्रामाण्यात् सर्वोऽपिभोक्तृभोक्तव्यादिभेदप्रपञ्चस्तस्मिन्मात्रब्रह्मण्यनाद्यविद्यया परिकल्पितः । इयञ्चानिर्वचनीयरूपाविद्यैवाज्ञानपदेनाभिधीयते ।

तच्चाज्ञानमागमप्रत्यक्षानुमानबलेनानादिभावरूपमेवावगम्यते । अभावरूपत्वे तु तुच्छतयाऽकिञ्चित्करत्वेन तद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जगत्कारणत्वं न स्यात्। ननु नास्त्येव मत्सिद्धान्तेऽखिलदोषपूर्ण-स्यास्य जगतो ब्रह्मकारणत्वम्। तस्य निर्विकारत्वेन कौटस्थ्यभङ्ग-प्रसङ्गात्। अपि तु निरस्तसमस्तदोषगन्धं कार्यकारणविलक्षणं स्वानु-भूतिरूपं वस्तु इति चेत्। चिरं जीवत्वायुष्मान्। कोह्यनुकूलमाचरति प्रतिकूलमाचरेत्। नास्त्येव वस्तुतोऽस्मन्नयेऽसंगस्य ब्रह्मणो जगत्का-रणत्वम्। न च तदभावे "सदैव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्त" (तै० ३।१) इत्यादिजगत्का-रणत्वाभिधायिनीनां श्रुतीनां वैयर्थ्यमिति वाच्यम्। तासां जगदु-पादानाज्ञानाधिष्ठानत्वेनैवोपपत्तेर्न ब्रह्म कारणमपि त्वज्ञानमेव। वस्तुतो नाज्ञानस्यापि तत्त्वं वेदान्तेन निर्दिष्टम्। तस्य भ्रमनिमित्त-मात्रत्वेनैव उक्तत्वात्। कार्यकारणवादस्याप्यौपनिषदनयानन्तर्गत-त्वाद्विवर्तवादस्यैव वेदान्ततात्पर्यावसितत्वादिति। विवर्तश्च पूर्व-सिद्धाधिष्ठानविरुद्धासदर्थस्यावस्तुनोऽवभासः। भवति चैव मरुमरी-चिकासूदन्वतोऽवभासः स्फीतप्रकाशसमवस्थितशुक्तिकायां रजतस्य चेति। एवं व्यावहारिकसत्तामुपेयुषोऽस्य मिथ्याभूतस्य जगतो-ऽखण्डानन्दैकरसे चिन्मात्रब्रह्मण्यध्यास इति समन्वयः।

तदेतदनादिभेदवासनाप्यायितकलेवरमज्ञानविजृम्भणं "तरति शोकमात्मवित्" इत्यागमसहस्रवशेन निर्विशेषब्रह्मात्मैकत्वप्रकारक-वस्तुज्ञानेन कृत्स्नं निवर्तते। तच्च ज्ञानमज्ञानं नाशयत्कतकरजो-वत्स्वयमप्युपशाम्यति। ततः परं यदवशिष्यते तत्स्वानुभूतिरूपं चिन्मात्रं ब्रह्मैव। तद्वस्तुभूतस्य ब्रह्मण एवाऽत्र जिज्ञासाभिमता सूत्रकृतामिति।

समाधानभाष्यम्।

तदेतदनास्वादितागमतत्त्वानां त्रयीसमधिगतार्थाऽनुष्ठानखिन्नानां कुतर्ककर्कशवागुरानिगडितान्तःकरणानां श्रुतिप्रतिपन्नतर्कपराहत-मानसानां चोद्यमिदं धर्म्मपथारूढैश्रद्धाधनैरनादरणीयम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तथाहि निर्विशेषं ब्रह्मेति कथमवगतम् ? केनचित् प्रमाणेन तदतिरिक्तेन वा ? नाद्यः। प्रमाणगम्यत्वेन सविशेषतया निर्विशेषत्वाभावात्। न द्वितीयः। प्रमाणातीतस्य वस्तुनः प्रामाणिकैरनङ्गीकारात्। नापि षड्विधलिङ्गैर्वेदान्तानामद्वैततात्पर्यमित्यपि युक्तम्। तेषां सविशेषब्रह्मण्येव तात्पर्यावसायित्वात्। यत्तु स्वार्थसाधनाय केषाञ्चिच्छ्रौतवचसामुपोद्बलकतयोपादानम्, तत् "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानर" मितिन्यायं स्मारयत् स्वविरुद्धार्थमेवोपस्थापयति। तथा हि "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० ६।४।१६) इत्यादौ नाद्वैतं प्रतिपाद्यते किन्तु इह द्रष्टव्ये ब्रह्मणि नानात्वं किञ्चन नास्ति–भेदलेशोऽपि नास्तीत्युच्यते। अयमभिप्रायः। स्थावरजङ्गमस्यास्य जगतो ब्रह्मकार्यतया तदन्तर्यामितया च तदात्मकत्वेनैक्यात्तद्भिन्नं नानात्वं प्रतिषिध्यते। अन्यथा "बहु स्यां प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इति बहुभवनसंकल्पपूर्वकं ब्रह्मणो नानात्वं श्रुतिसिद्धं बालक्रीडनकं स्यात्। समबलश्रुत्योर्विरोधे तु विकल्प एव स्यात्। तस्य चाष्टदोषदुष्टत्वादनुपदमनङ्गीकारात्।

किञ्चैकमर्थं प्रतिपाद्य स्वयमेव निराकुर्वत्याः श्रुतेरुन्मत्तप्रलापित्वमपि दुष्परिहरम्। न च न स्वरूपेण निषेधं ब्रूमः किन्तु पारमार्थिकत्वाकारेणेति वाच्यम्। स्वरूपस्यानिषेधेऽबाध्यत्वलक्षणपारमार्थिकत्वस्यापि सत्त्वेन तस्यापि निषेधानर्हत्वात्। तस्मान्नास्मिन्प्रकरणे ब्रह्मातिरिक्तं निषिध्यत इति निर्विवादम्।

यदपि—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" (तै० २।७) इत्यादिना भेददर्शिनो भयप्राप्तिरित्युक्तम्। तदप्यापादनानर्हम्। तथाहि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छा० ३।१४।१) इत्यादौ सर्वस्यास्य जगतस्तदुदयावन–लयकर्मतया तच्छरीरानुसन्धानेनात्र शान्तिर्विधीयते तज्ज्ञानस्याभयजनकतया न भयोत्पादकत्वमिति। "अथ तस्य भयं भवती"

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्युत्तरवाक्यस्य तु "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नि"त्यादिना या प्रतिष्ठा विहिता तस्या भङ्गे भयमित्युच्यत इति स्पष्टोऽयमर्थः श्रुतिपदुपबृंहणीभूतेतिहासपुराणेषु ।

"सदेव सोम्येदमग्र" इत्यादिच्छान्दोग्यसद्विद्याप्रकरणेऽप्यस्य जगतो न मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते । प्रत्युतास्य सन्दर्भस्य मिथ्यात्वखण्डन एव तात्पर्यम् । तथा हि—श्वेतकेतोर्जिज्ञास्यमंशमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं पूर्वं त्रिभिर्दृष्टान्तैः सम्यगुपपाद्य दार्ष्टान्ते योजयितुं सर्वस्यास्य ब्रह्मकारणत्वमेवेति प्रतिपिपादयिषोरुद्दालकस्येयमुक्तिः । अत्र चेदं बहुत्वावस्थं जगत्सृष्टेः प्रागेकमेव । सृष्ट्यनन्तरं विभक्तनामरूपतया बहुत्वावस्थापन्नमपि सृष्टिप्राक्कालिकाविभक्तनामरूपतयैकत्वावस्थात्मकमेवाधिष्ठात्रन्तररहितसदात्मकमेवासीदित्यर्थः ।"

सच्छब्दस्य विशेष्यभूतपरमात्माभिधायित्वेऽप्युत्तरत्रेक्षणपूर्वकबहुभवनरूपकार्यपरिणतत्वात्प्रकृते कारणत्वौपयिकगुणाश्रितत्वविशिष्टसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकत्वरूपपरब्रह्मत्वमेव सत्पदप्रवृत्तिनिमित्तम् । एवञ्चाग्रिमवाक्यानामप्यर्थः सङ्गच्छते । नहि यूनि देवदत्ते यथावकाशं प्रसरमाप्नुवाना ज्ञानेच्छादयो गुणा बाल्ये नासन्निति शक्यं कल्पयितुम् । तस्मान्निखिलशक्तिविशिष्टमेव ब्रह्म सृष्टेः प्राक्कालेऽविभक्तनामरूपतया सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकमवतिष्ठत इति निर्विवादम् । अद्वितीयपदञ्चात्यन्तविलक्षणं विसजातीयमेव ब्रह्मोपस्थापयन्निमित्तकारणान्तरमस्य जगतो व्यावर्तयति । न तु सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वमब्रह्मणोऽभिदधाति एकमेवेत्यत्रैवकारेण तस्यामवस्थायां व्यवच्छिद्यते बाहुल्यम् । एवञ्चाक्षपादीयनये कारकव्यापारात्प्राक्कारणे कार्यस्यासत्त्वमप्यनेन सदितिपदेन व्युदस्तम् । तथाचानया श्रुत्या प्रवाहानादित्वमस्य जगतोऽङ्गीकृत्याचिद्द्वारकं पारिणामिकमेवास्मिन् प्रकरणेऽभिधीयते । न तु सदसद्भ्यां व्यपदेशानर्हं मिथ्यात्वम् । प्रत्युताग्रिमवाक्ये केषाञ्चि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दजुस्खान्तानामस्मिन्नर्थे मा भूद्विशय इति तन्मतमुपन्यस्य स्वयमेव दूषितत्वात्। "कथमसतः सज्जायेत" (श्वे० ६।२।२) इति। स्पष्टीकरिष्याम उपरिष्टाज्जन्माद्यधिकरण इममर्थमित्यत्र संक्षेपः।

एतेन "यस्मात्परं नापरमस्ती" (श्वे० ३।९) त्याद्युपनिषत्सु "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धी" (गी० १३।२) त्यादिस्मृतिषु च प्रपञ्च-मिथ्यात्वपूर्वकं परमार्थतोऽद्वैतमेकमेव ब्रह्माभिधीयत इति मायिमतं सर्वं व्याख्यातं वेदितव्यम्। दुराग्रहमात्रैकसाधनत्वात्। एकविज्ञा-नेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गप्रसङ्गाच्च। नहि तन्मते ब्रह्मातिरिक्तं वस्त्व-न्तरं सर्वपदाभिलप्यमस्ति यद्विज्ञानमेकविज्ञाननियतं स्यादिति। न च ब्रह्मस्वरूपेऽवगते तदध्यस्तं प्रपञ्चजातं ज्ञातमेव। अधिष्ठानमेव ह्यारो-पितवस्तुनः स्वरूपम्। तदतिरेकेणावस्तुभूतस्य कल्पनामात्रलब्ध-सत्ताकस्य तस्य निर्हेष्टुमशक्यत्वादितिवाच्यम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—आध्यासिकः प्रपञ्चः स्वोपादानतया ब्रह्माश्रयति न वा? आद्ये स्वरूपसत्तया, असत्तया वा? यदि सत्तयेत्यभिधत्से, हन्त! तर्हि, आगतं प्रपञ्चे सत्यत्वम्। अथ चासत्तयेत्यन्तिमं पक्षं कक्षी-करोषि चेदमन्दमुपहास्यम्। आश्रयाश्रयिभावश्च सतोरेव कयोश्चिद्व-स्तुनोः कुण्डबदरयोरिव लोकशास्त्रसिद्धः। द्वितीये ब्रह्मोपादानवाद-भङ्गप्रसङ्गः। ननु शुद्धस्य चिद्वस्तुनो नास्त्येवोपादानत्वमितिचेन्न। "यतो वे" (तै० ३।१।१) त्यादिश्रुतिशतव्याकोपप्रसङ्गात्। अथा-ध्यस्तोपादानमेव श्रुतिरभिधत्त इतिचेत्कोह्यर्थोऽनेन बालक्रीडनेन साधितः स्याद्भगवत्या श्रुत्या। अतः प्रपञ्चसत्यत्वमेव सर्वत्रो-पदिष्टमितिदिक्।

यदपि चाज्ञानमनादिभावरूपं पदार्थान्तरमागमप्रत्यक्षानुमान-बलेन प्रसाध्य तच्छबलितस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमितिकथनन्त-दपि महाम्भसि निमज्जतः कुशकाशावलम्बनमनुकरोति। तथा हि—भावरूपस्याज्ञानस्यागमेन साधयितुमशक्यत्वात्। न च "अनृतेन

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हि प्रत्यूढाः" (छा० ८।३।२।) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (बृ० ४।५।१९) इत्याद्यागमाः प्रमाणतामत्र दधत इति वाच्यम्। तत्रानृतशब्दस्य बन्धप्रदायककर्मणि नियतत्वात्। "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके" (कठ० ३।१) इत्यादौ भगवदाराधनरूपनिष्कामकर्मणो यत्फलं तदृतमिति दृष्ट्वात्तद्व्यतिरिक्तमनृतमित्युच्यते। नह्यनेनानृतपदेनानिर्वचनीयं भावरूपमज्ञानमर्हति सेद्धुम्। न च, "आयुर्वै घृतम्" (तैत्तिरीय० का० २। प्र० ३० अ० २) इतिवदनृतपदमत्र गौण्या वृत्त्याऽनिर्वचनीयभावरूपमज्ञानमभिधत्त इति वाच्यम्। सति शक्यार्थे तात्पर्य्यनिश्चये लक्षणाया अस्वीकार्यत्वात्।

एवमपरस्मिन् वाक्येऽपि मायापदस्याद्भुतरचनक्षमत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं श्रुत्यन्तरपुराणकोशादितोऽवसीयते न त्वनिर्वचनीयाज्ञानत्वम्। तस्मान्नागमतोऽज्ञानं भावरूपं शक्यं प्रतिपत्तुम्। प्रतिपादयिष्यते चैतदुपरिष्टादतोऽत्र संक्षेपः।

प्रत्यक्षेणाप्यनादिभावरूपस्य ज्ञाननिवर्त्यस्याज्ञानस्य साधनं दुःशकम्। नचाहमज्ञो मामन्यञ्च न जानामीति प्रतीतिरेव तदध्यक्षेमानम्। तथा हि निरुक्तप्रतीतावहमित्यात्मनोऽभावानुयोगितया तत्प्रतियोगितया च ज्ञानस्य प्रतिपत्तिर्भवति न वा? यदि प्रथमं कल्पं कल्पयसि न तर्हि ज्ञानाभावप्रत्ययः प्रसरतामासादयति। धर्मिप्रतियोगिनिश्चयाभ्यां प्रतिबध्यमानत्वात्। नापि द्वितीयः। अभावानुभवस्य स्वप्रतियोगिज्ञाननियतसापेक्षत्वात्। तस्मादिदमज्ञानं ज्ञाननिवर्त्यं भावरूपमेवेति नाभावमतमनुसृत्याभिहितानां दूषणानामवकाशः। तथा च धर्मिप्रतियोगिज्ञानसमकालिक एवास्य भावरूपाज्ञानस्याप्यनुभव उपपद्यते। परस्पराविरुद्धत्वादितिवाच्यम्। अहमज्ञो मामन्यञ्च न जानामीत्यादावनुभूयमानमज्ञानमभावरूपमेव न तु भावरूपम्, विकल्पकल्पनाकलुषितकलेवरत्वात्। तथा हि अज्ञानस्य निवर्तकाश्रयविषयतया किञ्चित्प्रत्यक्तत्वं प्रतीतं न वा? आद्ये

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वरूपज्ञानबाध्यं तदज्ञानमितिनियमात् तत्प्रतीतौ कथंकारमवतिष्ठेत। अन्तिमे तु निवर्तकाश्रयविषयरहितमज्ञानं नतरामनुभूयते। तस्माद्भवदभिमतभावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानाभावसमानचर्चत्वात्तत्रैव पर्य्यवसानमित्ययमप्याशापाशः शिथिलबन्धोऽन्यत्राभिनिवेशात्। एवञ्चोभयसमधिगतज्ञानाभाव एवाहमज्ञो मामन्यञ्च न जानामीतिप्रतीतिगोचर इत्यभ्युपेयम्।

यदपि च कैश्चिन्मायिमतम्परिष्कुर्वद्भिर्नव्यैरविद्याया भावरूपत्वेऽनुमानं प्रदर्शितम्–विवादपदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति। तदपि न युक्तिसहम्। स्वाभिमतमज्ञानं साधयितुं प्रयोजितेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेनापसिद्धान्तापातात्। तदसाधने तु हेतोरनैकान्त्यम्। दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यञ्च। नहि प्रदीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वं सम्भवदुक्तिकम्। ज्ञानस्यैव तान्त्रिकैः प्रकाशकत्वाभ्युपगमात्। अन्यथा ज्ञानरूपस्यात्मन एव स्वयंप्रकाशकत्वमिति भवत्सिद्धान्तो व्याकुप्येत। विद्यमानायामपि प्रदीपप्रभायामन्तरेण ज्ञानं विषयप्रकाशासम्भवात्। प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानमुत्पादयतस्तत्प्रतिकूलतमस्तिरस्करणेनोपकारकत्वमेव। तस्मान्नागमप्रत्यक्षानुमानानि प्रभवन्ति भावरूपमज्ञानं साधयितुमित्यलमनेन शुष्कतर्कनिरासायासेनेत्युपरम्यते।

किञ्च, केवलतर्कवादास्तु सूत्रकृद्भिः स्वयमेव, तर्काप्रतिष्ठानादपि (ब्र० २।१।११) इतिविलक्षणत्वाधिकरणे निराकृताः। अत एव

"आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः।"

इति भगवता मनुनापि सिद्धान्तितम्। केवलतर्केणैव कार्यनिर्वाहे आगममर्यादायाः प्राधान्येनोद्घोषणं व्यर्थमेव स्यात्। एवञ्च निरुक्त-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भवत्प्रयोगे हेतोः सत्प्रतिपक्षिताऽपि सम्भवति। तथाहि—विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्ताज्ञानपूर्वकं न भवति, प्रमाणज्ञानत्वाद्भ्रवदभिमताज्ञानसाधनप्रमाणज्ञानवदित्यादिप्रयोगाणामपि जागरूकत्वादिति दिक्।

अपि च येयमनादिभावरूपाऽविद्या भवद्भिरास्थीयते सा कार्यरूपाऽकार्यरूपा वा ? कार्यरूपेतिचेत्किमस्याः कारणमिति विवेचनीयम्। अविद्यान्तरमितिचेन्न। अनवस्थादौस्थ्यात्। सैव कारणमितिपक्षस्तु आत्माश्रयदोषप्रसङ्गाद्धेय एव। एकस्यामेव कारणत्वं कार्यत्वञ्चेत्युभयमसम्भवि, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्। ब्रह्मण एव कारणत्वमित्यपि न युक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमुपाधिविशिष्टम्ब्रह्मैव तस्याः कारणमाहोस्वित्तद्रहितम्। तत्र न प्रथमः। अविद्यायाः प्रागुपाधीनामसत्त्वात्। सत्त्वे तु किं तस्य कारणमितिविचारे सैवानवस्था पिशाची दुरवस्था स्यादतो विषमोऽयमुपन्यासः। न द्वितीयः। शुद्धायाश्चिच्छक्तेस्त्वन्मतेऽकारणत्वात्। अभ्युपेत्याऽपि शुद्धस्य कारणत्वं न मुक्तिर्दोषभृङ्गलातो, यतः संसृतेः कारणमज्ञानमेव, तस्यैव च संसृतेस्सामग्रीत्वेन मुक्तत्थभावः प्रसज्जेत, संसृतिसामग्रीतयाऽवसितस्याज्ञानस्याद्याप्यविनष्टत्वात्। अथाकार्यरूपत्वेऽनादिभावपदार्थस्यानिवृत्त्यभावात् तन्निवर्तकगुरुशास्त्रोपदेशवैयर्थ्यम्। प्रयोगश्च—विमता अविद्या न निवर्तते, अनादित्वे सतिभावपदार्थत्वाद्ब्रह्मवत्। स्यादेवम्। इदमज्ञानं स्वस्मिन् कार्यकारणते परित्यजत् सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमेव रूपं धत्ते। एवञ्चास्याज्ञानस्य मायापदाभिलप्यस्य भूषणमेवेदं यल्लक्षणविवेचनाक्रान्तत्वं न दूषणमिति। मैवम्। अनिर्वचनीयस्य वस्तुनो दुरुपपादत्वात्। तथाहि—सर्वं हि वस्तुजातं प्रातिस्विकरूपेण सत्तयाऽसत्तया वा शक्यते निर्वक्तुम्। न त्वेकस्यैव वस्तुनः सत्त्वविशिष्टासत्त्वम्, असत्त्वविशिष्टासत्त्वं वा। एतेन सदसदनधिकरणत्वमेवानिर्वचनीयत्वं

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मितिकथनमपि प्रत्युक्तम्। इतरेतरविरुद्धत्वात्। सद्विलक्षणमसदेव भवति, असद्विलक्षणञ्च सदिति लोकव्यवहारात्। तदुभयविलक्षणस्य वस्तुनः प्रामाणिकैरनङ्गीकारात्। सद्विलक्षणं किन्तु नासत्, एवमसद्विलक्षणमपितु न सदितिकथनन्तु "मयानने जिह्वा नास्ती"-तिकथनवद्व्याहतार्थकत्वादनादरणीयमेव। तस्मादस्यानिर्वाच्यस्याज्ञानस्यानिर्वचनीयतैवेति न प्रागुक्तदूषणनक्रनिर्मुक्तिरितिसर्वं स्पष्टम्।

एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य विषयो न तु केवलाद्वैतम्। तथा हि—चिदचिद्वस्तुनोः शरीरतयाऽपृथक्सिद्धत्वेन प्रकारत्वम्, तद्विशिष्टस्य ब्रह्मणश्च शरीरित्वेन प्रकारित्वं शाश्वतिकमेव काश्चन श्रुतयोऽभिदधते। "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" (श्वे० १।६।) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" (श्वे० १।९) "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा" (श्वे० १।१२) "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" (श्वे० १।१०) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (श्वे० ६।१६) अत्र प्रधानक्षेत्रज्ञपदाभिधेययोश्चिदचितोर्भोक्तृभोग्यत्वेन पतिरितिपदेन च तयोर्नियमनकारित्वं परमात्मन इति स्पष्टतयैवाभिहितम्। गुणेश इतिपदञ्च सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादिनित्यगुणयोगञ्चाभिदधाति। "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।" जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः (श्वे० ४।६) "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।९) "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (श्वे० ६।१३) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।" (तै० आ० ६।१०, ना० १२।१) "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३।७।३) "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३।७।२२) "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" (तै० आ० ३।११।२) इत्येवमादयः। एष एवाभिप्रायः स्मृत्यादिषु बाहुल्येनोपलभ्यते। यथा—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि (गी १३।१९)
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (गी० ९।१०)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ (गी० १४।३।)
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (गी० १५।१७)
प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि।
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥
(वि० पु० ६।४।३८-३९)

"ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्र० सू० १।१।५) 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१५) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। (ब्र० सू० १।४।२३) इत्याद्याः। 'ईक्षतेर्नाशब्द" मित्यत्राशब्दप्रतिपाद्यस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वं निरस्य सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मण एव तत्त्वमीक्षणकर्तृत्वेन हेतुना सम्यंगुपपादितम्। एवञ्च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टेन सह स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य प्रपञ्चस्याभेदस्तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इत्यादावभिहितम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) इत्यभेदशब्दस्यापि चिदचिद्विशिष्टपरत्वमेव। अतएव च सामानाधिकरण्यम्। एवं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) "तत्त्वमसि" (छा० ६।८।१६) इत्यादावपि सर्वादिपदानां तत्तच्छरीरकपरमात्मापरत्वात्सर्वादिपदब्रह्मादिपदयोः सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव। शरीराभिधायिपदानां शरीरिणि शक्तिरितिसिद्धान्तात्। न च स्थाणुः पुरुष इतिवद्बाधार्थं सामानाधिकरण्यं तथा च जितं विवर्तवादेनेति वाच्यम्। "सदेव सोम्येदमि"त्यादि'श्रुता' अग्र इति निषेधविरोधात्। एवञ्च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्विशिष्टम्प्रत्युपादानत्वमुपपन्नम्। भाव्यवस्थाविशेषवतः प्रागवस्थाश्रयत्वमेवोपादानत्वम्। एवञ्चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापि सम्यगुपपन्ना भवति। भवन्मते तु ब्रह्मणोऽतिरिक्तस्य कस्यचिदपि वस्तुनोऽभावात् "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं स्या"दित्यादौ कस्य श्रुतेन किमश्रुतं श्रुतं स्यात्। द्वितीयस्यासद्भावादितीयमपि प्रतिज्ञा निरालम्बना स्यात्। यदि चाधिष्ठानभूतायाश्चिच्छक्तेः पारमार्थिकत्वेन परिज्ञाते तदध्यस्तस्याखिलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेनावगतिर्भवत्येवेत्युच्यते; हन्त! तर्हि परिज्ञानप्रयोजनमेव मन्दफलकम्। पारमार्थिकमिथ्यात्वपदयोः श्रुतिविरुद्धयोरध्याहारः। दृष्टान्तानुपपत्तिश्च स्पष्टैव। तथा सत्येकेन शुक्तिशकलेन सर्वं रजताभ्रकादिकं यथा वा सोम्यैकया रज्ज्वा सर्वं सर्पभूदलनाम्बुधारादिकं विज्ञातं स्यादित्येव ब्रूयात्। यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादित्यादि दृष्टान्तनये तु परिणामवाद एव संगच्छत इति सुधिय एव विभावयन्तु।

न चैवमभेदनिरासे श्रुतिव्याकोपः "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" (छा० ८।३।४) "स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत नहास्योद्ग्रहणायैव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लवणमेवैवं वा अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघनएवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति" (बृ० २।४।१२) "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३।१।३) "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" (मु० ३।२।८) "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" (मु० ३।२।९) इत्यादावसकृत्तथैव प्रतिपादितत्वादितिवाच्यम् । अभेदवादस्योदाहृतश्रुत्यर्थास्पृष्टत्वात् । तत्र च मुक्त्यवस्थैव प्रतिपाद्यते । परं ज्योतिः परमात्मानमुपसम्पद्य याथार्थ्यनावगम्य स्वेनानन्दरूपेण तिष्ठतीति प्रथमश्रुत्यर्थः । द्वितीयायान्तु विज्ञानघनो जीवः पाञ्चभौतिकं देहम्परित्यज्य सर्वाधारे परमात्मनि विनश्यति लीनो भवति देवादिनामरूपपरित्यागादित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तः, "स यथा सैन्धवखिल्य" इत्यादिः । सैन्धवखिल्यो लवणपिण्ड एकरूपताम्भजते । न हि रूपतः पार्थक्यं दृश्यते - परं यतो यत आदिमध्यान्ताचमने तु रसतो वैधर्म्यं ज्ञायत एव । एतदुक्तम्भवति । यथा सैन्धवघन उदके प्रास्तस्तत्र लयमुपगच्छति समानाकारतया च पार्थक्येन ग्रहणं न भवति परं परिमाणविशेषेण रसविशेषेण च शक्यत एव विवेक्तु तथा ब्रह्मलीनोपीति तात्पर्यम् । अत एव "निरञ्जनः साम्यमुपैती"त्यादौ भेदघटितं साम्यमेवाभिहितम् । न केवलं साम्यमात्रमपितु परमं साम्यमित्युक्तम् । अतिशयभेदद्योतनायैव परमेण विशिष्यते । नदीसमुद्रदृष्टान्तेऽपि नामरूपभेदाभाव एव विवक्षितः । तत्रापामाधिक्यं परं केन निवार्यते । एवञ्च भवदभिमताभेदे दृष्टान्त एव नास्तीति सिद्धम् । तस्मात्सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादिदिव्यकल्याणगुणविशिष्टस्य सविशेषब्रह्मण एवात्र शारीरकमीमांसाशास्त्रे जिज्ञासाऽभिमता सूत्रकृतामिति सर्वं समञ्जसम् ॥१। १।१॥

(इति जिज्ञासाधिकरणम्)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(जन्माद्यधिकरणम्)

ब्रह्मप्राप्तिकामस्य मुमुक्षोस्तज्जिज्ञासनमेव युक्तन्तत्र तद्विषयीभूतं ब्रह्म निर्गुणं सगुणं वोतोभयविधश्रुतिप्रतिपाद्यमेकमेवेतिविषये मीमांसकानां धर्मजिज्ञासायाः सम्मतत्वात्, सांख्यवैशेषिकाणाञ्च प्रकृतिपुरुषद्रव्यगुणादिपदार्थतत्त्वज्ञानस्यात्मतत्त्वज्ञानद्वारा मोक्षसाधनत्वाभिमतत्वात्तेषां ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रयोजनत्वाभावेन तन्मतस्य पूर्वपक्षत्वानुपपत्तेरस्मिञ्च्छारीरकमीमांसाशास्त्रे जगत्कारणसगुणब्रह्मजिज्ञासायाः सिद्धान्तितत्वात्तद्दृढीकरणकामो मुनिस्तावदादौ ब्रह्मस्वरूपं लिलक्षयिषुर्विरचयाञ्चकार द्वितीयं सूत्रम्। तत्र मुमुक्षुजिज्ञास्यस्य लक्षणमसम्भवि। चिदचितोरतिरिक्तस्य वस्तुनोऽसिद्धत्वात्, वेदान्तवाक्यानाञ्च कर्मस्वरूपविवेचनायामेवोपक्षीणत्वादित्याशङ्कायामाह—

जन्माद्यस्य यतः १। १। २।

तैत्तिरीये श्रूयते "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति" श्रुतिरियं ब्रह्मणो लक्षणविधयाऽभिधातुमीष्टे न वेति विषयस्तत्र च पूर्वः पक्षः, ब्रह्मणः स्वावधिकोत्कृष्टत्वाभाववत्तयाऽसाधारणधर्मवत्तया स्वसादृश्यवदभावेन "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वे० ६।८) इत्यादिश्रुतिशतैरुपवर्णनात्तादृशनिस्समाभ्यधिकस्य कस्यचिदपि वस्तुनोऽसिद्धतया तस्य लक्षणतः प्रतिपत्तुमशक्यतया तादृशवस्तुप्रतिपादने वेदान्तानाम्प्रामाण्यासम्भवेन जिज्ञासनमसङ्गतम्। यतो वेत्यादिश्रुतिसमधिगतजगज्जन्मादिकारणत्वादिरूपधर्म्माणाञ्च नानात्वाद्धर्मिभेदोऽपि दुष्परिहरः। इतरव्यावृत्तिविशिष्टवस्तुबोधकत्वमेव लक्षणत्वम्। तच्चोपलक्षणविधया वा विशेषणविधया वेत्यन्य-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

देतत्। प्रकृते तु त्वदुक्तरीत्या "यतो वा इमानी" त्यादिश्रुतिर्न कयापि रीत्या ब्रह्मणो लक्षणमभिधाय प्रमाणतामास्थातुमर्हतीत्यार्थवादिकत्वमेव तच्छ्रुतेः स्यात्। किञ्च वेदान्तेषु निर्विशेषमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यते। तथाहि—"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिम्परिपश्यन्ति धीराः" (मु० १।१।६) "यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च" (मु० १।१।७) "यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" "तस्मादेतद्ब्रह्मनामरूपमन्नञ्च जायते" "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी (मु० २।१।३) इत्यादिश्रुतिशतप्रतिपाद्यं निर्गुणं ब्रह्म। यत्र चराचरञ्जगदध्यस्तमस्ति। यच्चराचरात्मकजगत्कल्पनाधिष्ठानं सर्पकल्पनाधिष्ठानरज्जुवत्तन्निर्गुणम्ब्रह्म जिज्ञास्यमित्यतो जगतो ब्रह्मण्यध्यस्तत्वज्ञानायाध्यासस्वरूपं प्राग्विवेचनीयम्। तत्राहुः। युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासस्तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणाञ्च विषयाध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्माँश्चाध्यस्येतरेतराऽविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदमिति ममेदमिति च नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। आह कोऽयमध्यासो नामेति? उच्यते। स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभास इति। अस्यार्थः। परत्र रज्जुशुक्तिकादिषु पूर्वदृष्टानां सर्परजतादीनां योऽवभासः सोऽध्यास इति संक्षिप्तार्थः। ख्यात्यन्तरवादिनां समेषां तान्त्रिकाणामप्यस्मिन्नेवार्थे पर्यवसानमिति मम

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न्तव्यम्। एवञ्च युक्तमेवोक्तलक्षणस्याध्यासस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तत्वम्। नचैकान्ततस्तस्याध्यासस्य सत्त्वमेवेष्टव्यम्। उत्तरकालिकबाधदर्शनात्। अन्यत्र स्थितस्य सत्यभूतस्य रजतादेरत्राभानत्वाद्बाधो युज्यत एवेतितत्त्वम्। नचासत्त्वमप्यपरोक्षतयानुभवविषयतया च प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नचैकस्य सदसत्त्वं परस्परविरोधात्। अतोऽनिर्वचनीयत्वमेवेतिसिद्धम्। स चायमध्यासो द्विविधस्तन्मतावलम्बिभिर्वर्णितः। प्रथमः परत्र परावभास इतिलक्षणोऽध्यासो ब्रह्मणि सर्वचराचरजगदध्यस्तत्वबोधनाय स्वीकृतः। द्वितीयस्तु अतस्मिंस्तद्बुद्धिरितिलक्षणः प्रत्यगात्मनि ब्राह्मणादिदेहेन्द्रियाद्यध्यासबोधनाय स्वीकृत इति। तदयमध्यासः सर्वथाऽक्षम एवाद्वैतमुपपादयितुम्। तथाहि—विचारेण विमृश्यमाने चानेनाध्यासेन न जीवानां न वा प्रकृतितत्कार्याणां देहेन्द्रियादीनां शुक्तिकाकल्पितरजतवद्रज्जुकल्पितसर्पवच्च ब्रह्मणि कल्पितत्वेन मिथ्यात्वमुपपद्यते। किन्त्वनात्मनि देहादावात्मबुद्धिर्या अहं ब्राह्मणः क्षत्रिय इतीदृशी सैवाविद्येति तत्प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इत्येवमादितदीयवचनैरवगम्यते। तानि च जगन्मिथ्यात्वसाधकब्रह्मात्मैकत्वबुद्धेरेव मिथ्यात्वमवगमयन्ति। तथाहि—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभास इत्युपक्रमाभिहिताध्यासलक्षणस्यायमर्थः। परत्रेत्युक्ते परस्येत्यार्थिकम्। परत्र परावभासोऽध्यासः। एतदुपपादकतया स्मृतिरूपत्वं तत्साधनार्थंच पूर्वदृष्टत्वमुपात्तम्। अवभासनमवभासः। परस्य रजतसर्पादेः परत्र शुक्तिरज्ज्वादिष्ववभासः परावभासः। स्मर्यत इति स्मृतिः स्मर्यमाणोर्थः "भावे" (पा० ३।३।१८) "अकर्तरि च कारके संज्ञायामि" (पा० ३।३।१९) ति सूत्रद्वयमधिकृत्य "स्त्रियां क्तिन्नि" (पा० ३।३।९४) तिसूत्रेण भावे कर्तृव्यतिरिक्ते च कर्मादौ कारके संज्ञायामसंज्ञायां क्तिन्विधानात्। "अकर्तरि चेति" (पा० ३।३।१९) चकारस्य संज्ञायाव्यभिचारार्थ-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्वाङ्गीकारात्। स्मर्यमाणस्य रजतादेः रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः शुक्त्यादौ स्मर्यमाणो यो रजतादिरूपोऽर्थस्तस्य रूपमिव रूपमस्य ब्रह्मणि जगदध्यासस्येति स्मृतिरूपोऽन्यत्र पूर्वदृष्टस्य रजतादेरपदार्थस्य यथा शुक्तिरज्ज्वादावबभासो भवति शुक्तिरज्जुस्वरूपानभिज्ञानां न तत्र वस्तुतो रजतादिरस्ति तथा ब्रह्मण्यधिष्ठाने चराचरस्य जगतोऽवभासमात्रं भवति। तत्स्वरूपज्ञानविधुराणामित्यधिष्ठाने ब्रह्मण्यारोप्यस्य जगतोऽत्यन्ताभाव एव दर्शितो भवति। एवञ्च भ्रमदशायामप्रतीयमानत्वे सत्यारोप्यस्याश्रयत्वमधिष्ठानत्वं यथा रज्जुः सर्पस्याधिष्ठानम्। प्रतीयमानत्वे सत्यारोप्यस्याश्रयत्वमधिष्ठानत्वमपि द्वितीयलक्षणम्। तदुदाहरणञ्च, यथा शुक्तिकाऽऽरोप्यस्य रजतस्याधिष्ठानमित्यधिष्ठानलक्षणं दृष्टान्ते साङ्गत्यमुपैति। प्रकृते त्वस्याध्यासस्याधिष्ठानानुपपत्तिरिति स्पष्टम्। एतदुक्तम्भवति। पूर्वदृष्टस्य रजतसर्पादेरवभासः शुक्तिरज्ज्वादौ कल्प्यते। अन्यत्र रजतसर्पादेः सत्यत्वं शुक्तिरज्ज्वोस्तदवभासस्य मिथ्यात्वञ्च निर्बाधम्। अन्यथा पूर्वदृष्टयो रजतसर्पयोर्मिथ्यात्वाङ्गीकारे तयोरसत्ययोरन्यत्रावभासानुपपत्तेरित्यध्यासवादासिद्धयाद्वैतासिद्धिः। परत्र परावभास इत्येतावन्मात्रमेवाध्यासलक्षणमिति चेत्तर्हि परत्र परावभासस्य मिथ्यात्वं परत्र परशब्दवाच्ययोः शुक्तिरजतयोरिव ब्रह्मजगतोरुभयोः सत्यत्वमेवापन्नमन्यथा परस्य मिथ्यात्वाङ्गीकारे तदवभासवचनानुपपत्तेरध्यासवादासिद्धयाऽद्वैतासिद्धिरित्यद्वैतसाधनाक्षमस्याध्यासस्य सार्थक्यं साकारे श्रीरामचन्द्रचरणे निष्पद्यते। तथाहि, तत्रावभासमानानां जगद्धर्माणां शोकमोहक्रोधादीनां मिथ्यात्वनिष्पत्त्या परत्र श्रीरामचन्द्रे परस्य शोकमोहादिजगद्धर्मस्यावभासः। परत्र परावभास इत्यध्यासलक्षणस्य सार्थक्यसम्भवः। ब्रह्मणि चराचरजगदध्यस्तत्ववादस्य सर्वथानर्थक्यनिष्पत्तेश्च। किम्बहुनोक्तेन, वेदशास्त्राणां समेषां ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन मिथ्यात्वकथनमन्त-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रेण ब्रह्मणोऽद्वैतत्वासिद्धिः। तेषां मिथ्यात्वस्वीकारे मिथ्याभूतै-र्वेदान्तवाक्यैस्तत्त्वमस्यादिभिस्साधितस्य ब्रह्मण्यद्वैतस्य मिथ्यात्वोप-पत्त्या ब्रह्मणोपि मिथ्यात्वोपपादकोऽयमद्वैतसाधकोऽध्यासोऽनादर-णीय इति। किञ्च जगन्मिथ्यात्वसाधनसमर्थस्याध्यासस्य परैरङ्गीकृतस्य कर्तृत्वं ब्रह्मणो जीवानां वा ? नाद्यः। ब्रह्मणस्तत्कर्तृत्वे तस्याधिष्ठा-नानुपपत्तिरज्ञत्वापत्त्या संसारित्वापत्तिश्चानिवार्या स्यात्। न द्वितीयः। जीवानां ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन तस्मिन्नेव ब्रह्मणि जगदध्या-सस्य कर्तृत्वानुपपत्त्या संसारित्वानुपपत्तेः। नचोभयोस्तदिति-वाच्यम्। दृष्टान्तासिद्धेः। तथाहि—यथा शुक्तिकायां रजतमध्यस्तं तत्र न रजतशुक्तिकयोरुभयोरन्यतरस्य वा तत्कर्तृत्वं, किन्तु तदन्येषां तत्र भ्रान्तिमतां मनुष्याणामेव। एवं रज्जौ सर्पाध्यासस्य कर्तृत्वं नाधिष्ठानभूतायाः रज्जोर्नचाध्यस्तस्य सर्पस्योपपद्यते। उपपद्यते चान्येषां भ्रान्तिमतां प्राणिनाम्। तथाधिष्ठाने ब्रह्मणि सर्वं चरा-चरात्मकं जगदध्यस्तमित्यत्रापि नाधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणस्तत्कल्पि-तस्य जगतो जीवानां वाध्यासकर्तृत्वमुपपद्यते न वा भ्रान्तिहेतुकः संसार उपपद्यते। एतदध्यासकर्तृत्वादिकं ब्रह्मणि जगज्जीवभ्रान्ति-मतां ब्रह्मजगद्भिन्नानामेव सम्भवति। नचैतादृशा ब्रह्मतदध्यस्त-जगज्जीवभिन्नाः केप्युपलभ्यन्ते येन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुभयोरपि सामञ्जस्यं निर्वहेदित्यत्र संक्षेपः। स्यादेवम्। नास्माभिस्तल्लक्षण-मध्यासस्य सिद्धान्ततयाऽभ्युपेयते परमतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्युक्तलक्षण एव। अतस्मिन्ननात्मनि देहेन्द्रियादौ तद्बुद्धिरात्मबुद्धिरहं ब्राह्मण-क्षत्रियादिकः स्थूलः कृशः गौरो मूढः काणोऽन्धो बधिरो गच्छामि श्रोता वक्ता द्रष्टा कर्त्ता भोक्ता इत्येवमादिरूपाऽनात्मन्यात्मबुद्धिः। सैवाऽध्यासपदवाच्येत्यर्थकोऽयमध्यास एव यथार्थो लोकशास्त्र-प्रसिद्धश्चास्माभिरङ्गीक्रियत इति तदपि तुच्छम्। स्वाभिमतविरु-द्धार्थोपस्थापकत्वात्। स्वोदीरितग्रन्थविरोधश्च। तथाहि—अध्या-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सेनाऽनेन जीवानाम्प्रकृतेश्च तत्कार्यभूतानां देहेन्द्रियादीनां नित्यत्वमेव साध्यते तदीयग्रन्थस्थतत्प्रकरणोपसंहारस्वारस्यात् । तत्र हि-एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्ष इत्यनेनाध्यासस्यानाद्यनन्तत्वोक्त्याऽऽद्यन्तरहितत्वेनाध्यासस्य नित्यत्वज्ञापनात् । तत्कर्तृणां जीवानामप्याद्यन्तरहितत्वेन नित्यत्वाऽविनाशित्वोपपत्त्या सनातनत्वोपपत्तेः । "अजामेकाम्", "अजो ह्येकः" (श्वे०।४।५।) इतिप्रकृतिजीवयोरजत्वश्रुत्याऽनादित्वेन नित्यत्वोपपत्तेश्च । "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (गी० १३।१९) इति भगवताऽपि जीवानाम्प्रकृतेश्च नित्यत्वसनातनत्वानादित्वबोधनान्नानेन स्वेष्टसिद्धिः । अनात्मन्यात्मबुद्धिमात्रस्य मिथ्यात्वसाधकतयाऽयमध्यासो न ब्रह्मणोऽद्वैतत्वसाधकः । "अपि त्वात्माऽनात्मनोर्जीवदेहयोरन्योन्याध्यासंपर एवेतिसिद्धम् । नन्वत्र मदीयसिद्धान्तग्रन्थे प्रत्यगात्मपदेन ब्रह्मोच्यते तत्र च देहेन्द्रियादीनामध्यस्तत्वेन ब्रह्मणोऽद्वैतत्वं सिद्ध्यतीति चेन्न । जीवस्य चेतनात्मकस्याचेतनदेहेन्द्रियादिपदवाच्यत्वाऽनुपपत्त्या स केन शब्देनोच्यते ? अनात्मन्यात्मबुद्धिरेव जीव इति चेन्न । तस्याः प्रकृतिकार्यत्वेनाऽचेतनरूपायाश्चेतनजीववाचकत्वानुपपत्तेः । न च तत्र ग्रन्थे प्रत्यगात्मपदेन जीव एव गृह्यत इति वाच्यम् । एवं सत्यधिष्ठानत्वेन तस्याध्यस्तत्वाऽसिद्धेः । कल्पितत्वानुपपत्त्या च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तस्यापि सत्त्वेनाद्वैतासिद्धिः । एवञ्च शुक्तौ रजताऽध्यासवद्ब्रह्मणि जगदध्यस्तमस्तीत्ययम्पक्षः कथमपि नोपपद्यते । निरुक्तरीत्या ब्रह्मजीवयोरन्यतरस्याप्युक्ताध्यासकर्तृत्वानुपपत्त्या तत्कर्त्रभावेन तदसिद्धेः ।

एतेनाद्वैतसाधनाय कल्पितस्य ब्रह्मणि जीवभावकल्पितत्वार्थकस्याऽध्यासवादस्य निरासेन तन्नान्तरीयकतयाऽद्वैतसाधनाय

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कल्पिता विवर्तादिवादा अपि निरस्ता वेदनीयाः। तथा च तान्वादानाश्रित्य श्रुतिस्मृतिसूत्राणामानर्थक्येनाऽद्वैतवादस्य निर्मूलकत्वमेवेति। किञ्चैतन्मते जीवभावस्यारोपितत्वेन मिथ्यात्वे तद्मुक्तिमुक्त्युपायबोधकानां शास्त्राणां मिथ्यालापकत्त्वाऽपत्तिः। इमानि सच्छास्त्राणि सृष्ट्यादीनि च परमात्मकर्माणि सर्वथोपयन्ति सार्थकतां जीवानां तत्कर्मणां प्रकृतेश्चानाद्यनन्तत्वपक्ष इति तथैव तत्सामञ्जस्यायावश्यमभ्युपेयम्। अद्वैतवादिमते तु परमपुरुषकर्तृकसृष्ट्यादिकर्मणां वेदान्तादिसच्छास्त्राणां गुरूपदेशस्य चैकान्ततो नैरर्थक्यमेवेति स्पष्टम्। किं चास्याऽध्यासस्यासम्भवोऽपि सुतराम्। तथाहि "सदेव सोम्येदमग्र" (छा० ६।२।१) इत्यादिश्रुतिभिरद्वितीयं स्वसजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यम्ब्रह्मैवाऽग्र आसीदित्यर्थस्तेषाम्, तदा प्रकृतेर्जीवानाञ्चात्यन्ताऽभावात् किं वस्तु स्वस्मिन्नध्यस्य ब्रह्म जीवत्वम्प्राप्नुमिति विवेचनीयम्। सृष्टेः प्राक्काले जीवानामभावेन तत्कृतकर्मणामप्यसत्त्वादन्तरेण निमित्तं प्रयोजनञ्च जीवशरीरेन्द्रियादीनां रचनानुपपत्तेः। उपादानपदार्थान्तराभावोऽप्यनुपपत्तावुपोद्बलकम्। तदानीम्प्रकृतेरतिरिक्तस्य पदार्थस्याऽभावात्। प्राक्काले जीवासत्त्वमेव जीवकृतकर्मासत्त्वमवगमयत्तत्फलभोगायापेक्षितशरीरेन्द्रियादिरचनायास्तैश्च सह जीवसम्बन्धस्य व्यतिरेकं ग्राहयति। न च "तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इतिश्रुतिप्रामाण्यात्स्वेच्छया लीलार्थमेव स्वस्मात्प्रकृतिमुत्पाद्य तां च स्वस्मिन्नध्यस्य स्वयं जीवभावम्प्राप्य तयैव प्रकृत्या जीवार्थं शरीरेन्द्रियाणि कारितानीति वाच्यम्। इच्छावत्त्वेन ब्रह्मणि सगुणत्वसिद्धेः। स्वस्मादचेतनप्रकृत्युत्पादकत्वेन विकारितया निर्विकारत्वप्रतिपादकश्रुतेर्व्याकोपः। स्वस्यैव ब्रह्मणो जीवत्वेऽज्ञत्वसंसारित्वादिदोषाणाम्पुनरनुद्धारश्च। अपि च प्रकृतिरपि किं निमित्तीकृत्य कस्मै प्रयोजनाय जीवसाधनभूतानि शरीरेन्द्रिया-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दीनि रचयेत्। न तावत्कर्मणो निमित्तत्वम्। क्रियत इति हि कर्म तस्य च स्वतोऽनादित्वाऽसिद्धेः। शरीरेन्द्रियसम्बन्धात्पूर्वन्तु तेषामभाव एव। "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते" (गी० १३।२०) इतिभगवद्वचनबलाच्च प्रकृतेरेव शरीरेन्द्रियरचनकर्तृत्वमकामेनाऽपि भवताऽभ्युपेयम्। तच्च त्वन्मते नैव सम्भवति। ननु ब्रह्मणा स्वयं कर्माण्युत्पाद्य जीवैः कारितानि कर्माणि वा निमित्तीकृत्य तत्फलभोगार्थं प्रकृत्या तच्छरीरेन्द्रियाणि कारितानीति चेन्न। जीवानां शरीरेन्द्रियसम्बन्धात्पूर्वं शरीरेन्द्रियरहितानां तेषां कर्मकर्तृत्वानुपपत्या ब्रह्मणा तैः कारयितृत्वाऽसम्भवात्। कथञ्चित्सम्भवेऽपि विषमसृष्टिहेतुभूतविषमकर्मकारयितृत्वेन तस्मिन् वैषम्यनैर्घृण्यापत्तेः। एवञ्च जीवानां शरीरेन्द्रियसम्बन्धमन्तरेण कर्मकर्तृत्वानुपपत्त्या कर्म्मणामसिद्धिः। तदतिरेकेण शरीरेन्द्रियरचनायास्तैश्च सह जीवसम्बन्धासम्भवादितीतरेतराश्रयदोषस्य दुरुद्धरत्वादयमद्वैतवादो ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याऽखिलस्य मिथ्यात्वबोधकतया प्रकृतेर्जीवानाञ्च तद्मुक्तिमुक्त्युपायबोधकश्रुतिस्मृत्यादीनां सर्वेषां शास्त्राणां मिथ्यात्वापादनमन्तरेण स्वरूपसत्तामलभमानः श्रुतिसत्तर्कादिविरोधितया स्वयमेव मिथ्यात्वङ्गत इति सर्वतश्चतुरस्रम्। तस्माज्जगत्सृष्ट्यादिरचनानुगुणं जीवानां तत्कर्मणां प्रकृतेश्चाऽनाद्यनन्तत्वमवश्यमङ्गीकार्यम्। तथा चात्र श्रुतिस्मृतयः "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वे० ४।५) "गौरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभावनी" "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (कठ० २।५।१३) "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" (गी० २।२०) "नित्यः सर्वगतस्थाणुरचलोऽयं सनातनः" (गी० २।२४) "वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्" (गी० २।२१)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (गी० १३।१९) इत्याद्या जीवप्रकृत्योरुभयोरपि नित्यत्वमनादित्वञ्चाहुः । जीवकर्मणामपि "न कर्मणामनादित्वात्" (ब्र० २।१।३५) इतिसूत्रेणानादित्वमभिदधते सूत्रकृतः। एतदुक्तम्भवति—तत्तज्जीवानुगुणकर्माण्यपेक्ष्य सत्यसंकल्पो भगवान् भोग्यभोगस्थानभोगोपकरणशरीरेन्द्रियसङ्घातान् सृजति । तत्र जीवो देहेन्द्रियादीन्यात्मन्यध्यस्यात्मानञ्च देहेन्द्रियादिष्वध्यस्याहं ब्राह्मणः क्षत्रियः स्थूलो गौर इत्यादिदेहधर्मानहं मूकः काणोऽन्धो बधिरः पङ्गुर्वक्ता श्रोतेत्यादीन्द्रियधर्मान् संकल्पविकल्पाध्यवसायादीनन्तःकरणधर्माँश्चाऽऽत्मन्यध्यस्याऽनात्मनि देहादावात्मबुद्धया ब्राह्मणादिजात्युचितानि तदनुचितानि च कर्माणि कुर्वंस्तैः कर्मभिः सुदृढं बन्धमाप्नोतीत्येतादृशोऽध्यास उपपद्यत इति वैदिकः पन्थाः । एवञ्चायमध्यासो जीवकर्तृक एव तथाहि—जीवशब्दवाच्यः प्रत्यगात्माऽनादितोऽविद्यातिरोहितस्वस्वरूपप्राकृतशरीरेन्द्रियादिकमनादितः स्वात्मन्यध्यस्य तत्कृतानि कर्माणि स्वात्मकृतान्येवेति मन्वानस्तैर्निबद्धो ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं ममैते स्त्रीपुत्रादय इत्येवं व्यवहरति । तथा चानात्मवस्तुषु देहादिष्वात्मबुद्धिरूप एवाऽध्यासपदेन लोकशास्त्रयोः प्रसिद्धः । एतादृशाध्यासशालिनामेव जीवानां संसृतिभाक्त्वं श्रुतिस्मृत्यादौ मुहुर्निर्दिष्टम् । स्वस्वरूपाज्ञानवतामेव जीवानां विपरीताध्यासेन प्राकृतगुणैः क्रियमाणानि शुभाशुभानि कर्माणि स्वानुष्ठितानीतिमन्वानानां तैर्भूयो भूयो बन्धप्राप्तिः । यस्त्वात्मनिष्ठो गुणकर्मविभागं विवेकेनावगच्छति स पुनस्तैर्न बध्यत इति स्पष्टीकृतोऽयमर्थो भगवद्गीतायां "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमितिमन्यते" (गी० २। २७) ततस्तैरेव कर्मभिर्निबध्यत इति शेषः । "तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते"

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(गी० २।२८) "यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥" (गी० १८।१७) तेन कर्मणा न निबध्यत इति भावः। अस्य च निरुक्तस्याध्यास-मूलकस्वरूपाज्ञानस्य नाशः स्वरूपज्ञानाऽवाप्तिश्च भगवदनन्यभक्ति-हेतुकभगवत्प्रसादेनैव सिध्यतीत्युक्तम्। तत्रैव 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (गी० १०।१०) "तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशया-म्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" (गी० १०।११) भगवद-नन्यभक्त्यैव स गुणातीतः सन् ब्रह्मभावाय कल्पत इत्यप्युक्तम्। "माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यै-तान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" (गी० १४।२६) अत्र ब्रह्मणो भावो ब्रह्म-भूयं तस्मा इति भावः। अस्याश्चानन्यभक्तेः परमात्मसाक्षात्कार एव फलं तदेवाधिगम्य तं प्राप्नोति। तथा च "अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते" (गी० १४।२६) "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" (गी० १८।५४) "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" (गी० १८।५५) इत्यादिभिः प्रति-पादितम्। सा चैषाऽनन्यभक्तिर्भगवदेकचिन्तनतत्सततस्मरण-तदेकमनस्त्वतदेकनिदिध्यासनादिशब्दवाच्येति च तदीयैरेव वचो-भिरवगम्यते।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ गी० ९।२२॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ गी० १२।८॥
अत ऊर्ध्वं प्रारब्धकर्मभोगानन्तरमित्यर्थः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यन्ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥ गी० १८।६५॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ गी० ८।१४॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ गी० १२।६॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ गी० १२।७॥

न चिरादिति—अस्यैव प्रारब्धदेहस्यान्त इत्यर्थः । अत्रत्याभ्यां "अत ऊर्ध्वं निवसिष्यसि मय्येवे" ति "तेषामहं समुद्धर्त्ता न चिराद्भवामी" त्याभ्यां भगवदनन्यभक्तस्य वर्तमानदेहस्यैवान्ते भगवत्प्राप्तिर्भवतीत्यवसीयते ।

भक्तिश्चेह निदिध्यासनापरपर्य्याया ध्रुवाऽनुस्मृतिरूपैवेति निर्णयः । तथा च श्रुतयः "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" (छा० ७।२६।२) "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः (श्वे० ६।२३) अत्र ध्रुवास्मृतिपराभक्तिपदाभ्यां सैवानन्यभक्तिरभिधीयते । "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मु० १।१।५) इत्यादावपि परा विद्ययाऽक्षरप्राप्तिरिति दर्शितम् । अखिलोपनिषत्सारभूतश्रीगीताशास्त्रे वेदवेद्यो भगवान् परमपुरुषोऽपि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥ गी० ११।५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ गी० १८।५५॥

इत्यादिभिर्भगवदनन्यभक्तेरेव मोक्षोपायत्वं द्रढयति । एवञ्चा-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्रेदं ग्रन्थहृदयम्। ध्रुवास्मृतिपदाभिलप्यापरभक्तिरेवाऽनन्येत्यादि-विशेषणेन विशेष्यते। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन विभिन्नशब्दैर्भगवत्प्राप्तिरूपपरमपुरुषार्थोपायतया सैव सर्वत्राभिधीयते। मुमुक्षुभिरुपायान्तराणि दूरतः सन्त्यज्य केवलमनन्यभक्तिरेव ग्राह्येति सिद्धम्। तथैव च श्रीगीताचार्याणां सिद्धान्तः।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहन्त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ गी० १८।६६॥

इत्यादौ स्वोदीरितवाक्यान्तेऽष्टादशाध्याये तैरेव प्रकटीकृतः। ज्ञानस्यैव परा काष्ठा भक्तिरिति तु प्रागेवाभिहितं जिज्ञासाधिकरणे इति सर्वं निरवद्यम्। न च वाच्यं "निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वे० ६।१९) इत्यादिभिर्वेदवचनैर्ब्रह्मणो निर्गुणत्वे तस्य मानसव्यापाररूपज्ञानसाध्यत्वादन्यविधाया भक्तेरुपायत्वासम्भव इति। निर्गता निकृष्टाः सत्त्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमितिव्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्। तथैव च।

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ वि० पु०॥
योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः।
प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते॥ प० पु०॥

इत्यादौ प्रतिपादितत्वात्प्राकृतसत्त्वादिगुणनिषिद्धे सति ब्रह्मणो दिव्यगुणाश्रयत्वसिद्धेः। तादृशदिव्यगुणानाञ्च 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।८) इत्यादौ स्वाभाविकत्वाभिधानात्प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वं, दिव्यगुणवत्त्वेन च सगुणत्वमित्युभयथैकस्यैव ब्रह्मणो निर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम्। किञ्च श्रीरामस्य जगत्कारणत्ववादिन्यः काश्चन श्रुतयः स्फुटं कारणस्वरूपस्य तस्य साकारत्वं सगुणत्त्वमक्षरब्रह्मणो जगत्कारणवादिन्यश्च काश्चन श्रुतयस्तस्याक्षरस्य निराकारत्वं निर्गुणत्वञ्चा-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हुरित्युभयत्राऽविरोधार्थं स एवार्थस्तान्त्रिकैरङ्गीकर्तव्यः । अन्यथा परस्परविरोधे व्याहतत्वादप्रामाण्यमेव निष्पद्येत । न च विनिगमनाविरहान्निराकारनिर्गुणवादिन्य एव श्रुतयः सगुणब्रह्मरचितानि सृष्टयादीन्यनूद्य तेषाञ्च निर्गुणे निराकारे ब्रह्मणि रज्जौ कल्पिताहिरिव कल्पितत्वेन मिथ्यात्वमवगमयन्तीति वाच्यम् । आरोपवादस्य च प्रागेव श्रुतिस्मृतियुक्त्यादिभिर्निराकृतत्वात् । पूर्वोदीरितार्थ एव सामञ्जस्ये कल्पितत्वकल्पनाया अनुपपत्तेश्च । तस्मात् प्राकृतगुणाकारयोरसत्त्वेन निर्गुणत्वं निराकारत्वं दिव्यस्वासाधारणगुणाकारवत्त्वेन च सगुणत्वं साकारत्वं चैकस्यैव ब्रह्मण उपपन्नतरमिति न कश्चिद्विरोधः । एवञ्च सर्वज्ञसर्वशक्तिमज्जगत्कारणनिर्गुणसगुणादिपदवाच्यं श्रीरामतत्त्वं तदेव जगत्कारणं ब्रह्मेत्युच्यतेऽनेनसूत्रेण । बाह्यकरणानपेक्षामलशाश्वतिकापरोक्षानुभवविषयाखिलपदार्थत्वमेव चात्र सर्वज्ञत्वम् । एतस्यैव सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।३) इत्यधिकरणेनापि निरस्तसमस्तदोषकलङ्कवेदकारणत्वेन तस्य जगत्कारणस्य सर्वज्ञत्वप्रतिपादनेन सगुणत्वज्ञापनात् । "तत्तु समन्वयात्" (ब्र० सू० १।१।४) इति सूत्रेणाऽपि तस्मिन्नेव जगत्कारणे सर्वासां सगुणनिर्गुणार्थकेन प्रतीयमानानां श्रुतीनां समन्वयत्वप्रदर्शनेन तस्यैकस्यैवाक्षरब्रह्मात्मसदादिसामान्यपदबोध्यस्य श्रीरामादिविशेषपदवाच्यस्य दिव्यगुणवत्त्वेन प्राकृतहेयगुणरहितत्त्वेन च सगुणत्वनिर्गुणत्वज्ञापनादिति न क्वापि ब्रह्मणो गुणशून्यत्वं निर्विशेषत्वञ्चेति मन्तव्यम् । उत्तरत्राऽपि "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१५) इति सूत्रेण स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कार्यावस्थस्य ब्रह्मणः सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टकारणावस्थब्रह्मानन्यत्वबोधनात् । तस्यैव चतुर्थाध्याये "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्र० सू० ४।१।१) इतिसूत्रेण निदिध्यासनपदवाच्याया ब्रह्मणः सततचिन्तनलक्षणायास्तद्भक्तेरेव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मोक्षसाधनत्वज्ञापनात्। "ध्यानाच्च" (ब्र० सू० ४।१।८) इति सूत्रेण च तस्या एव दृढीकरणात्। अनुपदं सगुणब्रह्मण एव शास्त्रे प्रतिपादनम्। एतादृशानन्यभक्तेरेव चोपरिष्टान्मुक्तिरूपं फलं दर्शितं तत्कर्तुरिति "तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया" (ब्र० सू० ४।२।१६) इत्यधिकरणे स्पष्टम्। तत्र हि सगुणब्रह्मणः श्रीरामस्यानवच्छिन्नध्यानाभ्यासवतोऽनन्यभक्तस्य शताधिकया सुषुम्नया नाड्या शरीराद्बहिर्निःसृत्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगतस्य मुक्तिः प्रतिपादिता। विद्यासामर्थ्यादित्यत्र विद्यापदेन यस्य पूर्वमावृत्तिर्विहिता तस्यैव ब्रह्मनिदिध्यासनरूपस्य तच्चिन्तनापरपर्यायस्य ग्रहणमितिसूत्रकारीयः पन्थाः। एतेन ज्ञानिनः सद्योमुक्तेरभावोऽपि व्यक्तो भवति। अत एवास्मिन्प्रकरणे "प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात् स्पष्टो ह्येकेषाम्" (ब्र० सू० ४।२।१२) इत्यत्राऽयं विचारः प्रसृतः। तथाहि—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" क० २।६।१४॥

इतिनिर्दिष्टस्य सर्वकामविमुक्तस्य "अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सद् ब्रह्माप्येति" (बृ० ४।४।६) इतिकाण्वशाखीयवचनैकार्थरूपस्य "योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ती" तिमाध्यन्दिनशाखास्थवाक्यस्यानुसारेणात्मकामाच्छारीराज्जीवात्प्राणोत्क्रान्तेः प्रतिषेध एवाऽनेन सूत्रेण क्रियते। सर्वकामविमुक्तस्यात्मकामस्य शताधिकया सुषुम्नया नाड्या शरीरान्निस्सृत्याऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनत्वज्ञापनात्सद्यो न मुक्तिब्रह्मविदामपि तु देवयानादिक्रमेणैवेतिसिद्धान्तः। ननु "अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते (बृ० ४।४।७) इतिश्रौतवचनाद् घटे भिन्ने

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यथा तदवच्छिन्नाकाशो महाकाशेन सममेकतामुपयाति तथाऽज्ञाने तत्प्रयुक्तकर्मबन्धे चोच्छिन्ने विमुक्तः सर्वकामोऽत्रैव यदेशे भोगसमाप्तिस्तदेश एव ब्रह्मैक्यं प्राप्नोति नत्वर्चिरादिना तस्य गतिर्भवतीति सद्योमुक्तिरुपपद्यत एवेति चेन्न। "योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति" (बृ० ४।४।६) "श्लोको भवति" (बृ० ४।४।७) एतद्वाक्यार्थप्रकाशकः श्लोकोऽपि मन्त्रोऽपि विद्यत इत्यर्थः। स चायम्।

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ बृ० ४।४।७॥

इति समानार्थकश्रुतिश्लोकयोश्च न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति माध्यन्दिनीयवचनबलात्प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थकतयैवोपपत्तावनेकश्रुतिस्मृतिविरोधेन तत्रैव लयत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। प्राणादिविशिष्टात्मकस्य जीवस्य तु देवयानेनैव गतिरितिसिद्धम्।

'ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येती' त्यस्य तात्पर्यसौकर्याय ब्रह्मसदृशः सन्नित्यर्थोऽवश्यमास्थेयः। अन्यथा ब्रह्म सन्नितिसम्पन्ने ब्रह्मणि भूयो ब्रह्मण्यप्ययवचनस्य वैयर्थ्यात्। नहि स्वस्मिन् स्वस्यैवाप्यय इति युक्तम्। तथा सति" न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति किन्तु सार्वत्रिकं यद्ब्रह्म तद्रूपतामासादयन्तीत्येव ब्रूयात्। यथा "देवो भूत्वा देवं यजेत्" "राजा भूत्वा राजानं मिले"दित्यादौ देवसदृशः सन् राजसदृशः सन्नित्यर्थस्तथैव प्रकृतेऽपीति ज्ञेयम्। सादृश्यञ्च भेदघटितमेवेत्यन्यत्र विस्तरः। काठके तु "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (क० २।६।१४) "यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्" (क० २।६।१५) "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥" (क० २।६।१६) इत्येवं

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्रमस्तत्राऽपि 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते', इत्यस्यानन्तरं "शतञ्चैके तिवाक्यमुक्तम्। तदयमभिप्रायः। सर्वकामविमुक्तस्य पुंसः शत धिकया सुषुम्नया शरीरान्निर्गत्यार्चिरादिमार्गेणैव ब्रह्मलोकावाप्तिः "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (क० २।६।१४) इत्यस्मिन् भागे विद्यमा नस्यात्रपदस्यैतस्यां सर्वकामविमुक्तदशायां ब्रह्म समश्नुते प्राप्ने तीत्यर्थस्यैव सम्यक्त्वादिति न केनापि प्रमाणेन सद्योमुक्तिः सिद्ध तीति मनीषिभिर्विभावनीयमिति दिक्।

स्यादेवं, जीवब्रह्मणोर्भेदस्यौपाधिकत्वादभेदस्यैव च पारमार्थि कत्वान्मुक्त्यवस्थायां तयोः पार्थक्येनावस्थानमयुक्तम्। विगलि बन्धस्य जीवस्य ब्रह्मरूपापत्तिरेव हि मुक्तिस्तथा चार्चिरादि तस्य देशान्तरे गमनासम्भवात्। नैतदेवं, सशरीरनिःशरीरभेदे मुक्तात्मनां द्वैविद्धथमुदीरितं भगवता बादरायणेन फलाध्याये। त सशरीराणां भोगस्य जाग्रद्भोगसमानत्वाच्चिन्मात्रस्वरूपेणावस्थि तानां निश्शरीराणां तु स्वाप्निकभोगवद्भोगार्जकत्वान्मुक्त्यवस्थाय मपि जीवब्रह्मणोर्भेदस्यैव पारमार्थिकत्वम्। शरीररहितस्य मुक्त त्मनोर्ब्रह्मैक्ये पार्थक्येन स्थित्यभावात्। तमुद्दिश्य स्वप्नभोगवद्भोग वचनस्य वैयर्थ्यमेव स्यात्। मुक्तिदशायामत्यन्तविलक्षणत्व एव तत्सार्थक्यं सम्भवति नतरामन्यथा। अत एव "जगद्व्यापारव प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" (ब्र० सू० ४।४।१७) इत्यधिकरणे ऽशरीराणां जगद्व्यापारकर्तृत्वप्रतिषेधेन ब्रह्मणो न्यूनत्वबोधनाद् लक्षण्यं स्पष्टमेव। मुक्तब्रह्मणोरुभयोः सत्यसंकल्पत्वेऽपि जगद्व्य पारांशे मुक्तस्य सत्यसंकल्पताया अकार्यकारित्वेन चिन्मात्रस्वरूपे स्थितानामपि निश्शरीराणां मुक्तानां स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां तत्सत्य संकल्पत्वस्य च परमात्माधीनत्वसिद्धया तेषां परमात्मशेषत्व स्पष्टमेव। तस्माच्छाश्वतिकं सार्वत्रिकञ्च परमात्मनः सकाशाज्जीवा भिन्नत्वमेवेति वेदवित्समयः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एवञ्चास्याः शारीरकब्रह्ममीमांसाया उपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मणः शेषित्वसगुणत्वादिप्रतिपादकतया तन्मध्यभूतानामपि सूत्राणां संदंशपतितन्यायेन तत्प्रतिपादकत्वमेवेति मन्तव्यम्। यथा चाखिलश्रुतिस्मृतिसूत्राणां सगुणब्रह्मण्येव तात्पर्यन्तथा स्फुटीकरिष्यामस्तत्तत्सूत्रव्याख्यायामित्यत्र सङ्क्षेपः। अथाऽखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणविशिष्टस्यैव परमात्मनो वेदान्ततात्पर्य्यावसितत्वात्कुत्रचिदापाततो निर्गुणे तात्पर्यमपर्यन्तीनां वस्तुतो भावतो दिव्यकल्याणगुणानभिधायिनीनां श्रुतीनां तादृशपदानामेवार्थोऽवसरतो विविच्यते। तत्रादौ यत्तद्रद्रेश्यमग्राह्यमित्यादिपूर्वोदाहृतश्रुतेरयमर्थः। अद्रेश्यम्—अदृश्यमितियावत्। तच्च न तावद्दर्शनविषयतां निषेधति। "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" (बृ० ६।५) "क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २।८) "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (क० २।३।१२) इत्यादौ स्वकण्ठरवेणैव तस्य दर्शनीयत्वप्रतिपादनात्। अतोऽद्रेश्यमित्यस्य स्थूलबुद्धया द्रष्टुमशक्यं लौकिकप्रत्यक्षाविषयमितियावत्। सूक्ष्मबुद्धिविषयत्वन्तूदाहृतश्रुत्यनुरोधेन वर्तत एवेति भावः। अग्राह्यम्—अपरिच्छिन्नत्वेनातिसूक्ष्मतया चाकाशादिवदग्राह्यमित्यर्थः। अगोत्रमिति—स्वसमानद्वितीयब्रह्माजनकत्वात्पुत्रपौत्रादिरूपलौकिकपरम्पराया अप्रवर्तकत्वाद्वा गोत्रमवंशमित्यर्थः। अवर्णमिति—ब्राह्मणादिवर्णरहितं प्राकृतनीलपीतादिवर्णरूपरहितं वेत्यर्थः। न तु रूपात्यन्ताभाववत्वं सूक्ष्मबुद्धिद्दश्यत्वानुपपत्तेर्दिव्यरूपवत्वमिति भावः। अचक्षुःश्रोत्रम्—चक्षुःश्रोत्रानधीनदर्शनश्रवणमित्यर्थः। तदपाणिपादम्—पाणिपादापरतन्त्रग्रहणगमनमित्यर्थः। अव्ययमिति—विविधविकाररहितम्। भूतयोनिमिति—आकाशादिभूतकारणम्। धीराः परिपश्यन्तीति श्रुतेरर्थः। "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्", "यस्य ज्ञानमयं तपः" "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्र-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृ० ३।८।९) इत्याद्यनेकश्रुतिभिः प
मात्मनः सर्वोत्कृष्टदिव्यज्ञानादिमत्त्वेन न क्वापि निर्विशेषप्रतिपा
कत्वम् । एतच्च तत्तदुपनिषद्विवेचनायां स्पष्टीकृतमस्माभिरिति त
एवाऽवगन्तव्यं विशेषार्थिभिरतोऽत्र विरम्यते ॥

एतदुक्तम्भवति–"यतो वा इमानि" (तै० ३।१) इति श्रुतिर्
सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मण एव लक्षणं दर्शयति । तदेव
जगत्कारणम् । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि"त्यादौ यथा यत्सत्स
वाच्यं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्माग्रे आसीत्तदेव च स्थूलचिदचि
शिष्टस्य कारणं तथात्रापि ज्ञेयम् । परं, पराभिमतस्य केवलस्य नि
शेषस्य ब्रह्मणस्तु न जगतः कारणत्वं केनापि प्रमाणेन शक्यमवग
नतरामारोपितस्य तस्य । तत्र सुखादिभोक्तृत्वविकारित्ववैषम
नैर्घृण्याज्ञत्वाद्यनेकदोषापत्तेः । किञ्च विवर्तादिवादानां माथिम
प्रवर्तकानां विपरीतार्थोपस्थापकत्वमपीत्यपरं दूषणम् । एतत्सर्वं प्रा
वास्मिन्नधिकरणे सप्रमाणमभिहितम् । इदानीं प्रसङ्गात्तेषामसाङ्ग
युक्त्यपेशलत्वञ्च परेषां युक्तिवादानेवाश्रित्य पुनः प्रदर्श्यते
तथाहि—यथा दृष्टान्ते रज्जुरधिष्ठानं तत्रारोपितः सर्पस्तस्य चारो
विषयीभूतस्य सर्पस्य रज्जौ नहि भवति न वा भ्रान्तिकृतं तस्य दुः
मपि, किन्तु रज्जुसर्पभिन्नानां तद्द्रष्टॄणां मनुष्याणामेव तत्र भ्रान्ति
स्तद्धेतुकञ्च दुःखम्भवति । दार्ष्टान्ते त्वधिष्ठानं ब्रह्म तस्मिन्नेव चरा
चरात्मकं जगत्कल्पितम् । न हि तस्य कल्पितस्य जगतो ब्रह्मणि
जगद्भ्रान्तिस्तद्धेतुकं संसरणञ्चोपपद्यते, किन्तु तद्भिन्नानामेव ता
ष्टॄणां स्यात् । न चैतादृशा ब्रह्मचराचरात्मकजगद्भिन्नाः केचिद
उपलभ्यन्ते येषामियं भ्रान्तिस्तत्कृतञ्च दुःखं स्यात् । ब्रह्मजगद्भिन्न
कस्यचिदनुपलम्भाद्दृष्टान्तासङ्गतिः स्पष्टैव । तस्माच्छ्रुतिस्मृति
प्रमाणसमधिगतस्य सुखदुःखादिभोक्तुश्चराचरात्मकस्य जगत
कल्पितत्वानुपपत्त्या केवलस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वानिष्पत्तेरद्वैत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सिद्धिः । एवं बिम्बात्मकाधिष्ठाने कल्पितस्य प्रतिबिम्बस्य न बिम्बे प्रतिबिम्बभ्रान्तिरपि तु तदुभयभिन्नानां तद्द्रष्टृणामेव तथा दार्ष्टान्तेऽपि ब्रह्मतदाभासभूतानां जीवानां न तदाभासभ्रान्तिरुपपद्यते किन्तु तदन्येषाम् । तादृशाश्च ब्रह्मतत्प्रतिबिम्बरूपजीवभिन्नाः सत्प्रत्ययवन्तो न केऽप्युपलभ्यन्ते यत्र दृष्टान्तसमर्थनं स्यात् । किञ्च तदीयसिद्धान्ते निरवयवस्य विभुनो ब्रह्मणः प्रतिबिम्बोऽप्यसम्भवी । सावयवस्य परिच्छिन्नस्यैव च लोके प्रतिबिम्बदर्शनात् । न च दृष्टमेव लोके निर्मलाम्भसि निरवयवस्यापि नभसः प्रतिबिम्ब इति वाच्यम् । तत्र वियति विद्यमानस्य मेघस्य समीरणसमीरितरजःकणधूमादीनामेव च दृश्यमानत्वात् । वस्तुतो न नभसो निरवयवत्वं नीरूपत्वञ्चेत्यन्यत्र निरूपितम् । अतोऽस्यापि दृष्टान्तस्यासामञ्जस्यम् । द्विचन्द्रभ्रान्तिरप्यधिष्ठानरूपैकस्मिंश्चन्द्रमसि नारोपितद्विचन्द्रस्य न वाधिष्ठानभूतस्यैकस्य तस्य किन्तु अङ्गुल्याद्यवष्टम्भेन दोषवशात्तमोऽपहतचक्षुष्कस्य कस्यचित्तैमिरिकस्यैवेति नानेनापि दृष्टान्तेन भवदभिमतसिद्धिर्दृष्टान्तवैपरीत्यञ्च । नन्ववच्छेदवादमाश्रित्यैवैतत्सर्वं सङ्गतम् । तथा हि—यथा घटावच्छिन्नाकाशो भिन्ने च घटे महाकाशेनैक्यमुपगच्छति तथाविद्यावच्छिन्नो जीवशब्दाभिधेयश्चेतनो ज्ञानेनोच्छिन्नायामविद्यायां ब्रह्मैक्यमापद्यत इति चेत्तदपि न युक्तिसहम् । यथा घटावच्छिन्नाकाशप्रदेशात्तदवच्छेदके घटे प्रदेशान्तरं गते सति तेनावच्छिन्नः प्रदेशान्तराकाशः पूर्वावच्छिन्नाकाशादन्य एव पूर्वप्रदेशाकाशस्य तदवच्छेदकघटादिगमनवत्प्रदेशान्तरे घटादिना सह गमनानुपपत्तेः । तथैवाविद्यावच्छिन्नात्प्रदेशान्तरस्थब्रह्मैकांशाज्जीवादविद्यात्मकजीवोपाधिरूपशरीरे प्रदेशान्तरं गते सति तदवच्छिन्नस्याचलस्य ब्रह्मैकांशस्य पूर्वांशादंशान्तरत्वोपपत्तेः । ततश्चाविद्यावच्छिन्नपूर्वावस्थावच्छिन्नब्रह्मांशानुष्ठितपुण्यपापयोरुत्तरावच्छिन्नब्रह्मां-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शस्य भोग्यत्वापत्त्याकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ स्यातामिति महद्
णम्। अपि च देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितस्य भवदभिमतस्य ब्रह्मण
ऽविद्यावच्छिन्नत्वस्वीकारे तत्र वस्तुपरिच्छेदत्वापत्त्या देशकाल
वस्त्वपरिछिन्नत्वरूपतल्लक्षणस्य बाधादित्ययमवच्छेदवादोऽपि दुर्व
एवेति सिद्धम्।

एवमन्येषामप्यापातरमणीयानां पराभ्युपगतनिर्विशेषब्रह्माद्वै
साधकानां युक्तिदृष्टान्तानां तत्त्वधिया विमृश्यमाने वालुकालयमि
सर्वथा शिथिलमूलत्वमिति नाविदितं सत्पक्षपातशेमुषीकाणामं
विरम्यते। तथा च यदा ब्रह्मणि धर्मिभेदो न प्रसज्यते तदा निस्स
मान्यधिकाद्वितीयवस्तुसम्भवेन लक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यत्वात्
वेदान्तानां प्रामाण्यसम्भवात् समारम्भणीया ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव
त्येवेति निश्चयः।

अत्रायमधिकरणार्थसङ्ग्रहः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्
येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म
(तै० ३। १) "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न
ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पू
पुरुषेण सर्वम्" (श्वे० ३।९) "रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे
चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परम्ब्रह्माभिधीयते"-(रा० पू० ता
१।६) एवमाद्योऽस्य विषयः। अत्र जगज्जन्मादिकं ब्रह्मणो लक्ष
सम्भवति न वेति संशयः। न सम्भवतीत्येव युक्तमनियतत्वात्
तथाहि—समानधर्मिकव्यावर्तकधर्माणां स्वाश्रयभेदकत्वनियमा
न्मादिकारणत्वरूपधर्मैर्धर्मिभेदः प्राप्नोत्येव।

यत्र तु मानान्तरेणैक्यावगमश्छत्री वासस्वी कुण्डली देवदत्
इत्यादौ तत्र न भेदः। प्रकृते ब्रह्मणो मानान्तरागोचरतया धर्मि
भेदः स्यादेव। तस्मान्नेदं कारणत्वादिकं तस्य लक्षणम्, अपि तु
जगन्निष्ठजन्मादिकमेवोपलक्षणविधया लक्षणं वक्तव्यम्। तदपि

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्षोदक्षमम्। ब्रह्मणि ज्ञाताकारज्ञाप्याकारयोरभावात्। यथा पूर्वं गगने ज्योतिर्मण्डलमालोकयतः पुंसोऽस्ति कश्चिच्चन्द्रप्रातिपदिकस्यार्थः योऽसावस्मिञ्ज्योतिर्मण्डले वर्तत इति जिज्ञासोरत्र ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्र इति प्रष्टारम्प्रत्युपदेशस्तद्विदः शाखाग्रे चन्द्र इति। तत्र ज्योतिर्मण्डलसम्बन्धितेजःपिण्डत्वन्त्ववगतत्वाज्ज्ञाताकारश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वमेव ज्ञाप्यमिति तस्य ज्ञाप्याकारत्वम्। तदुभयमपि ब्रह्मणि न सम्भवति मानान्तराविषयत्वात्तस्य। न च "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।२) इतिस्वरूपलक्षणप्रतिपन्नस्य सत्यत्वादेर्ज्ञाताकारत्वमस्त्येवेति वाच्यम्। तथा सत्युक्तस्वरूपपरिचायकवाक्येऽनेकधर्माणां कीर्तनाद्धर्मिभेदस्तदवस्थ एव। तत्राप्युपलक्षणत्वस्वीकारे तु प्राक्स्वरूपसिद्ध्यर्थं किञ्चिल्लक्षणान्तरमपेक्षणीयं तत्सिद्धये पुनर्लक्षणान्तरमित्यनवस्था। एतत्परिजिहीर्षया "यतोवे" त्यादिवाक्यापेक्षायां पुनरन्योन्याश्रयः। ज्ञाप्याकारस्तु तथाप्यनुपपन्नो यतो वेदान्तानामद्वैते निर्विशेषे तात्पर्यग्राहकत्वात्। तस्माद्ब्रह्मणो लक्षणस्यासम्भवान्न ब्रह्मविचार आरम्भणीय इति पूर्वपक्षिते ब्रूमो जन्मादेः प्रपञ्चगतत्वेन यद्यपि ब्रह्मण्यसम्बन्ध एव तथापि तटस्थतया लक्षणं सम्भवत्येव। यत्तूदीरितमुभयाकारासम्भवादिति। तन्न। लक्षणजिज्ञासाप्रयोजकज्ञानविषयाकार एव ज्ञाताकारस्तज्ज्ञानमादायैवात्र ज्योतिश्चक्रे कश्चन्द्र इति प्रश्नः सङ्गच्छते। तस्य च "शाखाग्रे चन्द्र" इति युक्तमेवोत्तरम्। प्रकृतेऽपि मुमुक्षुजनैरुपासनीयताज्ञाननिमित्तकत्वाद्भार्गवप्रश्नस्येति ज्ञाताकारः सम्भवत्येव। एवं ज्ञानविषयरूपवस्तुनि निरतिशयतत्त्वं ज्ञाप्याकारोऽपि युक्त एव। किञ्च चन्द्रपदाभिधेयं किमस्तीत्यापाततः प्रतिपत्तिमतः प्रश्नस्य "शाखाग्रे चन्द्र" इति तटस्थेन लक्षणमभिधायोत्तरदर्शनादुपलक्ष्योपलक्षणभावस्य सर्वथासामञ्जस्यादिमावेवाकारौ कथमत्र न ग्राह्यौ? तौ च प्रकृते स्त एवेति न किञ्चिदनुपपन्नम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सविशेषस्यैव च ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वात्तदेवात्राभिहितम् । एतेन "परिज्ञाते लक्ष्ये तत्परिच्छेदकलक्षणानर्थक्यमज्ञाते तु तस्मिंल्लक्षणजिज्ञासानुदयात्कथमिह ब्रह्मणो लक्षणनिर्वचनमि" त्यपि परास्तम्। एतत्पूर्ववृत्तवेदाध्ययनादिनाऽऽपाततोऽवगते ब्रह्मण्येव तत्प्रसर इति शक्यमेव लक्षणतः प्रतिपत्तुं ब्रह्म तस्मिंश्च वेदान्तानाम्प्रामाण्यसम्भवादारम्भणीयैव ब्रह्ममीमांसेति सिद्धान्तः ॥ १।१।२ ॥

इति जन्माद्यधिकरणम्

(अथ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्)

पूर्वाधिकरणसिद्धं जगत्कारणं ब्रह्म किम्प्रमाणकमित्यत आह-

शास्त्रयोनित्वात् । १। १। ३।

शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्य तच्छास्त्रयोनि, तस्यभावस्तत्त्वं तस्माद्ब्रह्मणि शास्त्रमेव प्रमाणमिति यावत्। एवञ्च पूर्वोत्तरसूत्रयोः साध्यहेतुपरतयैकार्थ्येऽपि निराकरणीयसंशयपूर्वपक्षादिभेदादधिकरणभेदः। तथा हि अत्र "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" (तै० ३।१) इत्यादिवाक्यद्वारा शास्त्रं विषयः। "अत्र जगत्कारणतया सिद्धं ब्रह्म शास्त्रमात्रगम्यमाहोस्वित् प्रमाणान्तरेणापि गम्यमिति संशयः। तत्राप्राप्ते शास्त्रमर्थवदितिसिद्धान्ताच्छास्त्रस्य प्रमाणान्तराप्राप्तविषयत्वान्न परमात्मनि शास्त्रं प्रमाणं किन्त्वनुमानमेव। तथा हि इदम्परिदृश्यमानं नानासंस्थानविशिष्टं जगत्सावयवत्वाज्जन्यमेव । न चैतदस्मदादिपरिमितशक्तिसाध्यमिति तज्जनकतया कश्चिदखिलभुवननिर्माणनिपुणोऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् सार्वज्ञ्यविशिष्टो लाघवादेकः कर्ता सिद्धयति । स एव परमपुरुषपदवेद-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नीयम्ब्रह्मेत्यनुमानगम्यत्त्वान्न शास्त्रमात्रगम्यमिति प्राप्ते ब्रूमः। पूर्वाधिकरणे जगत्कारणतयावगतम्ब्रह्म शास्त्रैकगम्यम्। तथा हि "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३।९।२६) इत्यत्रौपनिषद इति शैषिकोऽण् तथा चोपनिषदा वेदान्तशास्त्रेण दृष्टत्वोक्त्या तन्मात्रप्रमाणकत्त्वम्। "नावेदविन्मनुते तम्बृहन्तम्" "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क० १।२।९) इत्यादिवचनैरुपनिषदेकवेद्यत्वस्य ब्रह्मणोऽन्तरेण वेदान्तशास्त्रं बोधासम्भवात्। यच्च कार्यलिङ्गकानुमानेन तत्सिद्धिरित्युक्तम्। तत्तुच्छम्। अनुमानस्य प्रत्यक्षसापेक्षत्वात्। यथा प्रत्यक्षेण महानसादौ धूमधूमध्वजयोर्व्याप्तिमाकलय्य पर्वते धूमेन हेतुना वह्निमनुमानुमानिकः कश्चित्प्रवर्तते। तथा ब्रह्म न क्वापि सपक्षेऽध्यक्षं यतः केनापि सम्बन्धग्रहणमुपपद्येत। अतो नानुमानगम्यम्। ननु यथा नगरसेतुप्रासादादीनां विलक्षणानामपि पुरुषकर्तृकत्वमध्यक्षं तथेदं महीमहीधरादिकं परमेश्वरो निर्मिमीतेत्यस्त्येव सम्बन्धग्रह इति चेन्न। तथा सत्यनेककर्तृकत्वसिद्धावप्येककर्तृकत्वासिद्धेः। व्याप्तिबलेनैव साध्यमानस्यतः परमात्मनः कर्मपारतन्त्र्यप्रसङ्गापातश्च। तस्मान्नानुमानात्सर्वशक्तिसमन्वितस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानभूतस्य परमात्मनः सिद्धिरिति युक्तमेव शास्त्रैकवेद्यत्वम्ब्रह्मणः।

अल्पाक्षरैरपि बह्वर्थस्य कक्षीकरणादेव सूत्राणां सूत्रत्वमित्यर्थान्तराभिधानेऽपि वाक्यभेदादिदोषाभावाद्वर्णकान्तरमस्य सूत्रस्य प्रदर्श्यते। ब्रह्मणो जगत्कारणत्वसमर्थनेन तस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्त्यादिमत्त्वमर्थात्सूचितम्। तदिदानीमनेन द्रढयति। शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कर्तृत्वेन कारणं तत्त्वात् परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं भवतीति सूत्रार्थः। सर्वज्ञकल्पस्य वेदस्योत्पादकत्वाद्ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वमेव सिद्धयतीति भावः। अत्र "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुराणम् (बृ० ४।५।११) इत्यादिवाक्यमस्य सूत्रस्य विषयः। अत्रेदं वाक्यं वेदकारणत्वेन ब्रह्मणः किं सर्वज्ञत्वं साधयत्याहोस्विन्नेति संशयः। तत्र वेदकर्तृतया नेश्वरस्य सार्वज्ञ्यं साधयितुमिष्यते—"वाचा विरूपनित्यया" इत्यादिश्रुतयो वेदवचसामनादित्वं नित्यत्वञ्चाहुः। स्मृतयोऽपि—"अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवे" त्यादिनाऽऽम्नायस्य नित्यत्वमेवाभिदधते। तस्मान्नित्यनिर्दोषवेदस्य पौरुषेयतया तत्कर्तृकत्वेन सार्वज्ञ्यं ब्रह्मणो दुर्घटम्। न च वेदोपादानतयापि तत्सिद्धिः उपादानोपादेययोरेकशक्तिमत्त्वस्य तन्तुपटादिषु जगदुपादानब्रह्मतत्कार्यजगत्सु च प्रायेण व्यभिचारितयाऽप्रयोजकत्वेनाऽऽगमस्य व्यवहितविप्रकृष्टाद्यखिलार्थप्रकाशनशक्तिशालित्वेऽपि ब्रह्मणि तदसम्भवात्। कथञ्चित्तत्सम्भवेऽपि श्रुतविषयीभूतानां प्रावृट्पयोधरपतन्तीनां वर्षधाराणां धरणितलजुषां रजःकणानाञ्च संख्यादीनान्तथाप्यनधिगतत्वाच्च न ब्रह्मणो वेदकर्तृतया सार्वज्ञ्यसिद्धिरिति प्राप्ते, ब्रूमः।

ब्रह्मणोऽखिलवेदकर्तृतया युक्तमेव सार्वज्ञ्यम्। तथा च श्रुतयः "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि" (बृ० ४।५।११) "छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्" (यजु०मा०सा०) अत्र निःश्वसितवदन्तरेण प्रयत्नं वेदानां तत एव प्रादुर्भावनिश्चयात्तद्रचितत्वमेव। न ह्यत्र वेदकर्तृत्वमर्थमासाद्य तदनुगुणप्रणयनकर्तृत्वम्। येन विषयसापेक्षत्वेन पौरुषेयत्वं स्यात्। न वा केवलमुच्चारयितृत्वरूपम्, आधुनिकाध्यापकसादृश्याद्वेदस्य विशिष्टब्रह्मकर्तृकत्वासिद्धेः। तदा ह्यखिलवेदोच्चारयितृतया ब्रह्मणो विशिष्टाध्यापकत्वस्य लाभेऽपि तावन्मात्रस्यापुरुषार्थतया वैलक्षण्यं न स्यात्। तस्मात्सृष्टेः प्राग्यादृशक्रमस्वरवर्णानुपूर्वीमानासीत्तथैवास्मिन्कल्पे विरचय्य प्रवर्तयति कारुणिकः परेशः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तथा च "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इतिवेदोदितदिशा प्राचीनानुपूर्व्यनुरूपरचनया सार्वज्ञ्यं वेदकर्तृत्वञ्च स्वतः सिद्धयति। इदमेव च परमात्मनोऽन्यविलक्षणं वेदकर्तृत्वं यत् परसङ्कलितक्रमवर्णाद्यनधीनतया स्वातन्त्र्येण पूर्वकल्पीयस्वकृतक्रमादिवदिदानीमपि तत्कर्तृत्वम्। एवञ्च वेदानाम्परमात्मकर्तृकत्वेऽपि क्रमवर्णपदवाक्यतदर्थानामनादिसिद्धानामेव तादवस्थ्यात्तेषां स्वतः प्रामाण्यमपौरुषेयत्वञ्च सुतरां सम्पन्नम्। न चात्राऽप्रामाण्यशङ्कासम्भवः। अखिलहेयप्रत्यनीकस्यावाप्तसमस्तकामस्य नित्यनिरतिशयज्ञानानुभूयमानपरावरवस्तुतत्त्वस्य निरवधिकमहिम्नो वीतरागस्य श्रीरामस्य ब्रह्मणो वचनत्वात्। रागद्वेषदोषदूषितान्तःकरणानां विप्रलिप्सूनां वचनेष्वेव तत्सम्भवः। न चैवं शब्दराशिरूपस्य वेदस्योत्पत्तिमत्त्वेन त्रिक्षणावस्थायित्वमेव स्यादितिवाच्यम्। 'योऽयं वेदो विष्णुशर्मणाधीतः स एव रामशर्म्मणाऽप्यधीयत' इतिप्रत्यभिज्ञाबाधात्। अत एव न वर्णानामपि त्रिक्षणावस्थायित्वम्। यः ककारश्चैत्रेणोक्तः स एव मैत्रेणापीतिप्रत्ययात्। नापि वर्णानामाकाशगुणत्वमणुत्वं वा। मानाभावात्। 'यष्टकारोऽयोध्यायां श्रुतः स एवानेन काश्यां श्राव्यत' इत्यादिव्यापकत्वप्रतीत्यनुरोधाच्च।

एतेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोभागस्यैव श्रोत्रत्वात्तदसाधारणगुणस्तत्समवेत एव वर्णात्मा शब्द इत्यपि कणभुङ्मतमपास्तम्॥ श्रोत्रादीन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वेन न केवलं गुण एव शब्दः। गुणगुणिनोः समवाय इतिनियमस्य चाग्रे समवायनिराकरणावसरे निरसिष्यमाणत्वात्। श्रोत्रेण च शब्दव्यञ्जकध्वनेरेव ग्रहणम्।

एवञ्चाम्नायस्य वर्णपदवाक्यव्यूहरूपस्य परमात्मन एव सृष्ट्यादावुत्पादकत्वम् स्थूलव्योमादिवत्। एवं प्रलयकालिकध्वंसप्रतियोगित्वेनैव वर्णानां सामञ्जस्ये नान्तराल उदयापायौ श्रुतियुक्तिसम्मतौ। ककारादिवर्णानामनन्तप्रागभावप्रध्वंसादिकल्पनायां गौर-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वात्। तथा च, नवकृत्वो गोशब्द उच्चरितः स एवायं ककार इति प्रामाणिकप्रतीतिप्रत्यभिज्ञाभ्यामुत्पन्नः को विनष्टः क इत्यादिप्रत्ययस्याप्रामाण्यमेवास्थेयम्। वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिगतोत्पत्तिनिरूपितसम्बन्धविषयत्वेन वा प्रामाण्यम्।

तस्मान्नित्यत्वाद्वर्णानां तत्समुदायस्यार्थप्रत्यायकत्वेनैव सर्वेष्टसिद्धौ नातिरिक्तः स्फोटात्मा कश्चिद्धर्मी युक्तिसहः शक्योङ्गीकर्त्तुम्। विकल्पासहत्त्वात्। स च यत्किञ्चिद्वर्णव्यङ्ग्यो यावद्वर्णव्यङ्ग्यो वा ? न तावदाद्यः। घशब्देनैव व्यञ्जिते स्फोटे सम्पन्नायां घटपदार्थावगतौ टवर्णवैयर्थ्यम्। न द्वितीयः तेषाम्मते वर्णानामाशुविनाशितया सम्मेलनाऽसम्भवात्। नित्यत्वे तु वर्णानामसन्मतपातात्तत्समुदायेनैवार्थप्रतीतौ किमन्तर्गडुना स्फोटेनेति राद्धान्तः। अतो न वेदानाम्पौरुषेयत्वं त्रिक्षणावस्थायित्वमित्यलमनेनाप्रस्तुतकथालापेनेति।

एवञ्च ब्रह्मकर्तृकवेदस्य सर्ववस्त्ववभासकत्वं ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यमन्तरेणानुपपन्नं सत्तस्य तद्द्रढयति। एतच्च परमात्मनः सर्वज्ञत्वमाजानसिद्धमहर्षिभ्यो योगिजनेभ्यः सर्वार्थावभासकवेदेभ्यश्च विशिष्टम्। विशिष्टज्ञानबलक्रियादिशक्तिशालित्वादनवरताखिलार्थसमर्थप्रत्यक्षकारित्वाच्चेति।

न च "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" (य० २५।१०) "प्रजापतिस्तपोऽतप्यत्" इत्यारभ्य "तेभ्यस्तप्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त" इत्यादिप्रमाणबलेन न परमात्मनो वेदकर्तृत्वं किन्तु हिरण्यगर्भादेरेवेति वाच्यम्। "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु" (श्वे० ३।४) "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे० ६।१८) इत्याद्यनेकश्रुतिभिर्हिरण्यगर्भादीनामपि कार्यभूतानामपि ब्रह्मैव कारणम्। "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा" इतिवेदप्रदानकर्तृतया

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रुतत्वात्परमात्मन एवादौ वेदोत्पादकत्वम् । देवान्तरेभ्यो या वेदोत्पत्तिः श्रुता सा तु परम्परया वेदप्रवर्तकतयैवेति योजनीयम् । एवञ्च सर्वज्ञवेदकर्तृतया परमात्मनः सर्वज्ञत्वं सिद्धम् ।

अत्र तृतीयवर्णकमपि—यथा "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र०सू० १।१।२) इत्यनेन ब्रह्मणः सर्वशक्तिमत्त्वञ्चार्थान्निष्पन्नं भवति तथात्रापि ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वज्ञकल्पस्य वेदस्य कारणत्वादिति सर्वज्ञत्वमानुमानिकमेव न श्रौतम् । इतीमं पक्षमपाकरोति । ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिमच्च । कुतः ? शास्त्रयोनित्वात् । वेदप्रमाणत्वात् । "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" (मु० १।१।९) "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वे० ६।८) इत्येवमादिश्रुतिप्रमाणत्वादित्याहुस्तदिदं द्वितीयेनैव वर्णकेन गतार्थप्रायम् ॥ १।१।३ ॥

इति शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥

अथ समन्वयाधिकरणम्

एवं शास्त्राऽनारभ्यत्वप्रयोजकीभूतामाशङ्कां प्रथमाधिकरणेनापाकृत्य ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वञ्च प्रतिपाद्य किंलक्षणकं किम्प्रमाणकञ्च तदितिशङ्कायाः परिजिहीर्षया लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धेः सर्वतन्त्राभ्युपगततया द्वितीयाद्यधिकरणद्वयेन ब्रह्मणो लक्षणं प्रमाणञ्च यथाविध्युपदर्शितम् । अथापि वेदान्तादिशास्त्रप्रमाणकत्वं परिनिष्पन्नस्य ब्रह्मणो न सम्भवति तत्र तेषां समन्वयासम्भवादितीमां शङ्कां निराचिकीर्षुश्चतुर्थाधिकरणमारचयाञ्चकार ।

यत्तु समन्वयात् ॥ १। १। ४॥

समन्वयपदं व्यतिरेकस्याप्युपलक्षणम् । तत् जगत्कारणत्वं ब्रह्मणः सर्वेषु कार्येषु पदार्थेषु व्यापकत्वेन समन्वयात् । 'पादोस्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विश्वा भूतानि' (शु० य० ३१।३) इति सर्वत्र ब्रह्मसमन्वयश्रवणात्। "त्रिपादस्यामृतं दिवि"(शु० य० ३१।३) इति तस्य जगद्व्यतिरेकश्रवणाच्च। "स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा" (शु० य० ३१।१) इति ब्रह्मणः सर्वत्र जगति समन्वयश्रुतेः । "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" इति तस्य जगद्व्यतिरेकश्रवणाच्च जगदन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य जगत्कारणत्वमुपपद्यते । त्रिवृत्कृतानां मृदादीनां तत्कार्येषु घटादिषु व्यापकत्वेन समुच्चयस्य तद्व्यतिरेकस्य च दर्शनेन तेषां तत्कारणत्वनिश्चयात्। तदृष्टान्तेन ब्रह्मणोपि व्यापकतया सर्वजगत्समन्वयेन तद्व्यतिरेकेण च सर्वजगत्कारणत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ।

अस्य सूत्रस्य द्वितीयं वर्णकम् । पूर्वसूत्रे ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।१।१) इत्यादि शास्त्रं प्रमाणमित्युक्तम् । तत्किं तस्य जगत्कारणत्वमात्रे वेदः प्रमाणमुत तत्प्राप्त्यत्वेपीति संशये "जन्माद्यस्य यतः" इत्युक्ते जगत्कारणत्वमात्रे इति प्राप्त आह—"तत्तु समन्वयात्" इति । तत् पूर्वोक्तं जिज्ञास्यं जगत्कारणं ब्रह्म प्राप्यत्वेन वेदान्तप्रतिपाद्यं भवति। कुतः ? तस्य तत्प्राप्त्युपायस्य ज्ञानध्यानादेस्तत्प्राप्तेश्च पुरुषार्थत्वेन प्रतिपाद्यतया सर्वेषु वेदान्तवाक्येषु समन्वयात् । सर्वे वेदा ब्रह्मज्ञानध्यानद्वारा तत्प्राप्तौ पर्यवस्य तत्प्राप्तिमेव परमपुरुषार्थं बोधयति।

अथवा ब्रह्मणः सर्ववेदवेदान्तवेद्यत्वं संभवति नवेति संशये न संभवति । कुतः ? वेदानामनेकवस्तुप्रतिपादकत्वेन ब्रह्मैकपरत्वानुपपत्तेः, इति प्राप्त आह—"तत्तु समन्वयात्" इति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थः । तज्जगत्कारणं ब्रह्म सर्ववेदवेदान्तप्रतिपाद्यत्वेन वेद्यम् । कुतः ?

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः ।
प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधिनः ॥
वदन्ति सकला वेदाः ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यभियुक्तवचनात्सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मस्वरूप-तत्प्राप्तृजीव-स्वरूप-ब्रह्मप्राप्त्युपायस्वरूप-तत्प्राप्तिस्वरूप-तत्प्राप्तिफलस्वरूप-तत्तद्विरोधिस्वरूपबोधनद्वारा तात्पर्यतो ब्रह्मण्येव समन्वयात् । सर्वेषां वेद-वेदान्तानां ब्रह्मप्राप्तावेव तात्पर्यावगमात् सर्ववेदवेदान्तप्रतिपाद्यं तद्वेद्यं च ब्रह्मैव । तथा हि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) "चिन्मयस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः" इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मस्वरूपं बोधयन्ति । "जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः स्वप्नस्थानोन्तः प्रज्ञः सुषुप्तस्थान एकीभूतः" इत्याद्याः श्रुतयः प्रकृतिसंश्लिष्टं प्रत्यगात्मस्वरूपं बोधयन्ति । "स आत्मा विज्ञेयः सदोज्ज्वलोविद्यातत्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदाद्वैतरहित आनन्दस्वरूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहः" इतीमाः प्रकृतिविविक्तं प्रत्यगात्मस्वरूपं बोधयन्ति । "य एषोक्ष्णि पुरुषो दृश्यते" इत्यादिना प्रकृतिसंश्लिष्टमवस्थात्रयविशिष्टं प्रत्यगात्मानमुपदिश्य "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपरररस्ति । अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (य० ८।१२।१) इति प्रकृतिविविक्तमवस्थात्रयरहितं प्रत्यगात्मस्वरूपं चोपदिश्य; "एवमेवैष संप्रसादोस्माच्छरीरात्समुत्थाय" इति कर्मबन्धविमुक्तं प्रत्यगात्मस्वरूपमुपदिश्य "स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति०" इत्यादिना मुक्तस्य व्यवहारानुपदिष्टवानिन्द्रं प्रति प्रजापतिः । एवमनेकाः श्रुतयो ब्रह्मैकसततस्मरणचिन्तनलक्षणायास्तद्भक्तेस्तत्प्राप्त्युपायत्वं बोधयन्ति ।

अत्राथातो ब्रह्मजिज्ञासेतिसूत्रेण यद्ब्रह्म जिज्ञास्यत्वेनोक्तं तदेव जन्माद्यस्येत्यनेन जगज्जन्मादिकारणमस्तीत्युक्तम् । तस्यैव शास्त्रयोनित्वादित्यनेन सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्वमर्थाच्छ्रुतिप्रमाणाच्चोक्तम् । तस्यैव तत्तु समन्वयादित्यनेन सर्ववेदवाक्यप्रतिपाद्यत्वं वेदान्तैकवेद्यत्वं चोक्तम् । तदेव "सदेव सोम्य" (छा० ६।२।२) "तदैक्षत बहु स्याम्" "आत्मा वा इदमेक" "स ऐक्षत लोकान्नुसृजत"

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"स इमाँल्लोकानसृजत" इत्येवमादिश्रुतिप्रतिपाद्यं भवति सर्वासां सृष्ट्यादि श्रुतीनामेकवाक्यत्वात्। तस्यैव ध्यानेन सततचिन्तनेन प्रत्यक्षत्वम् "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" "ततस्तु तं निष्कलं ध्यायमानः" इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपादितम्। निदिध्यासनपदमत्र निरन्तरध्यानार्थकम्। अनया श्रुत्यात्मनिदिध्यासनस्य तद्दर्शनतत्साक्षात्कारसाधनत्वं ज्ञाप्यते इति संक्षेपः ॥१।१।४॥

इति समन्वयाधिकरणम्।

(ईक्षत्यधिकरणम्)

एवमत्र मुमुक्षुभिश्चिन्तनीयशास्त्रे वेदविहितकर्मोपासनानुष्ठानेन प्रक्षीणाशेषकल्मषस्य परतत्त्वबुभुत्सोरादौ ब्रह्मजिज्ञासामभिधाय द्वितीयतृतीयसूत्राभ्यां ब्रह्मणि लक्षणं प्रमाणं चोपवर्ण्य तुरीयेण सर्वेषां वेदान्तानां समन्वयस्तत्रैवेतिप्रतिपादनादनया चतुस्सूत्र्या संक्षेपेण सर्वोऽपि शास्त्रार्थः प्रदर्शितः। स चायमेवार्थोऽग्रे प्रमाणसद्युक्तीरवलम्ब्य विस्तरेण चतुर्लक्षण्याऽभिधास्यते। अथ कस्यचिदप्यभिमतवस्तुनो विवेचनीयत्वे कथमत्र निश्शङ्कम्प्रमाणानां कात्स्न्येन समन्वयः? कथमन्यैरुद्भावितानां विरोधानाम्परीहारः? कथं वा तत्साधनम्? किञ्च तत्फलम्? इत्येवं शंकासन्निपातः समुत्पतति द्रागेव तद्विवेचनारम्भ इति तन्निराकरणमत्र समन्वयविरोधपरिहारसाधनफलाख्यैरध्यायैःस्पष्टमुदटङ्कि। तत्रास्मिन् समन्वयाध्याये चतुर्भिः पादैर्वेदान्तानां चिदचिच्छरीरकब्रह्मस्वरूपप्रतिपादन एव तात्पर्यम्। तत्राप्यनेन प्रथमचरणेनेत आरभ्य केषाञ्चित् स्पष्टब्रह्मलिङ्गकानां वाक्यानां विचारः प्रस्तूयते।

पूर्वं जगत्कारणं सर्वज्ञं सर्वशक्तिमत् सर्वज्ञत्वेन सर्वशक्तिमत्त्वेन च सगुणमेव ब्रह्म वेदान्तवेद्यं प्रतिपादितम्। तस्यैव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लक्षणादिविवेचनेन तत्र वेदान्तसमन्वयेन च वेदान्ततात्पर्यविषयत्वमिति निश्चितम्। इदानीं जगत्कारणत्वरूपं यद्ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं तन्न सम्भवति जगत्कारणतया प्रधानादीनामेव नियतत्वादितीमां शङ्कां निराकर्तुकामो निरुक्तस्य ब्रह्मलक्षणस्यान्यपरत्वं न सम्भवतीत्यावेदयितुमाह—

ईक्षतेर्नाशब्दम् १। १। ५।

छान्दोग्ये सद्विद्यायां समाम्नायते— "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छा०६।२।३) इत्यादिसद्विद्याप्रकरणमेवास्याधिकरणस्य विषयः। तत्राखिलजगत्कारणतया प्रकृतवाक्ये श्रूयमाणं यत्सत्पदवाच्यं तत्सांख्यतन्त्राभिमतं स्वतन्त्रमानुमानिकं प्रधानमाहोस्विदचित्पदवाक्यप्रधानशरीरकम्ब्रह्मेति संशयः।

तत्रायम्पूर्वः पक्षः। स्वातन्त्र्येण सांख्योक्तस्य त्रिगुणस्य प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वं युक्तम्। न ब्रह्मणः। तस्य जन्यधर्मानाश्रयत्वेनापरिणामित्वात्। प्रधानन्त्वचेतनं परिणामि नित्यमेकञ्च। तथा च प्रकृतश्रौतवाक्य इदमितिप्रसिद्धमचेतनं त्रिगुणात्मकं कार्यं निर्दिश्य तस्य स्थूलावस्थाराहित्यं सद्रूपत्वमेवोच्यते सदासीदिति। तस्यैकस्य विज्ञानेन तत्कार्यरूपस्यांखिलप्रपञ्चस्य विज्ञानमप्युत्तरत्रोदीर्यमाणं सामञ्जस्यमुपैति। अत एवान्यत्र "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् (श्वे० ४।५) इति स्पष्टमेवाभिहितम्। प्रधानस्यैव जगदुत्पादकत्वम्। सत्त्वगुणांशेन शुक्लां रजोंऽशेन लोहितां तमोगुणांशेन च कृष्णां प्रजां जनयन्तीमित्यर्थात्। तच्च प्रधानं प्रकृतिशब्दवाच्यं सदादौ महदादिक्रमेण परिणमते। एवं चतुर्विंशतितत्त्वात्मकं व्यपदिश्यते। तदुक्तम्। "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" (सां० का० ३)। प्रधानस्य जगत्कारणत्वे रजःसत्वयोगादस्य क्रिया ज्ञानशक्तिरपि सम्भवत्येव । ज्ञानस्य सत्त्वधर्मत्वात् । "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च" (गी० १४।१७) इतिवाक्यात् । एतस्य सत्त्वस्य च प्रधानावस्थायामपि वर्तमानत्वादचेतनस्यापि प्रधानस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्वंञ्चोपचर्यते । सत्त्वस्य स्वयमक्रियत्वेन प्रकाशाख्यज्ञानवृत्तेरनुत्पादकत्वेऽपि चलेन रजसा तदुपष्टम्भात्तज्जनने प्रवृत्तिः । तमस्त्वावरकत्वेन गुरुत्वेन चोभयोः सत्त्वरजसोः क्वचित्प्रवर्तयत्क्वचिन्निवर्तयन्नियमयति । एते च प्रवृत्तिनिवृत्ती तदुत्तरकार्यानुमेये । गुणानामयं स्वभावोऽभिहितः सांख्यकारिकायाम्—

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरुवर्णकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

एवञ्च ब्रह्मणः सत्त्वरजस्तमोगुणवत्त्वाभावेन न ज्ञानादिशक्तिमत्त्वं, न वा जगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वमुपपद्यते । प्रधानस्य तु त्रिगुणत्वादुक्तक्रमेण ज्ञानशक्त्यादिमत्त्वं, जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वं न विरुद्ध्यते। अत एव "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः" (गी० ३।२७) इति स्पष्टमुक्तम् । तस्मादत्र सर्वज्ञं सर्वशक्तिमत्प्रधानमेव जगत्कारणम् । तदेव च सदेवेत्याद्यखिलकारणवाक्यानिप्रतिपादयन्तीतिप्राप्तेः ब्रूमः । ईक्षतेर्नाशब्दमिति । अशब्दमानुमानिकं सांख्याभिमतं प्रधानं न सदेव, न सत्पदवाच्यं जगत्कारणम् । "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेय" तीक्षतिधातोः श्रवणात् । अपि तु ब्रह्मैव जगत्कारणम् । तस्य चेतनत्वेनेक्षणसम्भवात् । प्रधानस्य त्वचेतनत्वेन तदसम्भवात् ।

एवमाम्नायते—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत" (छा० ६।२।३) इतिसृष्टिवाक्ये जगत्कर्तृ

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कृतस्येक्षणस्य श्रवणाच्चेतनात्मककर्तृकत्वमेवेक्षणस्यानुभविकत्वात्। चेतनरूपस्य ब्रह्मण एव जगतः कारणत्वं न त्वचेतनस्य प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण। प्रधानस्य तु ब्रह्मशरीरत्वात् तत्पारतन्त्र्येण जगत्कारणत्वम्। अत एव "तदधीनत्वादर्थवत्" (ब्र० सू० १।४।३) इतिसूत्रेण "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) इतिश्रुत्या च प्रधानस्य ब्रह्माधीनत्वेन चेतनव्यतिरिक्तस्य जगतः कारणत्वमभिहितम्। एवञ्चाचेतनस्य प्रधानस्याचेतनांशस्य जगतः कारणत्वोपपत्तावपि न सर्वस्य कारणत्वम्। ब्रह्मणस्तुस्वरूपेणैव तेजोबन्नादिसर्वलोकस्य कारणत्वम्। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्त्वात्। तथा च "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) इति श्रुत्यनुरोधेन सद्ब्रह्मात्मादिशब्दवाच्यं ब्रह्म प्रधानद्वारैव तेजोबन्नादिरूपसर्वलोकमुत्पादयति। तत्राप्यादिसृष्टावान्तरसृष्टौ च स्वस्मिन् सूक्ष्मरूपेणाऽव्याकृतनामरूपाभ्यां स्थितानां सर्वेषां व्याकृतनामरूपात्मिकां सृष्टिं करोति। "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" (बृ० १।४।७) इति श्रुतेः। तदेवमचेतनमात्रस्य प्रधानांशत्वेन विकारित्वादिदोषाणां प्रधान एव पर्यवसानाद् ब्रह्मणो निर्विकारित्वमेव स्वतः सिद्धम्। एवञ्च निर्विकारिणस्तस्य मृदादिस्वरूपस्य घटादिरूपत्वप्राप्तिवत् स्वरूपेणाऽचेतनविकारिजगद्रूपता न सम्भवतीति स्वरूपतो जगदुपादानत्वासिद्धया प्रधानजीवद्वारैव तस्य जगदुपादानत्वम्। तथा च जगतो ब्रह्मोपादानकारणकत्वस्वीकारेऽपि नाद्वैतवादः सिध्यति। तथा सति ब्रह्मकारणवादिमायाकारणवादिवाक्यानामेकवाक्यतासम्पादनेऽपि न कश्चिद्विरोधः।

एवमग्रेऽपि प्रधानकारणत्वनिषेधपराणां सूत्राणां प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वं न सम्भवतीत्यर्थ एव तात्पर्यम्। एतच्च "तदधीनत्वादर्थवत्" (बृ० सू० १।४।३) इति वैयासिकवाक्यान्निश्चीयते।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यदुक्तम्, ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यं सर्वशक्तिमत्वञ्च न सम्भवतीति, तदपि न। ब्रह्मणो नित्यनिर्दोषज्ञानाश्रयत्वात्सर्वसम्भवः। तथैव प्रतिपादितत्त्वात्।

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वे० ६।८) इति तस्य ज्ञानबलक्रियाशक्तीनां नैसर्गिकत्वश्रुतेः सार्वज्ञ्यादिकं सर्वमुपपद्यते। किञ्च यदनुग्रहादिदानीन्तनसिद्धयोगिनामप्यतीतानागतव्यवहितविप्रकृष्टादिविषयकं ज्ञानं प्रत्यक्षमेव युगपदुत्पद्यते। किन्तर्हि तस्यानाद्यनन्तस्य महाश्चर्यराशेः महायोगेश्वरस्य परमपुरुषस्य भगवतो वक्तव्यम्। तथाच—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्तिवेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्। (श्वे० ३।१६) इत्यादयो मन्त्रवर्णास्तस्यानन्तमहिमानमामनन्ति। तस्मात्परमात्मनः सर्वज्ञत्वादिकं सुतरामुपपन्नम्। प्रत्युत त्वदीयमतसिद्धस्य प्रधानस्यैव तन्नोपपद्यते।

तथाहि—सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थाया एव प्रधानपदवाच्यत्वात्तत्समये गुणैस्तारतम्यमपहाय वर्तमानतया फलोन्मुखप्रवृत्त्यभावः। तदभावे सत्त्वधर्मेण सार्वज्ञ्यादेरनुदयश्च। तत्क्षणेऽपि प्रवृत्तिरङ्गीक्रियत एवेति चेन्न। तदा गुणाधिकारस्य न्यूनाधिकभावेन सत्त्वेन प्रधानमेव प्राधान्याद्धीयेत। अतः कथमपि सत्वादिभिः सार्वज्ञ्यं प्रधानस्य न सिद्धयतीत्यादीनि परःशतानि दूषणानि विशेषतो रचनानुपपत्त्यधिकरणे दर्शयिष्याम इति न प्रधानस्य जगत्कारणत्वं युक्तमितिदिक्।

एवञ्च अशब्दमित्यस्य शब्दशब्दान्मत्वर्थीयाच्प्रत्ययेन सर्वं वाक्यं सावधारणमितिनियमादब्भक्षो वायुभक्ष इतिवच्छब्द एव यत्र न प्रमाणमिति विग्रहलभ्योऽर्थः। शब्देतरानुमानप्रमाणवत्त्वमिति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वार्थः। पर्युदासार्थकनञा समासेऽशब्दशब्दान्मत्वर्थीयाच्प्रत्ययेन तस्य निष्पन्नत्वाङ्गीकारात्। तादृशञ्चानुमानिकं स्वतन्त्रमचेतनं प्रधानमेवेति तस्य जगत्कारणत्वं निषिद्धयत ईक्षतेरितिहेतुघटित-पारमर्षेण सूत्रेण। तथा च–प्रधानं न जगत्कारणत्वेन वेदान्तप्रतिपाद्यम्, वेदान्ततात्पर्याविषयत्वात्। वेदान्तघटकसद्विद्याप्रकरणं न प्रधानतात्पर्यविषयकं तस्य चेतनधर्मबोधकेक्षतिपदघटितत्त्वात्, "देवदत्त ऐक्षत" इतिवाक्यवदित्यादिदिशानुमानस्वरूपमवसेयम्।

अशब्दमित्यस्य वेदशब्दाऽप्रतिपादितं प्रधानं न जगत्कारणमिति तु नार्थः। "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" (श्वे० ४।१०) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (श्वे० ६।१६) इति मायाप्रकृतिप्रधानशब्दवाच्यस्य वेदशब्दप्रतिपाद्यत्वदर्शनात्। "तदधीनत्वादर्थवदि" (ब्र० सू० १।४।३) तिसूत्रेण ब्रह्मणः स्वाधीनाव्यक्तपदवाच्यप्रकृतिसकाशाज्जगत्सृष्टिकर्तृत्वस्य ज्ञापनाच्च।

एवं नाशब्दं शब्दाप्रतिपाद्यं शब्दाऽगम्यं न ब्रह्म किन्तु शाब्दमेव शब्दगम्यमेव। कुतः? ईक्षतेः। "परात्परमीक्षते" (बृ० १।३।०) इति परात्परपुरुषस्य ब्रह्मण ईक्षणविषयत्वश्रवणादित्यपि नार्थः। उदाहृतश्रुतावीक्षत इत्यस्य ब्रह्मणो दृश्यत्वसाधकस्य शाब्दत्वसाधकत्वानुपपत्तेः। दृश्यत्वेन ब्रह्मणः शाब्दत्वमप्युपपद्यत इति चेन्न, वाक्यभेदापत्तेः। किञ्चास्यास्त्वदीयकल्पनाया एव सामञ्जस्ये "औपनिषदत्वान्नाशब्द"मिति साक्षाद्ब्रह्मशाब्दत्वसाधकस्यैव हेतोरुपादानं कुर्यात्। तादृशसूत्राऽप्रणयनमेवाभिव्यनक्ति त्वदीयार्थस्य निस्सारताम्। तस्मात्प्रागुदीरित एव राद्धान्तितोऽर्थ इति सर्वं समञ्जसम्। ।१।१।५।।

नन्वीक्षणमात्रेण न चेतनस्य जगत्कारणत्वं सिद्धयति। तत्तेज ऐक्षत" (छा० ६।३।३) "ता आप ऐक्षन्त" (छा० ६।३।३)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यप्तेजसोरचेतनयोरपीक्षणत्वश्रवणात् । तत्समानप्रकरणपाठात्साहचर्याच्च सदीक्षणस्याप्यौपचारिकत्वेन सत्पदवाच्याचेतनप्रधानपरत्वेनापीक्षितृत्वोपपत्या प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वं युक्तमित्याशङ्क्य समाधत्ते—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् १।१।६।

अप्तेजसोरचेतनयोरपि "तत्तेज ऐक्षत" "ता आप ऐक्षन्त" इत्यादिष्वीक्षतिर्यथा गौणः श्रूयते तथा सत्पदवाच्ये प्रधानेऽपीक्षतिर्गौणःस्यात्तेन च प्रधानमेव स्वतन्त्रं कारणं स्यादिति चेन्न । कुतः ? आत्मशब्दात् । उत्तरवाक्येष्वात्मशब्दस्य श्रूयमाणत्वात् । तथा हि—"तदेव सोम्येदमग्र आसीदि"त्युपक्रम्य "ऐक्षत" "तत्तेजोऽसृजत" (छा० २।२।३) इत्येवं तेजोबन्नानां सृष्टिमभिधाय तानि चोत्तरत्र तदेव सत्पदवाच्यमीक्षितृदेवतापदेन परामृश्याह "सेयं देवतैक्षत" "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" (छा० ६।३।२) अत्र श्रुतौ जीवेनात्मनेत्यादेर्जीवशरीरेण मयाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्ययमर्थः । तथा च तस्यैव तेज आदिषु प्रवेशनतन्नामरूपव्याकरणादिविचारस्य तत्कथनस्य च चेतनधर्मत्वेन सत्पदवाच्यब्रह्मधर्मत्वोपपत्तेर्मुख्यत्वमेवेक्षणस्य । "स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।९।४) इत्यात्मशब्देन स्पष्टमभिधानात् । नह्यात्मनो जडत्वं येन गौणत्वमीक्षणस्य स्यात् । एवञ्च "तत्तेज ऐक्षत" "ता आप ऐक्षन्त" इति श्रूयमाणमीक्षणं तच्छरीरान्तर्यामिपरमात्मन एवेतिसिद्धम् ।

तेजस्यन्तर्यामितया परमात्मनो नियमनकर्तृत्वन्त्वन्तर्यामिब्राह्मणात्सिद्धम् । तथा हि—"यस्तेजसि तिष्ठन् तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरम् यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ४।७।१४) "योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विदुर्यस्यापः शरीरं योपोन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ४।७।४) "यः सर्वेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्" (बृ० ४।७।१५) इत्यत्र तेजोऽबादिपरवाक्येष्वात्मशब्दश्रवणादात्मनस्तेजोबाद्यन्तर्यामित्वेन तच्छरीरितया तेजोबादीनाञ्च शरीरतया श्रवणादीक्षणस्य शरीरधर्मत्वानुपपत्त्या तदन्तर्यामितया समवस्थितपरमात्मधर्मत्वेन मुख्यत्वम् । तत्साहचर्य्यात्सदीक्षणस्यापि सत्पदवाच्यब्रह्मेक्षणत्वोपपत्त्या मुख्यत्वमेव ।

किञ्च "आत्मा वा इदमग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत" (ऐ० १।१) सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युभयोर्वाक्ययोस्समानार्थकत्वेनैकवाक्यत्वसिद्धौ सच्छब्दस्यात्मवाचकत्वेन तदीक्षणस्य प्राधान्यमेव । एवं "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।२) इत्यस्य सदेवेत्यादिवाक्यस्य च समानार्थकत्वेन सत्पदाभिधेयस्यात्मपदवाच्येन सहाभेदात्तदीक्षणस्य मुख्यत्वान्न सत्पदवाच्यमचेतनं केवलं प्रधानं जगतः कारणमिति ॥ १। १। ६॥

इतश्च न प्रधानं सत्पदवाच्यम् ।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । १। १। ७।

अत्र प्रकृतसत्पदाभिधेयतत्त्वनिष्ठस्योपासकस्य मोक्षोपदेशान्न प्रधानं सत्पदग्राह्यमिति । तथा हि—सदेवेत्यारभ्य "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (छा० ६।८।४) इति सत्पदवाच्यस्यैव सर्वप्रजाया मूलत्वेन तत्स्रष्टृत्वं तदायतनत्वेन तत्स्थितिहेतुत्वं तत्प्रतिष्ठत्वेन तत्प्रलयहेतुत्वञ्चाभिधायानन्तरम् "अस्य सोम्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" (छा० ६।८।६) " स य एषोणिमा" (छा० ६।८।७) इतिप्रकृतमेव सत्पदवाच्यं परदेवतापदेनाणिमशब्देन च परामृश्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।८।७) इत्यत्र स आत्मेति तस्यैव प्रकृतस्य सत्पदवाच्यस्य परामर्शः । एतदात्मकमिदं सर्वमिति सदात्मकत्वं सर्वस्य जगतो ज्ञापयित्वा "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" रिति चेतनस्यापि सदात्मकत्वोपदेशेन तन्निष्ठोपदिष्टा । ततश्च सद्ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्मव्याप्यत्वेन प्रत्यगात्मानुसंधाननिष्ठस्य तस्य "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छा० ६।१४।२) इतिरीत्या "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति" (छा० ६।१४।२) इति मोक्षोपदेशश्रवणात् । एवञ्च पूर्वोदितसद्विषयकज्ञानवतस्तत्त्वमसीत्युपदेशेन स्वस्य सत्तादात्म्यज्ञानं मोक्षहेतुर्न हि स्वस्याचिदभेदज्ञानम् । तस्मात्सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणमात्मैव न प्रधानम् । अत्र श्रुतौ "विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्य" इत्युभयत्रोत्तमपुरुषः छान्दसत्वात्प्रथमपुरुषे ज्ञेयः ॥ १। १। ७॥

हेयत्वावचनाच्च ।१।१।८।

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।९।४) इत्यत्र हेयत्ववचनाभावान्न सच्छब्दवाच्यं प्रधानम्। यदि तदेव स्यात्तदा तदनात्मतत्त्वं स्यात् तन्नास्ति, अतस्तदात्मकत्वेनात्मानं नानुसंधत्स्व । तदनुसंधानस्य मोक्षविरोधित्वादित्येवं मातापितृसहस्रवत्सलतरेण परमहितानुशासनपरेण वेदेनोपदिष्टं स्यात् । यथाऽरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थतारणां हेयत्वं स्पष्टं निर्दिशति तद्वदिहापि स्यान्न च तथा दृश्यते ॥ १। १। ८॥

इतोऽपि न प्रधानं सच्छब्दवाच्यमित्याह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रतिज्ञाविरोधात् ।१।१।९

"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं स्यात्" (छा० ६।१।३) इत्यत्र कारणविज्ञानेन तत्कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञानमितीयं सर्वविज्ञानविषया प्रतिज्ञा विरुद्धयते प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वे। कुतः? प्रधानस्याचेतनत्वेन तद्विज्ञानेन चेतनाचेतनसम्भिन्नस्य सर्वस्य प्रपञ्चजातस्य विज्ञानं न स्यात्। चेतनवर्गस्य तत्कार्यत्वाभावेन सर्ववस्तुविषयिण्याः प्रतिज्ञाया विरोधः स्पष्ट एव ॥१।१।९॥

इतश्च न प्रधानं सत्पदवाच्यम्—

स्वाप्ययात् १।१।१०।

अत्रापि तदेव सत्पदवाच्यं कारणं प्रकृत्याह—"स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति" "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति" (छा० ६।८।१) इति सुषुप्तस्य जीवात्मनः सता सम्पत्तिर्भवतीति श्रुतिर्दर्शयति। स्वमपीतो भवतीत्यनेन प्रलयो बोध्यते। स च सर्वेषां स्वकारण एव भवतीति सकलतान्त्रिकसमयः। एवञ्चात्र सत्पदेन प्रधानाख्ये केवलेऽचेतने गृहीते तत्रैव लयो वक्तव्यः। स चायुक्त एव। नहि चेतनस्य जीवस्याचेतने लयः सम्भवदुक्तिकः। तस्मात्सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे ब्रह्मणि सत्पदवाच्य एव स्वाप्ययो युक्त इति ॥१।१।१०॥

प्रधानं न जगतः कारणमित्यर्थेऽन्येषां वेदान्तवाक्यानां सम्मतिमाह—

गतिसामान्यात् ।१।१।११।

सर्वेष्वपि वेदान्तेषु चेतनस्य ब्रह्मण एव कारणत्वमुच्यते न प्रधानादीनाम्। यद्यत्र सद्विद्यायां सत्पदवाच्यं प्रधानमेव जगत्कारण-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तयोच्येत तर्हि तद्भिन्नानामात्मपदबोध्यब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्याभिधायिनीनामनेकश्रुतीनां वैमत्यं प्रसज्येत। एकार्थप्रतिपादकत्वरूपमेकवाक्यत्वञ्च भज्येत। ताश्च श्रुतयः। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत" (ऐ० १।१) "आत्मन एवेदं सर्वम्" (छा० ७।२६।१) तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१) "आत्मन एष प्राणो जायते" (प्रश्न० ३।३।) "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" (तै० ३।१) इत्याद्याः। एतेषां वाक्यानां या गतिः यत्रार्थेऽध्यवसिता प्रवृत्तिस्तत्समानार्थकत्वादस्यापि वाक्यस्य। प्रदर्शितवाक्येष्वात्मादिपदोपादानाच्चेतन एव जगत्कारणत्वसमर्थनम्। नह्यात्मशब्दोऽत्र समुपस्थापयति स्ववाच्यतयाऽचेतनम् ॥१।१।११॥

इतश्च न सत्पदवाच्यं प्रधानम्।

श्रुतत्वाच्च १।१।१२।

श्रुतमेवास्मिन्सद्विद्याप्रकरणे सच्छब्दवाच्यस्योत्तरत्र वाक्येष्वात्मत्वेनानुस्मृतिः। तथा हि—सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युपक्रम्य "तत्तेजोऽसृजत" "सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" इति मध्ये प्रदर्श्य "स एषोणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।९।३) इत्येवमादिभिस्तस्य सच्छब्दवाच्यस्यात्मतयोपदर्श्य सत आत्मन एव जगत्स्रष्टृत्वनामरूपव्याकर्तृत्व–सर्वज्ञत्व–सर्वशक्तित्व–सर्वाधारत्वादयो गुणाः स्पष्टम्प्रतिपादिताः। एवं तस्यामेवोपनिषदि सप्तमाष्टमयोः प्रपाठकयोः "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० ७।२५।२) "आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप" इत्यारभ्य "आत्मत एवेदं सर्वम्" (छा० ७।२६।१) "य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यारभ्य सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा० ८।४।१) इति श्रुतम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एभिर्वचनैः स्पष्टमेव सत्पदवाच्यात्मन एवापहतपाप्मत्व-सत्यकामत्व-सत्यसंकल्पत्वादयोऽसाधारणधर्माः प्रतिपादिताः। तस्मादत्र सत्पदवाच्यस्य परमात्मन एव जगत्कारणत्वमितिसिद्धम्।

तदेवमथात इत्यारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्येतदन्तैः सूत्रैः सर्वज्ञसर्वशक्तिमत् सर्वकारणं सर्वात्मकं चित्स्वरूपं ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यमित्युपपाद्याचेतनप्रधानस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कारणत्वनिरासेन न ब्रह्म लक्षणस्य तत्रातिव्याप्तिरितिस्पष्टमुपपादितम् ॥१।१।१२॥

अथापि चेतनसामान्यात्प्रकृतिसंयोगहेतुकविविधवृजिनसन्तप्तस्य प्रत्यगात्मनोऽपि कैश्चिच्छास्त्रोपदर्शितोपायैस्तदंशविशुद्धतायां सम्पादितायां तत्र तल्लक्षणस्योपसङ्क्रमः स्यादिति तामिमां शङ्कामपाचिकीर्षन्नुत्तराधिकरणमारचयति—

इति ईक्षत्यधिकरणम्

अथ आनन्दमयाधिकरणम्

आनन्दमयोऽभ्यासात् १।१।१३।

तैत्तिरीयकेऽअन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयादिप्रतिपादनादनन्तरं "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयस्तेनैष पूर्णः स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा"। (तै० २।५) इति श्रूयते। तत्र संशयः। किमत्रानन्दमयपदेन" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति प्रकृतं परम्ब्रह्मैवाभिधीयत आहोस्वित् प्रत्यगात्मपदवेदनीयो जीव इति। किं युक्तम्? जीव एवात्राभिहितः॥ कुतः? अन्नमयादिविकारसाहचर्यात्। "तस्यैष शारीर आत्मेति तस्य पूर्वस्य शारीरत्वश्रवणात्, 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठे'ति ब्रह्मण आनन्दमयपुच्छत्वेन पुच्छवत्तदाधारत्वनिर्देशेन ततः पृथक्त्वज्ञापनात्। तस्य च चेतनत्वेनेक्षण

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पूर्वकसृष्ट्यादिकर्तृत्वोपपत्तेः । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यारभ्य "नन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तै० ३।६) इत्यन्तेयं श्रुतिर्जीवस्य ब्रह्मत्वमात्मत्वमानन्दत्वं जगत्कर्तृत्वं च ज्ञापयतीतिप्राप्त उच्यते आनन्दमयोभ्यासादिति आनन्दमयः परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः अभ्यासात् आनन्दमयपदस्य ब्रह्मण्येवाभ्यासदर्शनात्। तथाहि- अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयस्तम्प्रस्तुत्य, "रसो वै सः" (तै० २।२। इति तस्यैव रसत्वं सारत्वमानन्दत्वमुक्त्वोच्यते "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष एवानन्दयति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेनिलयनेऽभयंप्रतिष्ठां विदन्तेऽथ सोऽभयं गतो भवति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मानुषगन्धर्वाणामानन्दः" (तै० २।७।८।) पूर्वेषां पूर्वेषां शतेन शतेन चानन्देनतुल्य उत्तरेषामुत्तरेषामानन्दः। एवं गन्धर्वदेवगन्धर्वपित्राजानजदेवकर्मदेवदेवेन्द्र बृहस्पतिप्रजापतीनामानन्दानुक्त्वाह "ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः। यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै० २।८।९) इत्यानन्दवल्यामसकृदभ्यस्यमानमानन्दपदं स्वकर्मोपार्जितानन्त क्लेशाश्रयप्रत्यगात्मनि प्रसरतामलभमानं निखिलकल्याणगुणभाजं निस्समाभ्यधिकं परमपुरुषं पुरुषोत्तमश्रीरामपदवाच्यं भगवन्तं स्ववाच्यतयोपस्थापयतीति निरवद्यम्।

अग्रेप्यस्य प्रकरणस्योक्तेर्थ एवपर्यवसानात् स एवार्थोऽवसेयः तथाच "भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधि हि भगवो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनोवाचमिति तँ होवाच यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वाऽन्नम्ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।२।) इत्यारभ्यानन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति सैषा भार्गवी वारुणीविद्या । परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता" (तै० ३।६।) इत्यन्तया वल्लथा स्पष्टमेवानन्दस्य ब्रह्मत्वाभिधानात् ।

अत्र हि सृष्टिस्थितिप्रलयकारणस्य बुबोधयिषया वरुणेन क्रमशोऽन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दानां भृगुम्प्रत्युपदिष्टत्वात् पर्यवसाने चानन्दाद्धयेव खल्विमानीति श्रुत्याऽनन्दस्यैव ब्रह्मस्वरूपावगमः कृतः । तदनन्तरं प्रश्नप्रतिवचनयोरश्रवणात् भृगोर्जगत्कारणविषयिण्या जिज्ञासाया आनन्दपदार्थ एव परिसमाप्तत्वाद्वारुणिविद्यायानन्दस्यैव ब्रह्मत्वं जगत्कारणत्वमितिनिश्चयादानन्दमयपदव्यपदेश्यः परमात्मैव न जीव इति ।

किञ्च "स एको मानुष आनन्द" इत्यारभ्य 'स एको ब्रह्मण आनन्द, इत्यन्तेन मनुष्यादिप्रजापत्यन्तानां जीवानामानन्देभ्यो ब्रह्मण आनन्दस्य बहुप्रचुरत्वश्रवणादानन्दप्रचुर आनन्दमयः परमात्मैव भवितुमर्हति नजीवस्तदल्पतरानन्दः । एवं जगद्व्यापारवर्जमितिसूत्रकारेणैव जीवस्य जगत्सृष्टयादिकर्तृत्वप्रतिषेधात् प्रकृते चानन्दस्य जगत्कर्तृत्वश्रवणात् आनन्दमयस्य परमात्मपरत्व एव तत्सामञ्जस्यादानन्दमयः परमात्मैवेति सिद्धम् ।

यदुक्तं "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इति ब्रह्मण आनन्दमयपुच्छत्वोक्त्या पुच्छवत्तदाधारत्वेन ततोभिन्नत्वज्ञापनादानन्दमयो जीव इति। तन्न । कुतः उक्तेनाभ्यासेन जगत्कारणत्वेन चानन्दमयस्य परमात्म-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्वनिष्पत्तेः। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यस्य चानन्दमय आत्मा स
ब्रह्मपुच्छवदन्नमयाद्याधारः प्रतिष्ठेत्यर्थकत्वात् तदुपपत्तेः।

किञ्च यथाऽन्नमयो देहः स्वस्मादभिन्नैः स्वावयवैरेव शिरश्चा
श्रोत्रहस्तपादादिभिर्व्यपदिश्यते तथानन्दमयब्रह्मापि "स वा
पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध" इत्युक्त
पुरुषविधत्वस्योपपादकैः स्वस्मादभिन्नैः प्रियमोदप्रमोदपुच्छैः "त
प्रियमेव शिरः" इत्याद्युक्तैर्व्यपदिष्टं भवति। तत्रावयवत्वेन निर्द्दि
तानां प्रियमोदप्रमोदानां पुच्छत्वेन प्रतिष्ठत्वेनाश्रयत्वेनानन्दम
ब्रह्माखण्डानन्दं भवतीति ज्ञापनाय 'पुच्छम्प्रतिष्ठे' त्युक्तम्। यदित
नन्दमयादन्यद्ब्रह्म स्यात्तदा "तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योन्
आत्मा ब्रह्मेत्यादिकमप्युक्तं स्यान्नत्वेवं वचनान्तरं श्रूयते। तस्मादा
न्दमयम् एव ब्रह्म न ततोऽन्यदिति।" यत्तूक्तं "तस्यैष एव शारी
आत्मा" तस्य पूर्वोदितस्य विज्ञानमयस्य एष आनन्दमयः शारी
आत्मेत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणात् शरीरसम्बन्धिनः शारीरत्वो
पपत्तेः शारीरो जीव एवानन्दमयो भवितुमर्हतीति तन्न। "
पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी
रीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (बृ०
७।३) इत्युपक्रम्य, "योऽप्सुतिष्ठन् योऽग्नौ तिष्ठन्, योन्तरिक्षे तिष्ठ
यो वायौ तिष्ठन्, यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं
वेद" (बृ० ३।७।२२) इत्यादिकं बृहदारण्यके पठितम्। माध्यन्दि
नीयास्तु विज्ञानस्थाने "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा
वेद यस्यात्मा शरीरम् य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्या
म्यमृतोऽन्यदार्त्तम्"। (बृ० ३।७।२२) इत्यादौ सर्वेषां पृथिव्यादीन
तथा मनसः प्राणस्य, विज्ञानात्मनश्च परमात्मशरीरत्वश्रवणात् पर
मात्मनश्च तदन्तर्याम्यात्मत्वश्रवणाच्च तस्यैव सर्वं शारीरत्वनिष्पत्तेर
परमात्मैवानन्द मयो सेद्धुमर्हति न ततोन्यो जीव इति "अतोऽन्

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दार्त्तमिति परमात्मव्यतिरिक्तस्यार्तत्वश्रवणात् जीवस्यानन्दमयत्वाऽसम्भवात् ॥ १।१।१३ ॥

नन्वस्तु ब्रह्मण आनन्दपदवाच्यत्वम् परमानन्दमयपदबोध्यत्वन्तु न सम्भवति मयटोविकारार्थकत्वात्। यथा दारुमयो हस्ती, मृण्मयानि पात्राणि, पर्णमयी जुहूः, दर्भमयी वेदी, इत्यादौ विकारार्थकस्य दृष्टत्वात् विचार्यमाणप्रकरणेऽपि अन्नमयः प्राणमयो मनोमय इत्यादिषु च यथा विकारार्थकस्य मयटो दृष्टत्वात्तथा प्रकृत आनन्दमयपदेऽपि प्रायपाठसामर्थ्याद्विकारार्थकस्यैव मयटो ग्राह्यत्वात्तादृश आनन्दविकारत्वं प्रत्यगात्मनि जीवे सम्भवत्येव संसारित्वदशायामिति जीवस्यैवात्रानन्दमयपदभात्त्वं नतु परमात्मनस्तस्याविकृतत्वादित्याशङ्क्य समाधत्ते—

विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात्। १। १। १४।

अन्नमय इति विकारार्थकमयट्साहचर्य्यादानन्दमय इत्ययमपि मयड्विकारार्थक एवातो नानन्दमयपदवाच्यं ब्रह्म भवितु मर्हतीति चेन्न। प्राचुर्यात् आनन्दमय इत्यत्र मयट्प्रत्ययस्य प्राचुर्य्याभिधायित्वात्। "स एको मानुष आनन्द" इत्यारभ्य "स एको ब्रह्मण आनन्द" इत्यन्तेन मानुषाद्यानन्देभ्यः प्रजापतिपर्यन्तानन्दानां शतगुणाधिक्यश्रवणात्। ततोऽपि ब्रह्मण आनन्दस्य शतगुणाधिक्यस्य श्रवणात् तदानन्दस्य प्रचुरत्वोपपत्तेरयमानन्दप्रचुरः परमात्मैव नत्वल्पतरानन्दो जीव इति। यतो ब्रह्मण आनन्दस्य ज्ञानाज्जीवोऽभयं गच्छतीत्युक्तन्तत्रैव। "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै० २।९) इति। यस्य ब्रह्मणः प्रचुरानन्दज्ञानाज्जीवोऽभयतामुपयाति कुतस्तर्हि तदानन्दप्राचुर्यं प्रत्यगात्मनीति ब्रह्मैवानन्दमयपदवाच्यम्।

यदुक्तं अन्नमयेत्यादौ प्रायःपाठबलात्समानार्थकत्वस्य न्याय्य-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्वेन विकारार्थकत्वमेवानन्दमयपदेऽपि मयट् इति। तदयुक्तम्। प्राणमय एव तावत्तस्य विकारार्थकस्य मयटोसम्भवाद्—तत्रैवान्यार्थस्य स्वीकर्तव्यत्वात्।

अत्रेदं विचारणीयम्। विज्ञानमयानन्दमयपदयोर्मयट् विकारार्थे कथं निष्पद्यते? मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोरिति पाणिनीयन्तु भाषायामेव प्रवर्तते नच्छन्दसि? प्रकृतपदयोश्चच्छान्दसत्वात्। न च नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४।३।१४४) इति वृद्धत्वादेव मयडितिवाच्यम्, तत्रापि पूर्वसूत्रेण मयडादीनामिव भाषायामित्यस्याप्यनुवृत्तेरानुभविकत्वात्। शरमयं बर्हिर्भवति" 'दर्भमयं वासो भवति' यस्य पर्णमयी जुहूरित्यादि वैदिकेषु प्रयोगेषु "व्यचश्छन्दसि" (पा० सू० ४।३।१५०) इत्यनेनैव सिद्धिः। विज्ञानानन्दयोर्व्यच्कत्वाभावान्न तेन निर्वाहः। मृण्मयं गृहमिति वैदिकोऽपि चेत्प्रयोगस्तर्हि तत्र प्राचुर्य एव मयट्। एवं तत आगताद्यर्थेष्वपि मयटोऽसामञ्जस्यं स्पष्टमेव। तस्मादत्रानन्दप्रकृतिको मयट् प्राचुर्य एव "तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा० सू० ५।४।२१) इति सूत्रेण विहितोऽपूपमयं पर्व इतिवत्। तथाच—विज्ञानमयो विज्ञानप्रचुरो यथा जीवस्तथाऽनन्दप्रचुरः परमात्मेति सिद्धम्।

अत्र "यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्" "एष एवानन्दयति" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म व्यजनात्" आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्त" इत्येवमादिकमानन्दस्यैवाभ्यासं दृष्ट्वाऽनन्दमयपदाभ्यासमदृष्ट्वाऽपि सूत्रकार आनन्दोऽभ्यासादित्येवं न सूत्रयामास किन्त्वानन्दमयोऽभ्यासादित्येवम्। पुनः विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यादित्यत्र मयटः स्वार्थिकत्वं विहाय प्राचुर्यार्थकत्वं यदुक्तं तत् गौणश्चेन्नात्मशब्दादित्यत्रत्येनात्मशब्देनेक्षणकर्तृकत्वाच्चेतनवाचकेन ब्रह्मस्वरूपस्य चित्प्रकाशज्योतिरात्मकत्वं यज्ज्ञापितं तच्चिज्योतिःस्वरूपं ब्रह्म, आनन्दप्रचुरं प्रभूतानन्द-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुणकमस्तीति ज्ञापनायैव। यद्यानन्दस्य ब्रह्मस्वरूपत्वज्ञापनपरः सूत्रकारो भवेत्तदाऽनन्दोभ्यासादित्येवं सूत्रयेत्। द्वितीयसूत्रेऽपि स्वार्थिकत्वादित्येव लिखेन्नतु प्राचुर्यादिति। प्रचुरप्रभूतानन्दगुणकं चिज्ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्म जगत्कारणं जिज्ञास्यमिति ज्ञापनायैव तथोक्तम्। अत एव "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्र० सू० ३।३।११) इति सूत्रेणाप्यानन्दादीनां ब्रह्मगुणतया स्फुटीकरिष्यमाणत्वात्। तदेतच्छ्रुतिसिद्धमेव ज्ञापितं सूत्रकारेणेति। तथाच श्रुतिः—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।) इत्यनेन वाक्येन ब्रह्मणः स्वेतरव्यावृत्तं स्वरूपमभिधीयते। तत्र चत्वारि पदानि सन्ति। एकस्मिन् वाक्ये एकस्यैव पदस्य विशेष्यताप्रयोजकत्वम् सत्यज्ञानानन्तपदानि तुस्ववाच्यवृत्तिविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकानीति मन्तव्यम्। तत्र त्रिनिवृत्तोपाधिकसत्त्वाश्रयत्वम्प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तदाश्रयीभूतं ब्रह्माभिधत्ते सत्यपदम्। तेन च चिदचितोर्व्यावृत्तिः फलिता। तत्राचिद्द्रव्यस्य स्वरूपतः परिणामित्वेनावस्थान्तराश्रयणाद्विकारितया सोपाधिकसत्ताश्रयत्वम्। तदन्वयानुविधायित्वेन तत्संसृष्टचेतनस्यापि नामान्तरादिधारकतयौपाधिकसत्त्वक्त्वम्। अतस्तद्व्यावृत्तिरत्र सत्यपदेन सम्पद्यत एव। नित्यत्वविशिष्टसंकोचविकासपरिहीणसमानाकारकज्ञानाश्रयीभूतं ब्रह्माचष्टे ज्ञानपदम्। अतः संसारदशायां संकुचितज्ञानवतां मुक्तात्मनां व्यावृत्तिः। देशादिपरिच्छिन्नताराहित्याश्रयीभूतं ब्रह्मोपस्थापयत्यनन्तपदम्। ततश्च ब्रह्मणः सगुणत्वात्तत्स्वरूपस्य तद्गुणानाञ्चानन्त्यात्सातिशयस्वरूपगुणवतां नित्यानाञ्च व्यावृत्तिः फलति। त्रिभिर्विशेषणैरेतत्त्रयं व्यावृत्यते। एतेन जीवानां बद्धमुक्तनित्यभेदेन त्रैविध्यमपिदर्शितम्भवतीत्यन्यत्रविस्तरः। प्रकृतलक्षणे ज्ञानमिति पदस्यार्शआद्यजन्तत्वेन ज्ञानगुणाश्रयत्वमेवार्थः। एवं ज्ञानस्वरूपत्वमप्यर्थः स तु "प्रज्ञानघन एवानन्दमयः" इत्यादिश्रुतिभिरवगन्तव्य इति।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एवञ्चात्र वाक्ये सत्यमनौपाधिकमबाधितं ज्ञानं स्वप्रकाशकम् अनन्तमपरिच्छिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः पर्यवसन्नो भवति। तथैव "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० ३।९।२८) इति विज्ञानपदेन स्वप्रकाशचिज्ज्योतीरूपमुक्तम्भवति तस्य तेजोभूतत्त्वाद्द्रष्टृत्वम्, आनन्दस्य सुखपर्यायत्वेन गुणत्वं गुणस्य द्रव्याश्रितत्वेन चिज्ज्योतिषो गुण एवानन्दः। तत्राप्यानन्दस्य क्लीबत्वनिर्देशात् ब्रह्मपदसामानाधिकरण्यनिर्देशाच्च ब्रह्मत्वरूपसमानाकारत्वमवगम्यते। अन्यथाऽनन्दपदस्य घञन्तत्वेन घञजपः पुंसीतिलिङ्गानुशासनबलात् पुंस्त्वं स्यात्। तथा चायमर्थः सम्पन्नो भवति, स्वरूपसमानाकारानन्दगुणकं स्वप्रकाशं ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्मेति। एवमेव "आनन्दो ब्रह्म" (तै० ३।६) इत्येवमाद्याः श्रुतयः ब्रह्मपदसामानाधिकरण्यात्तमेवार्थमुपस्थापयन्ति। तस्मात्स्वरूपसमानाकारानन्दगुणकं स्वप्रकाशचिज्ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्मैव सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यमखिलजगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकारणं यत्तदेवात्राभिहितम्। तद्गुणसारत्त्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदिति 'सूत्रकारेणात्मनो विज्ञानगुणसारत्वादानन्दगुणसारत्त्वाच्च विज्ञानानन्दपदाभ्यां व्यपदेश इति स्पष्टमुक्तम्। प्राज्ञवदिति दृष्टान्तः। यथा यः सर्वज्ञः सर्वविदिति सर्वज्ञातृत्वेन श्रुतः प्राज्ञो ज्ञानगुणसारत्वात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ज्ञानशब्देन व्यपदिश्यते। यथा च आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानिति। स एको ब्रह्मण आनन्द इत्यानन्दगुणकत्वेन श्रुतस्य प्राज्ञस्यानन्द गुणसारत्वात् "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" "आनन्दो ब्रह्म व्यजानात्" (तै० ३।६।) इत्यादावानन्दशब्देन व्यपदेश इति ज्ञानानन्दयोर्ब्रह्मगुणसारत्वेन तत्सामानाधिकरण्यनिर्देशेन ब्रह्म स्वरूपसमानाकारत्वस्य स्फुटीकरिष्यमाणत्वात् ॥१।१।१४॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च १।१।१५।

आनन्दप्रचुरः परमात्मेत्यत्र हेतुमाह तद्धेतुव्यपदेशाच्चेति।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"एष एवानन्दयाति" (तै० २।७।) एष परमात्मा जीवमानन्दयतीति जीवानन्ददाने परमात्मनोऽत्र हेतुव्यपदेशात्। योऽन्यानानन्दयति स स्वयमानन्दप्रचुरो भवति यथालोके स्वयं धनी सन्नेव परान्धनिनः करोति तथाऽनन्दयातीतिनिर्देशः। दीर्घश्छान्दसः। अथवा इतश्चानन्दमयः परमात्मेत्याह तद्धेतुव्यपदेशाच्च। तस्यानन्दमयस्य परमात्मत्वे यो जगत्सृष्टयादिकर्तृत्वरूपोऽव्यभिचारी हेतुस्तस्य "आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।६।) इत्यादिना व्यपदेशादानन्दमयः परमात्मा। तथा हि "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मे"त्यनया श्रुत्या जगज्जन्मादिकर्तृत्वस्य ब्रह्मैकनिष्ठत्वबोधनेन तस्य ब्रह्मत्वसाधकहेतुत्वात्। एवं जगद्व्यापारवर्जमितिसूत्रेण मुक्तजीवपर्यन्तानां जीवानां सृष्टयादिकर्तृत्वप्रतिषेधेन तादृशसृष्टयादिकर्तृत्वहेतोर्ब्रह्मत्वसाध्याव्यभिचारित्वेन दृढीकृतस्य "आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयन्त्यभि संविशन्ति" (तै० ३।६) इत्यत्रानन्दमयस्य ब्रह्मत्वज्ञापकतया व्यपदेशादानन्दमयः परमात्मा भवितुमर्हति। प्रयोगस्त्वीदृशः "आनन्दमयः परमात्मा भवितुमर्हति जगत्सृष्टयादिकर्तृत्वात्" यज्जगत्सृष्टयादिकर्तृत्वाभाववान् न सः परमात्मा यथा घटः। एवमप्यानन्दमयपदवाच्यं ब्रह्मेति सिद्धम्॥ १।१।१५॥

इतश्च न जीव आनन्दमयः—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते।१।१।१६।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्मैवानन्दमयो गीयते। तज्जीवप्राप्यत्वेन श्रुतं जीवात्परं ततोऽन्यद्भवितुमर्हति। तथा हि "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इत्युपक्रम्य "सत्यं ज्ञानमनन्तस्ब्रह्म,

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यो वेद निहितं गुहायाम्" सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै० २।१।) इत्यस्मिन्मन्त्रे यद्गीयते तन्मान्त्रवर्णिकम्। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१।) इत्यादिश्रुतिभिरात्मत्वेनाकाशादिकर्तृत्वेनानन्दमयत्वेन "स एको ब्रह्मण आनन्द" इत्यानन्दप्रचुरत्वेन च गीयत इत्यर्थः।

अयम्भावः। ब्रह्मविज्जीवप्राप्यतया जगत्कर्तृतयानन्दप्रचुरतया श्रूयते यद्ब्रह्म मान्त्रवर्णिकं तदेवानन्दमयपदवाच्यं भवति न जीवः। प्राप्तुरुपासकस्य जीवस्य स्वप्राप्यब्रह्मत्वानुपपत्तेः। जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रेण मुक्तस्यापि जीवस्य जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च न जगत्कर्त्तानन्दमयपदवाच्यो जीवः किन्तु ब्रह्मैव।

अत्रेदं तत्त्वम्—"जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १। १। २।) इत्यारभ्य "मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते" (ब्र० सू० १। १। १६।) इत्यन्तैः सूत्रैः सूत्रकृद्भिर्निश्चितम् तद्धि जगत्कारणं ब्रह्म द्विभुजाद्यवयवविग्रहवदस्तीति "ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" (पु० सू० ११) इत्यनया श्रुत्यावगम्यते सोऽस्य विग्रहो ब्रह्मानन्दमयोस्तीति "अर्द्धमात्रात्मकोरामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः" (श० ता०) इत्यनयावगम्यते। तदविरोधेन ब्रह्मप्रतिपादकनिराकारपदस्य प्राकृतहेयाकारनिषेधपरत्वमुपपद्यते। प्राकृताकाररहितत्वं निराकारत्वमिति तन्निर्वचनम्। तस्य जगत्कर्तुर्ब्रह्मणो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्यादयो बहवः स्वाभाविका दिव्या गुणाः सन्ति। एतच्च, "सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।९।) "न तस्य कार्यं करणञ्चविद्यते नतत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वे० ६।९।) इत्यादिभिः श्रुतिभिरवगम्यते। एवञ्च "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्" (क० १।३।१५।) इत्यादि श्रुतीनां "सर्वगन्धः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वरसः" इत्यादिश्रुतिभिः सहैकवाक्यतया प्राकृतहेयगन्धादिनिषेधकत्वमुपपद्यते। एवं "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" (छा० ८।७।१।) इत्यनया श्रुत्या तस्य हेयान् पाप्मत्वादीन् गुणान् प्रतिषिध्य दिव्यानामेव सत्यकामत्वादिगुणानां प्रकाशनात्। नचागन्धमस्पर्शमित्यादिश्रुतिविरोधेन ज्ञानशक्त्यादिगुणानामेवौपाधिकत्वं कुतो न स्यादिति वाच्यम्। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेत्यत्र श्रुतौ स्वाभाविकत्वेनैव स्वकण्ठरवेणोक्तानां ज्ञानादीनामौपाधिकत्वानुपपत्तेः। तस्मादगन्धमित्यादिवाक्यानां हेयगुणनिषेधपरत्वेनाचक्षुरश्रोत्रमित्यादिवाक्यानाञ्च हेयप्राकृतशरीरनिषेधपरत्वेन चोपपत्तिः। तथा च कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमित्यादिवचनैः साकारजगत्कर्त्रन्तर्यामिब्रह्मदर्शनेन तत्साम्यप्राप्तिरुक्ता भवति। "यन्नाभिपद्माज्जातोऽज्ययोनि" रिति ब्रह्मणो नाभिपद्मजत्वश्रुत्या नाभिवतः साकारत्वोपपत्तेः। तस्मात्सगुणनिर्गुणसाकारनिराकारादिशब्दाभिहितनिरवधिकनिरतिशयज्ञानानन्दबलैश्वर्यतेजोवीर्याद्यनन्तगुणैकतानं दिव्यमङ्गलविग्रहं स्वप्रकाशचिज्ज्योतिःस्वरूपं सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं स्वचिन्तकैकप्राप्यं यज्जगज्जन्मादिहेतुभूतं ब्रह्म तदेव जिज्ञास्यं ज्ञेयं ध्येयम्प्राप्यञ्चेति। तत्प्राप्तौ साधनं विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षणं तदेकध्यानं तदेकचिन्तनमिति। 'ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टम्प्रतिपादितमिति सर्वमनवद्यम् ॥१।१।१६॥

'यद्यपि बद्धजीवस्य न मान्त्रवर्णिकत्वमुपपद्यते तथापि विलीनाखिलप्रपञ्चसम्बन्धस्य निर्विशेषचिन्मात्रैकरसस्य शुद्धस्वरूपस्य मुक्तावस्थस्यैव जीवस्य तथा सम्पद्यतामित्याशङ्क्याह—

नेतरोऽनुपपत्तेः। १।१।१७॥

ब्रह्मण इतरो भिन्नो जीवो मुक्तिदशामापन्नोऽपि मान्त्रवर्णिको

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नार्हति भवितुम्। अनुपपत्तेः। मुक्तस्यापि जीवस्य "सहब्रह्मणा विपश्चिता" इति श्रुत्युक्तनिरुपाधिकविपश्चित्त्वानुपपत्तेः "सोऽकामयत प्रजायेय" "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" (छा० ८।७।१) इत्यादिश्रुतिभिः परमात्मन एव सत्यसंकल्पत्वनिर्णयात्। विविधं पश्यच्चित्वं विपश्चित्वम्। पश्यच्छब्दावयवभूतस्य यच्छब्दस्य पृषोदरादित्वाल्लोपेन व्युत्पन्नोयं विपश्चिच्छब्दः। तत्त्वञ्च नित्यानुपहितेतरानपेक्षासङ्कुचितसर्वविषयकज्ञानवत्त्वम्। एतादृशं निरुपाधिकं विपश्चित्त्वं मुक्तात्मनोऽपि न सम्भवति। मुक्तेः प्राक्संसारावस्थायां सोपाधिकविपश्चित्त्वेन निरुपाधिकतत्त्वासम्भवात्।

अथवा विगतं पश् बन्धनं यस्मात्तद्विपश् ज्ञानम्। विपश्चतच्चिनोतीति विपश्चित्। इदमपि विपश्चित्त्वं मुक्तजीवस्य संसारित्वदशायां व्यभिचरति। तदृशायां तस्यैवात्मनो बद्धत्वान्निरुपाधिकस्य तस्याभावात्। "न जायते म्रियते वा विपश्चित्", इत्यत्र तु विपश्चिच्छब्दो ज्ञानवज्जीवपरो विगतं पश् बन्धनं यस्मात्तद् विपश् ज्ञानं तच्चिनोतीति विपश्चिदिति निरुक्तेरिति तत्रैव स्पष्टम्।

एवञ्चात्र "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि वाक्यं न ब्रह्मणो वाङ्मनसयोरगोचरतामभिधत्ते। प्रकरणान्तःपातिनामनन्तानां विपश्चित्त्वजगत्कारणत्वादीनां गुणानां वैयर्थ्यापाताच्छतगुणितोत्तरक्रमेण महताऽडम्बरेण प्रतिपादितस्य सर्वोत्कृष्टानन्दस्य चाकाण्डताण्डवायितत्वात्। किन्तु स्वकर्मोपार्जितपुण्यपापरूपादृष्टवशादधिगतमलिनवासनस्य पुंसो मनसोऽविषयत्वमेव। "दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (का० १।३।१२) "मनसा तु विशुद्धेन" इत्याद्यनेकैः प्रमाणैर्निदिध्यासनादिसाधननिर्मलीकृतान्तःकरणानां मनसो ग्राह्यत्वमेवेति संक्षेपः। १।१।१७॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः—

भेदव्यपदेशाच्च । १।१।१८।

"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" (श्वे० १।९) "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" (मु० ३।१।२) इत्यादिषु जीवपरमात्मनोभेदव्यपदेशाच्चापि मान्त्रवर्णिक आनन्दमयः परमात्मैव न जीवः। किञ्च "अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८।१२।३) इत्याविर्भूतस्वरूपस्य मुक्तजीवस्य परमात्मनश्च "जगद्व्यापारवर्जमि"तिसूत्रेण जगत्कर्तृत्वतदकर्तृत्वरूपस्य व्यपदेशान्न मुक्तावस्थो जीव आनन्दमयः परमात्मा भवितुमर्हति। जगद्व्यापारवर्ज्जमिति सूत्रं परमात्ममुक्तजीवयोर्भेदमन्तरेणानुपपद्यमानं सत्तयोर्भेदमुपपादयति। अन्यथा मुक्तानां परमात्मस्वरूपत्वेन जगत्कर्तृत्वोपपत्त्या तद्विभाजकस्य जगद्व्यापारवर्ज्जमिति सूत्रस्य प्रणयनप्रयासमेव न कुर्यात्सूत्रकारः। कृते त्वेवमुभयोर्भेदः स्पष्ट एव दर्शित इति ॥ १।१।१८ ॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः।

कामाच्च नानुमानापेक्षा १। १। १९।

ननु यद्यानन्दमयपदवाच्यः परमात्मैव स्यात्तर्हि तस्यैवोत्तरत्र जगत्कर्तृत्वमपि श्रुतं तन्नोपपद्यते। परमात्मसृष्टौ च प्रबलं वैदिकं प्रमाणमपि नोपलभ्यते। किञ्च हस्तादीन्द्रियाभावात्तद्व्यापारसाध्यां सृष्टिमीश्वरो नैव कर्तुं शक्नुयात्। अनुमानेनैव जगत्कर्तृत्वे तु परमात्मनोऽपेक्षया हिरण्यगर्भादिजीवस्य श्रूयमाणं जगत्कर्तृत्वमेव प्रत्यक्षसनाथी कृतं कुतो न ग्राह्यम्। एवञ्च हिरण्यगर्भादेरिन्द्रियसम्बन्धसत्त्वात् "प्रजापतिरकामयत" इत्यादिप्रमाणसद्भावाच्च सृष्टिरप्युपपद्यते। तस्मादानन्दमयपदवाच्यो जीव एवेत्याशङ्क्यायाह कामाच्च

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नानुमानापेक्षेति। "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" (तै० २।६) इत्यादिवैदिकान्येव परशतानि प्रमाणानीश्वरस्य स्वकामनयैव सृष्टयभिधायकान्युपलभ्यन्त इति नानुमानेन तत्कल्पनम्। प्रत्यक्षादेस्तु क्वचिदागमापेक्षया दौर्बल्यमेवेति हृदयम्।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ गी० १४।३।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ गी० १४।४।

इत्याद्याः स्मृतयः परमात्मा मायामाश्रित्य तत्सकाशादेव विश्वसृष्टिं करोतीति स्पष्टम्प्रतिपादयन्ति। नच, काञ्चित्सृष्टिं काममात्रेण करोति काञ्चिच्च मायासकाशादिति वाच्यम्, सृष्टेर्द्वैविध्याश्रवणात्। समेषां सृष्टिवाक्यानामेकवाक्यतामन्तरेण परस्परविरुद्धार्थकत्वेन तेष्वप्रामाण्यापत्तेश्च। नच मायामनाश्रित्य चिदेकरसात्मकस्वरूपादेव स जगत्सृजतीतिसाम्प्रतम्। परमात्मनि विकारित्वसुखदुःखभोक्तृत्ववैषम्यनैर्घृण्यादिदोषापत्तेः। न च तर्हि विवर्तवादस्याश्रयणात्सर्वं समञ्जसमितिवाच्यम्। तस्य कुदृष्टिकपोलकल्पनाकल्पितत्वेनाप्रामाणिकत्वात्। अत एव प्राङ्निरस्तत्वाच्च॥१।१।१९॥

इतश्चानन्दमयाज्जीवोऽन्य इत्याह—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति। १। १। २०।

"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" (तै० २।७) श्रुतिरियमस्मिन्नानन्दमये समाम्नायते। तत्र रसशब्दनिर्दिष्ट आनन्दमयेऽयंशब्दवाच्यस्य जीवस्यानन्दीभवतीतिवचनादानन्दमयप्राप्त्यनन्तरमानन्दयोगं शास्ति। यस्य प्राप्तेरनन्तरमानन्दयोगः प्रत्यगात्मनः स आनन्दमयस्तस्मादन्य एव मान्त्रवर्णिकः। रसपदाभिधेयपरमात्मनः सम्बन्धात्प्रत्यगात्मन आनन्दीभाव इत्युभयोर्वैधर्म्य-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्पष्टत एव शक्यमवगन्तुम्। अयमभिप्रायः। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३।१।३) इति श्रुतेः "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्र० सू० ४।४) इति सूत्राच्च मुक्तजीवस्य भोगमात्रे परमात्मसाम्यं भवति नतु जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वे जगद्व्यापारवर्ज्जमिति मुक्तस्य जगद्व्यापारत्वप्रतिषेधात्। तस्मादानन्दमयस्य ब्रह्मणश्चेतनाद्बद्धमुक्ताद्यवस्थावतो जीवशब्दवाच्याद्वस्तुतोऽर्थान्तरत्वसिद्धेः। एवञ्चानन्दमयो जीव इति मतं मिथ्यात्वमुपगच्छदानन्दमयः परमात्मात्मैवेति सिद्धम् ॥१।१।२०॥

इत्यानन्दमयाधिकरणम्।

अथान्तराधिकरणम्।

एवं षड्भिरधिकरणैरखिलकल्याणगुणाकरः सर्वज्ञः सकलजगदुभयकारणभूतः चिदचिद्विशिष्टः परमपुरुषः परमात्मा साधितः। अथोपासकानां मनोरथपूर्तये तस्यैव स्वरूपं विविच्यते। तत्राल्पपुण्यानां जीवानां स्वेच्छया यद्यपि जगत्सृष्टिरानन्दयोगश्च न सम्भवति। तथापि विलक्षणपुण्यानामादित्येन्द्रप्रजापत्यादीनां सम्भवत्येवेत्याशंकायामाह।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।१।१।२१।

छान्दोग्ये—"य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः (छा० १।१।६) तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्य पाप्मभ्यो य एवं वेद" (छा० १।६।७।) तस्यर्क्च साम च गेष्णौ इत्यधिदैवतम् "अथाध्यात्मम्" य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" (छा० १।७।५।) इत्यादिकं

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साम्नायते । अत्र हिरण्मयो ज्योतिर्मयः । अत्रत्यं हिरण्यपदं सुवर्ण पदञ्च विलक्षणज्योतिःपरम् । दृश्यते—अवहितमनस्कैरुपासकै रितिशेषः । प्रणखो नखाग्रं तेन सहेत्यभिविधावाङ् । चक्षुषोर्विशेष माह तस्येति–कं जलं पिबतीति कपिः सूर्यस्तेनास्यते विकास्यत इति कप्यासं पुण्डरीकं रक्ताम्भोजम् । कैश्चिदस्य वाक्यस्य मर्कटपश्चा द्भागवत् यल्लोहितं पुण्डरीकमिति विवरणं कृतं तदर्थान्तरत्वाश्लील त्वादिदोषदुष्टतयाऽनादरणीयम् । तादृशपुण्डरीकवदस्य देवस्य क्षिणी नेत्रे । तस्य नामाह उदितिनाम । निर्वक्ति स इति—उदित उद्गतः सर्वेभ्यः सर्वपापास्पृष्ट इत्यर्थः । अधिदैवतम्—देवतामधि कृत्योपास्तिवाक्यमित्यर्थः ।

अत्रादित्यान्तःस्थमक्ष्यन्तस्थञ्च पुरुषमधिकृत्य शरीरवत्त्वश्रुत्या सर्वपापास्पर्शवत्वश्रुत्या च संशयः । किमयं पुरुषः पूर्वकृततपआदि प्रभावादीदृशमौत्कृष्ट्यं प्राप्तः कश्चिज्जीव उत परमात्मा सर्वान्तर्या इति । किं युक्तम् ? जीवः । कुतः ? शरीरवत्त्वाद्रूपवत्त्वाच्च । अक्षि पुरुषस्यापि तस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपमिति यन्नाम तन्नामेति तादृशरूपवत्त्वतादृशनामवत्त्वश्रवणाच्च शरीरसंयोगो रूपसम्बन्ध श्चादृष्टवशाज्जीवस्यैव तादृशादृष्टजन्यपुण्यपापरूपफलभोगाय, न परमेश्वरस्य, तस्य चाशरीरत्वारूपवत्त्वश्रवणादित्येवं प्राप्त आह— अन्तस्तद्धर्म्मोपदेशादिति ।

आदित्यान्तर्गतोऽक्ष्यन्तर्गतश्च श्रूयमाणः पुरुषः परमात्मैव कुतः स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उद्गतो निर्गत इत्यादिना तदसा धारणधर्माणामपहतपाप्मत्वादीनामुपदेशात् । अपहतपाप्मत्वं हि अपहतकर्मतया सम्पद्यते । कर्मवश्यतारहित्येनेतिस्पष्टोर्थः । कर्म धीनसुखदुःखभागिनः कर्मवश्या हि जीवा एव सन्ति । अतोऽपह पाप्मत्वस्य बद्धजीवधर्मत्वानुपपत्तेर्मुक्तानामपि संसारदशायां कर्म वश्यत्वेन निरुपाधिकापहतपाप्मत्वाद्यनुपपत्तेः । तस्मात्परमात्म

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एव तादृशधर्मवत्त्वादादित्याक्ष्यन्तःस्थः पुरुषः परमात्मैव न जीवः।

यत्तूक्तं रूपवत्त्वशरीरवत्त्वश्रवणादयं जीव एवेति। नैष दोषः। न हि शरीरवत्त्वं जीवत्त्वं कर्मवश्यताञ्च साधयितुमीष्टे। तस्य जीवत्त्वाभाववति कर्मवश्यत्वाभाववति च विपक्षेऽपि सत्त्वात्। सत्यसङ्कल्पस्य परमात्मनः स्वेच्छयैव शरीरसम्बन्धसम्भवात्। इयांस्तु भेदः। जीवानाङ्कर्मपारवश्यात्तदनुगुणप्राकृतदिव्यशरीरस्य सम्बन्धः। परमेश्वरस्य तु कर्मानधीनत्वेन स्वाभिमताप्राकृतदिव्यशरीरग्रहणमिति। अत एव नेश्वरस्य शरीरकृतदुःखाद्यनुभवः। स च कर्माधीनप्राकृतशरीरग्रहीतुर्जीवस्यैवेति दर्शनविन्मतम्। तथा च श्रुतयः "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" (मु० ३।१।३।) "रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम्" "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यःकृतः" (यजु० रु० ११) इत्याद्याः। यदा पश्येति श्रुत्या जीवस्य तदर्शनानन्तरं पुण्यपापविनाशपूर्वकब्रह्मप्राप्तिर्बोधिता। तत्र ब्रह्मयोनिरुक्मवर्णपदाभ्यां स्वनाभिजपद्मद्वारा कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य कारणत्वेन मुक्तप्राप्यस्य ब्रह्मणः शरीरवत्त्वं रूपवत्त्वञ्च बोध्यते। एवं "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वे० ६।८।) इति श्रुत्या स्वाभाविकज्ञानबलक्रियाशालिनस्तच्छरीरस्य तच्छरीरनिष्ठरूपस्य च स्वाभाविकत्वोपपत्त्या नित्यत्वसिद्धेः। अत एव श्रुत्युपबृंहणीभूतेतिहासपुराणादिषु बहुशस्तत्र तत्र भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहस्योपवर्णनं सङ्गच्छते। तथा चादित्याद्यन्तर्गतः पुरुषः परमात्मेवैति।

इतश्च न जीवः—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः।१।१।२२।

जीवविशेषादादित्यादेर्भेदोऽत्र व्यपदिश्यते परमेश्वरस्य "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मा" (बृ० ३।७।९।) "यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुश्शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।१८) "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" (बृ० मा० ३।७।२२) इत्याद्याः श्रुतयः परमात्मनो भिन्नाँश्चिदचिदात्मकान्सर्वान् पदार्थानीश्वरस्य शरीरत्त्वेन तन्नियम्यत्त्वेन तस्य तच्छरीरित्वेन तत्तज्जीवान्तरात्मत्वेन नियमनकर्तृत्वेन च व्यपदिश्य चिदचितोर्नियामकतया भेदं साधयन्ति। तस्मादादित्यादिदिव्यविलक्षणः परमात्मादित्याद्यन्तवर्ती पुरुषोऽन्य एवेति सिद्धम् १।१।२२॥

इत्यन्तरधिकरणम् ।

आकाशाधिकरणम् ।

अथ सर्वेषां कारणवाक्यगतानां कारणवस्तुपराणां शब्दानां सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन सर्वकारणे पर्यवसानत्वेन ब्रह्मवाचकमिति स्पष्टयितुमाह ।

आकाशस्तल्लिङ्गात् १।१।२३।

छान्दोग्ये श्रूयते—"अस्य लोकस्य कागतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्" (छा० १।९।१।) इति। तत्र संशयः। किमत्राकाशशब्देन पूर्वोक्तं लक्षणं ब्रह्माभिधीयत आहोस्विद्भूताकाशमिति। कुतः संशयः? संशय-प्रयोजकस्याकाशशब्दस्योभयत्रप्रयुक्तत्वात्। तत्र भूताकाश आकाश-शब्दस्य रूढत्वात्' लोकेप्रसिद्धत्वाच्च "कोह्येवान्यात्कः प्राण्या-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० २।७।) इत्यादावाकाशस्यानन्दमयब्रह्मपरत्वावगमात्। तथाचात्राकाशपदेन भूताकाशस्यैव ग्रहणं युक्तम्। कुतः ? तत्र रूढत्वात्। श्रुत्यपेक्षया लिङ्गस्य दुर्बलत्वाच्च। वाक्यशेषेऽपि "आकाशाद्वायुरिति वाय्वादिक्रमेणाकाशस्य कारणत्वं स्पष्टमेव। एवञ्चैतदानुगुण्येन "आत्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादावप्यात्मपदस्याकाशवाचकत्वम्। आप्नोतीत्यात्मा सूक्ष्माकाशस्ततश्च स्थूलाकाशस्य सम्भूतिस्सम्भवत्येव। सदेव सौम्येत्यादावपि सदादिपदबोध्यत्वं सूक्ष्माकाशस्यैवेति प्राप्त उच्यते। आकाशस्तल्लिङ्गात्। प्रकृतकारणवाक्य आकाशपदवाच्यं सर्वजगत्कारणं परं ब्रह्मैव। कुतः ? तल्लिङ्गात्। तस्य ब्रह्मणो महाभूतसृष्ट्यादिकं सकलजगदेककारणत्वं सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं परायणत्वमित्यादीनि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते। जगत्सृष्ट्यादिकं यद्ब्रह्मणोऽन्यभिचारि लिङ्गं तस्य तदन्यलिङ्गत्वानुपपत्त्याऽनन्यथासिद्धेन लिङ्गेन भूताकाशश्रुतेर्बाधात्। एवञ्च प्रकृतवाक्ये भूताकाशपरत्वमाकाशपदस्येत्यर्थस्यायुक्तत्वादानन्दमयाकाशस्य ब्रह्मण एव सर्वजगदुत्पत्तिरित्यर्थस्यैव युक्तत्वादाकाशशब्दवाच्यः परमात्मैव। तथा सत्येव सर्वस्माज्ज्यायस्त्वपरायणत्वादिगुणानामपि सामञ्जस्यम्। परमपुरुषे ब्रह्मण्येव तादृग्गुणानां सम्भवो नान्यत्रभूताकाशाद्यचिद्वस्तुनीति। न चाकाश इति प्रसिद्धवन्निर्देशाद्भूताकाश एव ग्राह्य इति वाच्यम्। प्रसिद्धवन्निर्देशस्यापि प्रमाणान्तरसापेक्षकत्वात्। बहुप्रमाणविरोधासम्भवाच्च। परमात्मनः कारणत्वन्तु बह्वीभिश्श्रुतिभिरसकृदाघोषितम् तथा हि—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छा० ६।२।३) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" "स इमाँल्लोकानसृजत" (ऐ० १।१) "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१) इत्येवमाद्योऽनन्ताः श्रुतयः परमात्मन एव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वजगत्कारणत्वम्प्रतिपादयन्ति। आकाशस्य तु "सर्वाणि ह व
इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छा० १।९।१) इत्येव
स्मिन्नेव वाक्ये तथात्वम्। ततश्चादिकारणत्वस्य द्विष्ठत्वासम्भवाद्
श्रुतितदनुगुणतर्कानुरोधेन चेतनस्य ब्रह्मण एव जगत्कारणत्वमाप
यम्। तथा चासमन्तात्प्रकाशत इति व्युत्पत्त्याकाशः परमात्मै
सिद्धम्। किञ्च "यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति" ति श्रु
दानन्दाकाशादात्मनः "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत
(तै० २।१) इति भूताकाशस्योत्पत्तिश्रवणात् सृष्ट्यन्तर्गतस्य भूत
काशस्य जगत्सृष्टृत्वानुपपत्तेः कार्याकाशकारणाकाशयोर्भे
कारणाकाशस्यैव जगत्कारणत्वोपपत्तेश्चास्य जगत्कारणत्वेन श्रु
स्याकाशस्य परमात्मपरत्वमेव युक्तम्॥ १।१।२३॥

इत्याकाशाधिकरणम्॥

(अथप्राणाधिकरणम्)

अत एव प्राणः। १।१।२४।

तत्रैवोद्गीथविद्यायां श्रूयते—"प्रस्तोतर्यो देवता प्रस्तावमन्व
यत्ता" इत्युपक्रम्य कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच सर्वा
ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जीहते सै
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्य
तिष्यत्तथोक्तस्य मयेति" (छा० १।११।४–५) तत्र प्राणवायुरिति
किकप्रसिद्धेः "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४।४।१८) "प्राणबन्धनं
सौम्य मनः" (छा० ६।८।२) इत्यादिषु च प्राणस्य ब्रह्मपरत्व
वगमात्संशयः। किमत्र प्राणशब्देन वायुविकार उच्यत
परमात्मेति। तत्र वायुविकारस्य प्राणस्य लोकप्रसिद्धित

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शीघ्रोपस्थितिकत्वाद्वायुविकार इति प्राप्ते—आकाशन्यायातिदेशेन प्राणशब्दस्य परमात्मपरत्वं ज्ञापयति सूत्रकारः। अत एव प्राण इति। अत एवाकाशवाक्य इव प्राणवाक्येऽपि सर्वभूतसृष्टृत्वादिब्रह्मलिङ्गदर्शनादेव प्राणशब्दाभिहितः परमात्मेत्यर्थः। "यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते" (श० ब्रा० १०।३।३।६) इति श्रुतावपि वायुविकारे प्राणाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां वागादीन्द्रियाणामेव प्राणे संवेशनादिकमुक्तं, नतु महाभूतसंवेशनादिकम्। अत्र वाक्पदमनुक्तकर्मेन्द्रियोपलक्षकं चक्षुःश्रोत्रं ज्ञानेन्द्रियोपलक्षकम्। तस्मादत्रत्यप्राणशब्दवाच्यः परमात्मैवोपास्यप्रस्तावे देवतेति सिद्धम्॥ १।१।२४॥

इति प्राणाधिकरणम्

अथज्योतिरधिकरणम्।

ज्योतिश्चरणाभिधानात्। १। १। २५।

छान्दोग्ये समाम्नायते—"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योति" रिति (छा० ३। १३।७) अस्यार्थः। गायत्रीपदबोध्यब्रह्मोपास्त्यनन्तरमुपास्त्यन्तरार्थोऽथशब्दः। अतो दिवो द्युलोकात्परः परस्तात् यज्ज्योतिर्दीप्यते—विश्वतः पृष्ठेषु विश्वस्मात्प्राणिवर्गादुपरीत्यर्थः। न केवलं विश्वतः पृष्ठेषु किन्तु सर्वतः पृष्ठेषु—सर्वस्माद्ब्रह्मादिप्रजापतिलोकपर्यन्तात्सर्वसंसारमण्डलादुपरीत्यर्थः। अनुत्तमेषूत्तमेषु—उत्तमा न विद्यन्ते येभ्यस्तेषु स्वावधिकोत्तमरहितेषु उत्तमस्थानविशेषेषु परब्रह्मधामस्वित्यर्थः। इदं वाव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिरिति परज्योतिषः कौक्षेयज्योति वैक्योपदेशस्तु तदात्मकत्वानुसन्धानेन फलाधिक्यज्ञापनायेति दोषः। उक्तं हि भगवता पुरुषान्तःस्थस्य ज्योतिषः स्वात्मकत्वम्।

"अहं वैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" (गी० अ० १५ इति। तत्र लोकेऽग्निसूर्यादौ वेदे ब्रह्मणि च ज्योतिःशब्दप्रयोगात्सं शयः। किमत्र ज्योतिःशब्देन प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरभिधीयते उत तस्यापि प्रकाशकममिततेजः परं ब्रह्म। किं युक्तम्? प्रसिद्ध मादित्यादिज्योतिरिति। कुतः? प्रसिद्धवन्निर्देशात् दिव इति द्युसम्ब न्धित्वनिर्देशात्परमात्मलिङ्गविशेषाश्रवणाच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते ज्योतिश्चरणाभिधानादिति। "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेने पूर्णं सर्वमि"त्युक्तं द्युसम्बन्धत्वेन निर्दिष्टमनुत्तमलोकेषु दीप्यमा नत्वेनोक्तं निरतिशयज्योतिःशब्दवाच्यमादित्यादिप्रकाशकंपरम्ब्रह्मैव कुतः? चरणाभिधानात् पादाभिधानात्। ज्योतिर्वाक्यात्पूर्ववाक्ये ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वाभिधानात्। "एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छा० ३।१२।६ इत्यत्र सर्वभूतानां मृत्युग्रस्तानामेकपादत्वोक्त्या संसारमण्डलस्य न्यूनत्वं निर्दिश्य त्रिपादस्येतिद्युशब्दनिर्दिष्टस्य परमपदस्य त्रिपाद् विभूतिपदाभिधेयस्य त्रिपादिति बहुपादत्वकथनेन ब्रह्माण्डात्रिगु णाधिक्यनिर्देशेनाप्रमेयत्वमुक्तम्। तन्निवासिनाममृतपदेन मृत्युरा त्यमुपवर्ण्य नित्यमुक्तानां स्थितिस्तत्र सूचिता। एवञ्च "ततो ज्य यांश्च पूरुष" इति तत्स्वामित्वबोधनाद्ब्रह्मण एव ज्योतिरशब्दवा धेयत्वमिति॥ १।१।२५॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथाहि दर्शनम्। १। १। २६।

पूर्ववाक्ये "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च" (छा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३। १२। १) इति गायत्र्याख्यच्छन्दसः प्रकृतत्वात्तस्यैव "पादोऽस्य सर्वा भूतानि" इति सर्वभूतव्यपदेशस्योपपत्तेर्न ब्रह्मण इतिचेन्न। तथा छन्दोद्वारेण तद्गते तत्प्रतिपाद्येऽक्षरसमुदायात्मकगायत्री-वाच्ये ब्रह्मणि चेतोऽर्पणस्य चित्तप्रवेशनस्य निगदादभिधानात्। तत्र दृष्टान्तमाह तथाहि दर्शनम्। अन्यत्रापि तत्तद्वारा तदन्तर्गतस्य ब्रह्मण उपासनं दृश्यते। "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः" (ऐ० आ० ३।२।३।१२) इति। एवञ्च "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च" इत्युक्तस्य सर्वात्मकत्वस्याक्षरसन्निवेशरूपाया गायत्र्या अनुपपत्तेः। सर्वान्तर्गतस्य ब्रह्मणः सर्वशरीरित्वेन सर्वात्मकत्वोपपत्त्या तस्यैव सर्वभूतपादत्वस्य त्रिपादामृतत्वस्य च निष्पत्तेः पूर्वसूत्रोक्तज्योतिःशब्दवाच्यत्वं निष्पद्यते न तदन्यस्य ॥१।१।२६॥

एतदेव द्रढयति।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।१।१।२७।

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य "सैषा चतुष्पदे"ति गायत्र्याश्चतुष्पदत्वव्यपदेशस्य तद्वाच्ये ब्रह्मण्येवोपपत्तेः। अक्षरसन्निवेशरूपाया गायत्र्यास्तदनुपपत्तेः। एवं गायत्रीशब्दनिर्दिष्टं ब्रह्मैव ज्योतिःशब्दवाच्यं भवतीत्यर्थः ॥१।१।२७॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।१।१।२८।

पूर्वस्मिन् वाक्ये "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति सप्तम्या दिवस्त्रिपादाधारत्वनिर्देशा "दथ यदतः परो दिव" इतिपञ्चम्या ज्योतिषोवधित्वेन दिवो निर्देशादुभयत्र विभक्तिभेदकृतस्योपदेशभेदस्य सत्त्वान्न ज्योतिर्वाक्ये प्रत्यभिज्ञोपपद्यत इतिचेन्न। कुतः? प्रातिपदिकार्थेन प्रधानेन कारिताया प्रत्यभिज्ञाया गुणभूतेन विभक्त्यर्थेन प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेर्भेदनोपदेशद्वयेऽपि प्रत्यभिज्ञाया विरोधाभावात्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"तस्मात्परमात्मैव" दिवः परो ज्योतिर्दीप्यत इति वाक्यात्प्रतिपाद्य इति निरवद्यम् ॥२।१।२८॥

इति ज्योतिराधिकरणम् ।

प्राणानुगमाधिकरणम् ।

यद्यप्यनन्यथासिद्धतात्पर्यवद्ब्रह्मलिङ्गादाकाशज्योतिरादिपदघटि तवाक्यानां ब्रह्मपरत्वे युक्तेऽपि प्रतर्दने प्रकरणे तद्घटकप्राणादि पदार्थानामनेकेषामनेकलिङ्गदर्शनात्कथं तात्पर्यनिर्णय इत्याशङ्क यामाह ।

प्राणस्तथाऽनुगमात् १।१।२९।

कौषितकीब्राह्मणोपनिषदि श्रूयते—"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासि रिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च" इत्यादि । त त्वमेव मे वृणीष्व यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे इति प्रतर्दनेनोक्त "इन्द्रः उवाच प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व" इ च । तथाग्रेऽपि "अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्था पयति" इति । (कौ० ३।१।२।३।) अन्ते च "स एष प्राण ए प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः" (कौ० ३।८।) इत्यादि । युद्धेन तत्कारणे पौरुषेण पुरुषकारप्रदर्शनेनेन्द्रस्य प्रियं धाम गृहं जगाम ! तं ह इन्द्र उवाच प्रतर्दन ! वरं ते ददामि सहोवाच प्रतर्दनः हे इ त्वमेव वरं वृणीष्वेत्यादिरस्यार्थस्तत्र संशयः । किमिह प्राणशब्दे वाय्वात्मकः प्राण उक्त, उत जीवोऽथवा परमात्मेति । किं युक्त जीवः । कुतः ? इन्द्रशब्दवाच्यस्य जीवत्वप्रसिद्धेः । प्राणशब्द तत्समानाधिकरण्येन तत्रैव पर्यवसानात् तस्यैवोपास्यत्वोक्तेश्चे प्राप्त आह—प्राणः प्राणशब्दाभिहितः प्राणस्य प्राणः यस्य प्रा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शरीरम् "यस्यात्मा शरीरम्" "जगत्प्राणायात्मने तस्मै नमः स्यादि" त्येवमादिश्रुत्युक्तः प्राणशरीरः प्राणनियन्तृत्वेन तत्स्थिति-प्रवृत्तिहेतुभूतः परमात्मा । कुतः ? तथाऽनुगमात् । "प्रज्ञात्माऽनन्दो-ऽजरोऽमृत" इत्यादिपरमात्माव्यभिचारिलिङ्गैः प्राणस्य ब्रह्मपरत्वे-नानुगमात् । न हि प्रज्ञात्मत्वमचेतनस्य वायोः सम्भवति । तथोत्तरत्र "एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येवैनं साधुकर्म कार-यति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः" (कौ० ब्रा० ३।९।) इति श्रुतिप्रतिपादितधर्माधर्मकारयितृत्वलोकाधि-पतित्वसर्वेश्वरत्वादीनि लिङ्गानि प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्व एव संग-च्छन्त इति प्राणपदबोध्यम्ब्रह्मैव ॥१।१।२९॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् १।१।३०।

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति तन्न । कुतः ?

"प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तम्मामायुरमृतमित्युपास्व" इति वक्तुरि-न्द्रस्य स्वात्मन उपास्यत्वेनोपदेशात् । उपक्रमस्थेन्द्रपरत्वे निश्चिते सत्युपसंहारस्य तदनुरोधेन नेतव्यत्वाच्च । उपसंहारादुपक्रमस्य बली-यस्त्वात् । उपक्रमे हि देवताविशेष इन्द्रोऽहंकारवादेन स्वात्मानं ख्यापयामास प्रतर्दनाय "मामेव विजानीहि" "प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा" इत्यादिभिः । तथा "त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीच्छाला-वृकेभ्यः प्रायच्छम्" इत्यादिभिश्च विग्रहधर्मैरेव स्वात्मानं प्रशशंस । न चैते धर्मा ब्रह्मणि सम्भवन्ति । तस्मान्न प्राणो ब्रह्मेति चेन्न । अध्या-त्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् । हि यस्मादस्मिन्नध्यायेऽध्यात्मसम्बन्ध-स्यात्मानमधिकृत्य वर्तमानस्य सम्बन्धस्य परमात्मसम्बन्धस्य भूमा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बाहुल्यमुपलभ्यतेऽस्मिन्प्रकरणे। उपक्रमोपसंहारयोरन्तराले परमात्म
धर्मसम्बन्धस्य भूयस्त्वं दृश्यते। उपक्रमे "यं त्वं मनुष्याय हितत
मन्यसे" इत्युक्तं तद्धि हिततमत्वं परमात्मोपासनयैव संगच्छते
एतदुक्तं भवति। सर्वेषां प्राणजीवदेवादीनां परब्रह्मन्यूनत्वेन त
धीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन प्राणादिविषयिण्या उपासनायाः हिततं
ऽपि हिततमत्वं नास्ति। तदपेक्षया सर्वदेवादिनियन्तृत्वसर्वफ
दातृत्वादिकं परमात्मोपासनाया एव हिततमत्वमितिराद्धान्त
"तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भू
मात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः" (कौ० ३।९।) इति सर्वाधारत्वस्य, "
ह्येव साधुकर्म कारयती"ति साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वस्यानन्दादे
सर्वलोकाधिपतित्वस्य तत्पालकत्वस्य च परमात्माऽसाधारणधर्म
निष्पत्तेः प्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैवेत्यवधेयम् ॥१।१।३०॥

कथं तर्हि इन्द्रकृतस्य "मामुपास्व" "मामेव जानीही"त्युपदे
स्योपपत्तिरित्यत आह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।१।१।३१

"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि
(छा० ६।३।२) "अन्तःप्रविष्टा शास्ता जनानां सर्वात्मा" (यजु
आ०) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छ
६।८।७) "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात
शरीरम्" (बृ० ५।७।२२) इत्येवमादिशास्त्रेण जीवात्मनः परमात
शरीरत्वं परमात्मनश्च जीवशरीरित्वं नियन्तृत्वं जीवस्य तन्नियम्
त्वेन तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तितया तदभिन्नसत्ताकत्वं तेन
भिन्नत्वञ्चावगम्य जीववाचिनामहंममादिशब्दानां तच्छरीरि
परमात्मनि पर्यवसानत्वेन परमात्मनोहंममादिशब्दवाच्यत्व
वगम्य "मामेव विजानीहि" "मामुपास्व" इत्यादिभिः स्वशरीरि
परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिष्टवानिन्द्रः। तत्र दृष्टांतमाह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

देववदिति—यथाजलसागरे तैलसमूहे च पतितस्य तूलकणस्य स्वेन रूपेण भानं न भवति—अपितु जलादिरूपेणैव, तथैव सर्वव्यापकेन परमात्मनाऽन्तर्बहिर्व्याप्तस्य जीवस्य स्वेन रूपेण भानस्य प्रमोषेण परमात्मरूपेणैव भानम्। ब्रह्मणा बहिरन्तर्व्याप्तस्य जीवस्य तदपृथक्सिद्धया तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन तदभिन्नसत्ताकत्वेन शरीरशरीरिणोरुभयोरुप्येकशब्दवाच्यत्वमवगम्याहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मविद्यया प्रतीतिरुपपद्यते। तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमितिन्यायेन मनुसूर्यादिसर्वजगदभिन्नं ब्रह्म तदभिन्नस्य स्वस्य मनुसूर्याद्यभिन्नत्वम्पश्यन् मनुसूर्यादिसर्वरूपो भूत्वाह वामदेवः। "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृ० ३।४।१०) एवञ्च तदात्मकत्वानुसन्धानेनैव "देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्" (बृ० १।४।१०) इत्यादयोऽपि प्रतीतय उपपद्यन्त इति सर्वं स्पष्टम्॥ १।१।३१॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्। १।१।३२

ननु "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" (कौ० ब्रा० १।८) इति जीवलिङ्गात् वागादिकरणैवष्टितस्य जीवस्य वक्तुर्ज्ञेयत्वावगमात्। एवं "प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" (कौ० ब्रा० ३।१) इति प्राणलिङ्गात्। देहधारणस्य प्राणलिङ्गात्—तच्च च्छान्दोग्येऽपि व्यक्तम्" ते ह प्राणाः प्रजापतिपितरमेत्योचुरित्यारभ्य भगवन् त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रामीरित्यादिना प्राणेन्द्रियसंवादेनाप्यवगम्यते। अतो न ब्रह्मपरमिदं वाक्यमितिचेन्न। उपासात्रैविध्यात् परमात्मन एव सर्वकारणभूतस्य स्वाकारेण सच्चिदानन्दस्वरूपेण, प्राणाद्यचेतनवर्गशरीरकत्वेन चेतनजीवब्रह्मेन्द्रादिशरीरकत्वेन चानुसन्धानमित्युपासात्रैविध्याद्धेतोः प्राणेन्द्रादिशब्देन परमात्मनोऽभिधानमवगम्यते।

अन्यत्रापि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्म" (तै०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३।६) इत्यादिना स्वरूपेणानुसन्धानं "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" (तै० २।६) "निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनं च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्" (तै० २।६) इत्यादिना भोक्तृभोग्यभोगोपकरणतयानुसन्धानम् "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम्" (बृ० ३।७।३) "योऽप्सु तिष्ठन् यस्यापः शरीरम्" (बृ० ३।७।४) प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादिभिरचेतनवर्गशरीरकत्वेन "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" (बृ० ५। अ० ७। ब्राः विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठः) इत्यादिभिश्चेतनजीवेन्द्रादिशरीरकत्वेन चानुसंधानं बहुश उपलभ्यते ।

आश्रितत्वाच्च "प्राणबन्धनं हि मनः" इत्यादिना ब्रह्मलिङ्गशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वावगमाद्ब्रह्मोपदेशोयमित्यवगम्यते । इहापि प्रकरणे "यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति हिततमोपक्रमादिब्रह्मलिङ्गयोगाच्च ब्रह्मोपदेशोऽयमित्यवधेयम् । यत्तु प्राणप्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" (कौ० ब्रा० ३।३) इति मुख्यप्राणलिङ्गात् तस्यैवायमुपदेश इत्युक्तं तन्न । "न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" (काठ० २।५।५) इति श्रुत्या प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात् स्यापि परमात्मन्येव प्रयुक्तत्वादिति सर्वमवदातम् ॥१।१।३२॥

(इति प्राणानुगमाधिकरणम् ।)

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य संक्षिप्तसारे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य

संक्षिप्तसारे

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

(सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणम् ।)

प्रथमपादे श्रद्धोपपत्तिपूर्वकाचार्योपसत्यादिभिरधीतसाङ्गसशिरस्कवेदस्य कर्ममीमांसाश्रवणाधिगतकर्मयथार्थविज्ञानस्य केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्वज्ञानतया समुत्पन्नमोक्षाभिलाषस्यानन्तस्थिरफलजिज्ञासायां प्रवृत्तस्य मुमुक्षोरभीप्सितफलसिद्धये शास्त्रैकप्रमाणकेऽनन्तकल्याणगुणगणैकराशौ निखिलजगज्जन्मादिहेतौ परे ब्रह्मणि श्रुतीनां समन्वयो दर्शितः। तत्र केषाञ्चिदर्थान्तरप्रसिद्धानां श्रौतवाक्यानां परमात्मन एवाभिधायकत्वमित्यपि समर्थितम् ।

अथ कानिचिदस्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचिच्च स्पष्टजीवलिङ्गकानि वाक्यानि तान्यपि ब्रह्मपराण्येवेति निर्णयाय द्वितीयतृतीयपादावारभ्येते—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १।२।१।

छान्दोग्ये—सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः (छा० ३।१४।१।२।) इत्यादिकमाम्नायते ।

तत्र संशयः । किमयं मनोमयत्वादिधर्मकः क्षेत्रज्ञ उपास्यत्वेन परिगृह्यत आहोस्वित्परमात्मेति । किन्तावद्युक्तम् । जीव इति । कुतः ? मनःप्राणयोर्ह्यत्रोपकरणत्वश्रवणात्तादृशोपकरणानि क्षेत्रज्ञस्यैव सर्वत्र प्रसिद्धतया ज्ञायन्त इति । परमात्मनस्तु—"अप्राणो-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऽमनाः शुद्ध" इत्यादिना मनःप्राणादिसम्बन्धस्य प्रतिषेधान्मनो-
मयत्वादेस्तत्सम्बन्धित्वानुपपत्तेः। ननु "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"ति
पूर्ववाक्ये स्वरवेणैव ब्रह्माभिहितम्। तस्यैवोपासनेयमपि स्यादिति
चेन्न, तस्य वाक्यस्योपासनाङ्गभूतशान्तिविधानरूपार्थे विनियुक्त-
त्वात्। उत्तरवाक्ये मनोमयादिपदार्थेन समं निराकाङ्क्षत्वाच्च
एवञ्च "स क्रतुं कुर्वीते"त्यनेन वाक्येन विहितस्योपासनस्य
पूर्वोदितब्रह्मविषयत्वमितिप्राप्ते ब्रूमः। मनोमयत्वादिगुणकः पर-
मात्मैव। कुतः? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। सर्ववेदान्तवाक्येषु
तस्मिन्नेव परे ब्रह्मणि प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात्। "मनो-
मयः प्राणशरीरनेता" (मु० २।२।७) "स एषोन्तर्हृदयाकाशः
तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः" (तै० १।६।३।)
चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा "मनसा तु विशुद्धेन" (मु० ३।१।८)
"प्राणस्य प्राणः" (के० १।२) "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राण-
मेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" (छा० १।११।५) इत्यादिषु हि
ब्रह्मणो मनोमयत्वादिगुणैः प्रसिद्धस्योपदेशात्। मनोमयत्वमप
विशुद्धमनोग्राह्यत्वम्, प्राणशरीरत्वं प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वञ्च

यद्वा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छा०
४।१४।१) इति पूर्वोदितवाक्येनैवोपासनं विधीयते। सर्वशरीरं
ब्रह्म शान्तस्सन्नुपासीतेति। तत्र गुणोपादानार्थं स क्रतुं कुर्वीतेत्य-
नुवादः। ते च गुणाः मनोमयत्वादयः। अर्थान्मनोमयत्वादिगुण-
विशिष्टं सर्वशरीरकं ब्रह्मोपासीतेति समुदितवाक्यार्थः। तत्र ब्रह्म-
शब्देन किमत्र प्रत्यगात्मोच्यत आहोस्वित् परमात्मेति संशयः
प्रत्यगात्मेति पूर्वपक्षस्तस्यैव सर्वपदसामानाधिकरण्यात्। ब्रह्मणस्तु
तन्नोपपद्यते। अपहतपाप्मत्ववचनैर्हेयगुणराहित्येन पुण्यपाप-
समन्वितस्य सर्वपदग्राह्यस्य तस्याऽसंभवात्। तत्र सिद्धान्त उच्यते
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादिति। सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यनिर्दि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वस्मिन् जगति सर्वशरीरितया विधीयमानं ब्रह्मैव न क्षेत्रज्ञः। कुतः? प्रसिद्धोपदेशात्। तज्जलानितिहेतोः। यस्मात्सर्वमिदं ब्रह्मात्मकमेव तज्जत्त्वात्तल्लत्त्वात्तदनत्वाच्चेति प्रसिद्धोपदेश उपलभ्यते। यतो वेत्यादिश्रुतय उपदिशन्ति परस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्। तत्र हि परमात्मनः सकाशादेवोत्पत्तिस्तेनैव पालनं तत्रैव च लय इति स्पष्टमुक्तम्। एवञ्च सर्वपदार्थान्तर्गतस्य क्षेत्रज्ञस्यापि स एव परमात्मा कारणम्। "सकारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः" (श्वे० ६।९) इति करणाधिपस्य क्षेत्रज्ञस्याधिपः परमात्मैव कारणमभिधीयते। एवञ्च सर्वशरीरकस्य सर्वप्रकारस्य परस्य ब्रह्मणः शान्तः सन्नुपासनं कुर्यादिति श्रुतिः परमात्मनः सर्वात्मकत्वमुपपाद्य सार्वदिकमुपासनं विदधाति। परमात्मा च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतया स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कार्यावस्थस्य कारणमित्यसकृदावेदितम्। अतः परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दाभिधेयो न क्षेत्रज्ञ इति ॥१।२।१॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥१।२।२।

"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" (छा० ३।१४।२) इत्यादिना ब्रह्मासाधारणत्वेन वक्तुमिष्टानां सत्यसंकल्पत्वादीनां गुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्चायं मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव। श्रुत्यर्थस्तु—मनोमयः भगवन्निदिध्यासनादिसाधनैर्निर्मलीकृतमनसा ग्राह्यः। प्राणशरीरः—सर्वेषां प्राणानां धारकः "यस्य प्राणः शरीरम् इतिश्रुत्या प्राणस्य शरीरत्वनिर्देशादाधेयत्वविधेयत्वाज्ञत्वादयस्तस्मिन्फलन्ति। लोकेऽपि शरीरपदेनाधेयत्वादय एव गृह्यन्त इति तान्येव शरीरपदबोध्यानीति। भारूपः—प्रकाशस्वरूपः—अप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहवत्तया निरतिशयदीप्तियुक्त इति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यावत् । सत्यसंकल्पः—अप्रतिहतसंकल्पः । आकाशात्मा—आक
शस्याप्यात्मत्वेन ततोऽपि सूक्ष्मरूपः—"अणोरणीयान्महतो महीय
नितिं श्रुतेः । सर्वकर्मा—सर्वं जगत्कर्म यस्यासौ सर्वकर्मा सर्वज्ञ
त्कर्तेति यावत् । यद्वा—सर्वाणि जगत्प्राणिभिः क्रियमाणानि कर्माणि
यस्य सः सर्वजगत्प्राणिभिः सर्वकर्मकारयितेत्यर्थः । सर्वकामः—
काम्यन्त इति कामाः भोग्यभोगोपकरणादयस्ते दिव्याः सन्ति यः
स सर्वकामः सर्वगन्धः । अप्राकृतदिव्यगन्धः । सर्वरसः । दिव्य
रसः । स्वभोगभूतनिरवद्यनिरतिशयकल्याणरूपाः सर्वविधाः गन्ध
रसाः सन्ति यस्य स इत्यर्थः ।

"अशब्दमस्पर्शमगन्धवच्च" इदं प्राकृतशब्दस्पर्शादिनिषेध
परमिति ज्ञेयम् । सर्वमिदमभ्यात्तः । उक्तमिदं रसपर्य्यंतं कल्याण
गुणजातं सर्वं स्वीकृतवानित्यर्थः । अभ्यात्त इति कर्तरि क्तः । अवाक्
वाक् उक्तिरस्य नास्तीत्यवाकी । यतः । अनादरः—अवाप्तसमस्त
कामत्वेनादर्तव्याभावादादररहितः । अत एवावाकी । अ
ल्पाकः—परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वं तृणीकृत्य तूष्णं
मासीन इत्यर्थः । त एते विवक्षितगुणाः पर एव ब्रह्मण्युपपद्य
इतिमनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव न जीव इति ॥१।२।२॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।१।२।३।

पूर्वसूत्रेण विवक्षितानां गुणानां परमात्मन्युपपत्तिमभिधायाधु
तु जीवेऽनुपपत्तिस्तेषामुच्यते । तुशब्दोऽवधारणार्थकः । उक्तन्याय
त्परमात्मैव मनोमयत्वादिगुणको न जीवः । कुतः । मनोमयत्वप्रा
शरीरत्वभारूपत्वसत्यसंकल्पत्वादीनां कल्याणगुणानां शरीरसम्बन्ध
निबन्धनापरिमितदुःखनिमग्नजीवसम्बन्धित्वानुपपत्तेः ॥१।२।३॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हेत्वन्तरमाह—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।१।२।४।

न शारीर इति पूर्वपदानुषङ्गः । शारीरो मनोमयत्वादिगुणको न भवितुमर्हति । कुतः । कर्मकर्तृव्यपदेशात् । "एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि" (छा० ३।१४।४) इति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमुपास्यं परमात्मानं प्राप्यत्वेन कर्मत्वेन व्यपदिशति । अभिसंभवितास्मीति प्राप्तास्मीत्युपासकं जीवं कर्तृत्वेन व्यपदिशति । अतः प्राप्ता जीव उपासकः प्राप्यं ब्रह्मोपास्यं न च सत्यां गतावेकस्यैव कर्मकर्तृव्यपदेशो युज्यते । तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एवेति न शारीरो मयोमयत्वादिगुणकः । श्रुत्यर्थस्तु—प्रारब्धकर्मावसाने मुमुक्षुरहं शरीरपातादूर्ध्वं प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमेतं परमात्मानमभिसंभवितास्मि प्राप्तास्मीति ॥ १।२।४॥

शब्दविशेषाच्च । १।२।५।

इतोऽपि मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मा शारीराज्जीवात्मनोऽन्यः कस्मात् । शब्दविशेषात् । "एष म आत्मान्तर्हृदये" (छा० ३।१४।३) इत्यत्र म इति षष्ठ्या शारीरो निर्दिष्टः । आत्मेति प्रथमया परमात्मा । भिन्नविभक्तिनिर्देशेन तयोर्भेदः स्पष्ट एव । तथा समानप्रकरणे वाजिनां श्रुतौ शब्दविशेषःश्रूयते जीवपरयोः । "व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूमम्" (शतपथब्राह्मण १।६।३) इति । अत्रान्तरात्मन्निति सप्तम्या शारीरो निर्दिष्टः । पुरुषो हिरण्मय इति प्रथमयोपास्यः परः । अतस्तयोर्भेदप्रत्यायकशब्दविशेषान्मनोमयत्वादिगुणकः परः शारीरादन्य इति ॥ १।२।५॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इतश्च शारीराद्भिन्नः—

स्मृतेश्च । १। २। ६।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ गी० १८। ६१।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
"यो मां पश्यति सर्वत्र" "मयि सर्वमिदं प्रोतम्"

इत्यादयः स्मृतयउपासकत्वेन जीवमुपास्यतया परमात्मान मुपदिशन्ति । अतो जीवादन्यः परमात्मेति ॥ १। २। ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति । चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च । १। २। ७।

अर्भकमत्यल्पकमोको नीडं स्थानं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् एष म आत्मान्तर्हृदये (छा० ३। १४। ३) इत्यणीयसि हृदयाव तने स्थितत्वात्। अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा (छा० ३। १४। ३ इतिस्वरूपेणाणीयस्त्वस्य व्यपदेशात्। शारीरो जीव एवात्रोपास्त तया निश्चीयते । तस्यान्यत्रा "राग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इत्यादा वल्पीयस्त्वश्रवणात् न परमात्मा तस्य सर्वगतत्वेनापरिच्छिन्न त्वादिति चेन्न । निचाय्यत्वादेवम् । एवं स्वल्पपरिमाणहृदयस्थत्वे निचाय्यत्वादुपास्यत्वात्परस्यात्मनस्तथात्वं व्यपदिश्यते । न पुनर णीयस्त्वमेवास्य स्वरूपम् । सर्वगतस्यापि क्वचिदपेक्षया परिच्छि न्नत्वं व्यपदिश्यते । अत्र दृष्टान्तः व्योमवच्चेति । यथा सर्वगतमपि व्योमाल्पपरिमाणौकः सूचीपाशापेक्षया व्यपदिश्यते । यथ चाखिलवसुन्धराधिपतेरयोध्याधिपतित्वेन व्यपदेशश्चक्रवर्तिकुले वतीर्णस्य रामस्योपपद्यते । एवमपरिच्छिन्नस्यापि परस्योपासनाव मल्पत्वव्यपदेशः । न चैतावतात्पप्रमाणापत्तिः । "ज्यायान्पृथिव्य ज्यायानन्तरिक्षा" दित्यादिना ब्रह्मणो महत्त्वाभिधानात् । एतदुप

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

म्भवति—सर्वगतोऽपीश्वरो हृदयपुण्डरीके परिच्छिन्नरूपो ध्यानयोगादुपास्यमानः प्रसीदतीति ॥ १। २। ७॥

सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् । १। २। ८।

हृदयमनःप्राणेषु जीवपरमात्मस्थित्यभ्युपगमे जीवस्येव शरीरसम्बन्धप्रयुक्तसुखदुःखभोगावाप्तिः परमात्मनोऽपि प्रसज्येतेति चेन्न, जीवपरयोर्वैशेष्यात् । स्वार्थे ष्यञ् । स्वतन्त्रपरतन्त्रज्ञानाश्रयाज्ञानाश्रयत्वादिरूपेणोभयोर्विशेषवत्त्वात् । नहि शरीरान्तर्वर्त्तित्वमेव सुखदुःखोपभोगहेतुः । शुभाशुभकर्मपारवश्यतायास्तद्धेतुत्वेनाभ्युपगमस्य सर्वसम्मतत्वात् । "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति—अनश्नन्योऽभिचाकशीति" श्रुतिर्जीवस्य पुण्यपापरूपकर्मपरवशत्वेन सुखदुःखोपभोगमपहतपाप्मनः परमात्मनस्तन्निवृत्तिञ्चाभिधत्ते॥१।२।८॥

अथात्रधिकरणम् ।

एवं पूर्वाधिकरणेषु "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यादि श्रुतीनां समन्वयं ब्रह्मणि प्रदर्श्य तस्य कर्मजन्यसुखदुःखोपभोगाभावोऽपि दर्शितः । इदानीं "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत" इत्यादिश्रुतीनां समन्वयं तस्मिन्नेव ब्रह्मणि दर्शयंस्तस्य पूर्वाधिकरणवच्चराचरात्तृत्वासंभवरूपां शङ्कां निराकरोति—

अत्ता चराचरग्रहणात् १।२।९।

अथ कठवल्लीष्वेवमाम्नायते । "यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः (काठ० १।२। २५) इत्यत्रौदनोपसेचनसूचितः कश्चिदत्ता प्रतीयते । स किमग्निः ? किंवा जीव उत परमात्मेति संशयः । विशेषानवधारणात् त्रयाणामपि संशयविषयत्वादिति । किं युक्तम् ? अग्निस्तावदत्ता स्यात् "अग्निरन्नाद" इति श्रुतेः । ब्रह्मक्षत्रादिदहनसामर्थ्यप्रसिद्धेश्च । जीवो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वात्ता स्यात्। तस्य हि कर्मनिमित्तकभोक्तृत्वप्रसिद्धिः। "तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्ति" (मु० ३।१।१) इति दर्शनात्। परमात्मनस्तु अनश्नन्योऽभिचाकशीतीति तत्रैव निषेधादितिप्राप्ते ब्रूमः।

अत्रात्ता खलु परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः। चराचरग्रहणात्। कृत्स्नस्य चराचरस्यात्तृत्वं तस्यैव सम्भवति। ब्रह्म च क्षत्रं चेति कृत्स्नं जगच्चराचरात्मकमिहादनीयत्वेन गृह्यते। उपसेचनं मृत्युरुपसेचनं स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुर्भवतीति प्रसिद्धम्। तस्मादुपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपसिच्यमानस्य सर्वस्य चराचरस्य जगत ओदनत्वमत्र विवक्षितम्। तादृशस्याद्यस्यात्ता परमात्मनोऽन्यो न सम्भवति। परमात्मा तु ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितं चराचरात्मकं जगत्संहरन् सर्वमत्तीति तस्यैवात्तृत्वमुपपद्यते। अनश्नन्योऽभिचाकशीति" (मु० ३।१।१) एतद्दर्शनं कर्म्मणां फलभोगस्य प्रतिषेधपरम्। सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात् सर्वसंहृतिरूपभोक्तृत्वेनात्ता परमात्मैव न चान्य इति।१।२।९॥

प्रकरणाच्च १।२।१०।

एवमपि परमात्मैवात्रात्ता भवितुमर्हति। यतस्तस्यैवेदं प्रकरणम्। "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (काठ० १।२।१८) "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" (का० १।२।२२) "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया" (का० १।२।२३) इत्यादिषु ब्रह्मैव प्रकृतम्। "क इत्था वेद यत्र सः" (का० १।२।२५) इति तत्प्रसादाभावे तस्य दुर्विज्ञानत्वरूपलिङ्गादपीहात्तृत्वं परमात्मन एवेति ॥१।२।१०॥

इत्यत्राधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।१।२।११।

कठवल्लीषु "यस्य ब्रह्मा च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः" इति वाक्यानन्तरमेवं पठ्यते "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता" (का० १।३।१) इति । तत्र संशयः । किमत्र गुहां प्रविष्टौ बुद्धिजीवौ ? आहोस्विज्जीवपरमात्मानौ ? किं युक्तम् ? गुहां प्रविष्टाविति वचनात्सर्वगतस्य परमात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वेन गुहाप्रवेशासम्भवात् । ऋतं पिबन्ताविति तस्याप्रकामस्य कर्मफलभोक्तृत्वानुपपत्तेश्च । लोक्यन्ते भुज्यन्ते कर्मफलानीति लोकस्तस्मिंल्लोके शरीरे सबन्धासम्भवाच्च । किञ्च जीवात्मा बुद्धेर्भिन्नस्तज्ज्ञानार्थं "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्" (का० १।१।२०) इत्येवं प्रश्नदर्शनाद्बुद्धिजीवावेवात्र प्रतिपाद्येते । इतिप्राप्त आह । गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनादिति । "गुहां प्रविष्टावृतं पिबन्तावित्यत्र न बुद्धिजीवौ न वा प्राणजीवावुच्येते। अपितु जीवपरमात्मानावेव ज्ञेयौ हि यतस्तद्दर्शनात् । अस्यामेवोपनिषदि "अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य" (का० २।४।१२) इति स्वभक्तजनहृदयगुहायां दर्शनविधानात् । "तं दुर्दृशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" (का० १ ।२।१२) यो वेदनिहितं गुहायामित्यादिभिः सर्वगतस्यापि ब्रह्मणो हृदयलक्षणगुहावर्तित्वदर्शनाच्च। "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत" (का० २ । १ । ७) इत्यादिना जीवस्यापि

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुहाप्रवेशव्यपदेशाच्च । कर्मफलान्यत्तीत्यदितिर्जीवः प्राणेन सम्
वति–इन्द्रियाधीनभोगा । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती–हृदयपुण्डरीक
मध्यवर्तिनी । भूतेभिर्व्यजायत–पृथिव्यादिभूतैस्सहिता देवादिरूपे
बहुधा जायत इतिश्रुत्यर्थः । एवञ्च" ऋतं पिबन्ताविति व्यपदेश
छत्रिणो यान्तीतिवत्संगच्छते । कर्मफलभोक्तृत्वेनैकस्मिञ्जीवे
निश्चिते द्वितीयेनापि समानस्वभावेन चेतनेनैव भाव्यम् । संख्या
श्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते । तद्यथाऽन्य
गोर्द्वितीयोन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेवान्विष्यते, नाश्वो न गर्दभ इति
अथवा—जीवःपिबति, परमात्मा पाययति एवमपि पिबतीत्येव
मुच्यते । पाचयितर्यपि पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात् । यश्चानन्यशरणो
भक्तस्तदर्पितकर्मफलस्याग्रभोक्तायं परमात्मेति प्रसिद्धेश्च । तस्मा
त्स्पष्टजीवपरमात्मलिङ्गाज्जीवपरमात्मानावेव गुहां प्रविष्टाविति
॥ १ । २ । ११ ॥

विशेषणाच्च । १। २। १२।

इतश्च जीवपरमात्मानावेव गुहां प्रविष्टौ ज्ञेयौ तयोरेवात्र
विशेषणात् । तथा हि "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
(कठ० १ । ३ । ३ ।) इत्यादिना रथिरथादिरूपकल्पनया संसा
न्मोक्षगन्ता जीवः कल्पितः । "सोऽध्वनः पारमाप्नोति । तद्विष्णो
परमं पद" मिति गन्तव्यत्वेन च परः प्रतिपादितः । इति जीव
परमात्मानौ गन्तृगन्तव्यभावेनास्मिन्प्रकरणे विशिष्टतया दर्शितौ
तस्माद्गुहाप्रविष्टत्वेनेह जीवपरमात्मानावेवोच्येते न तु बुद्धिजीवा
विति सिद्धम् ॥ १। २। १२॥

इति गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्तराधिकरणम् ।

अन्तर उपपत्तेः । १। २। १३।

छान्दोग्ये—उपकोशलविद्यायां श्रूयते—"य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच। एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" (छा० ४।१५।१) इति। तत्र संशयः। किमयं अक्षिण्यन्तरश्रूयमाणो जीवः ? आहोस्वित्परमात्मेति ? अत्राक्ष्याधारतया जीव एव स्यात्। कुतः ? दृश्यत इति प्रसिद्धवदपरोक्षतयाभिधानात्। जीवादेरदृश्यत्वप्रसिद्धेश्च। सर्वगतस्य परमात्मनोक्षिस्थानत्वासम्भवाच्च। अत्रोच्यते। अन्तर उपपत्तेरिति। अन्तरः परमात्मा। कुतः ? तत्रोपदिष्टगुणानां तस्मिन्नेवोपपत्तेः। एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति श्रुतिदर्शितामृतत्वाभयत्वादिगुणानां तस्मादन्यत्राऽनुपपत्तेः। "एतं संयद्वाम इत्याचक्षते। एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव वामनिः। एष हि सर्वाणि वामानि नयति। एष उ एव भामनिः। एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति" (छा० ४। १५। ३) इति वाक्योक्तानां संयद्वामत्वादीनां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेः परमात्मैवात्राक्ष्याधारतयाभिधीयते। संयन्ति वामानि कर्मफलानि यस्मादिति संयद्वामः सर्वफलोदयहेतुः। एतं हि अक्षिगतं पुरुषमाश्रित्य सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति, उत्पद्यन्त इति स एव सर्वकर्मप्रवर्तकस्तत्फलोदयहेतुश्च। एष उ एव वामानि नयतीति। एष वामानि कल्याणानि नयति जनं प्रापयति एष एव भामनिः सर्वप्रकाशकस्तदेवाह एष हि सर्वेषु लोकेषु भातीति श्रुत्यर्थः ॥१।२।१३॥

स्थानादि व्यपदेशाच्च ।१।२।१४।

अक्ष्यन्तरः परमात्मैव। कुतः ? स्थानादिव्यपदेशात् "यश्चक्षुषि तिष्ठ"न्नित्यादिना सर्वान्तरात्मनः सर्वकारणभूतस्य परस्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मणश्चक्षुःस्थानत्वचक्षुरन्तरत्वचक्षुःशरीरत्वादिचक्षुर्नियन्तृत्वादीनां व्यपदेशात्। "य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यते" अत्रापि स एव प्रतीयते। अत एव दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्येति साक्षात्कारनिर्देशोऽपि भावनाप्रकर्षाद्भक्तैर्दृश्यमानत्वादुपपद्यते। ॥१।२।१४॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।१।२।१५।

इतश्चाक्ष्याधारः परमात्मा "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्मेति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्ष्यन्तर्वर्तित्वेन संयद्वामत्वादिगुणवत्तया चोपास्यत्वेनाभिधानात्। हेतुनैरपेक्ष्यद्योतनार्थं एवकारः।१।२।१५॥

अत एव च तद्ब्रह्म ।१।२।१६।

यतस्तत्र ब्रह्मजिज्ञासार्थं "विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खञ्च न विजानामि" (छा० ४।१०।५) इति पृच्छत उपकोशलाय "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्" (छा० ४।१०।५।) इत्येवं परस्परवैशिष्ट्यप्रतिपादनेन कशब्दोक्तस्य सुखस्य खशब्दोक्ताकाशवदपरिच्छिन्नत्वमग्निभिरभिहितमिति निरतिशयसुखविशिष्टं यदक्ष्याधारतया स्थितं तद्ब्रह्मैव न चान्यद्वैषयिकं सुखं तस्य परिच्छिन्नत्वेन खशब्दबोधिते व्यापके वस्तुन्यन्वयासम्भवात् ॥१।२।१६॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।१।२।१७।

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमात्मैव यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्याधिगतपरमपुरुषविज्ञानस्य या गतिर्देवयानाख्याऽपुनरावृत्तिलक्षणा प्रसिद्धा श्रुतौ—"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण"त्यारभ्य "एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते" [प्र० १।१०] सैवेहाक्षिवर्तिनं ज्ञातवतेऽभिधीयमानादृश्यते। "तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति" इत्यारभ्य "तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" [छा० ४।१५।५।६] अतः परमात्मैवायमक्षिपुरुष इति ॥१।२।१७॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।१।२।१८।

परमात्मन इतरो जीवात्मादिरक्षिस्थानो न भवितुमर्हति । कुतः ? अनवस्थितेः । तस्य चक्षुषि नियमेनावस्थित्यनुपपत्तेः । तत्रामृतत्वाभयत्वसंयद्वामत्वादिनिरुपाधिकगुणानामसम्भवाच्च । नेतरो जीवादिरक्ष्याधार इतिसिद्धम् ॥१।२।१८॥

[इत्यन्तराधिकरणम्]

(अथान्तर्याम्याधिकरणम्)

एवमक्ष्यन्तरपुरुषश्रुतिसमन्वयं प्रदर्श्यान्तर्यामिश्रुतेरपि ब्रह्मपरत्वं दर्शयति—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।१।२।१९।

"य इमं च लोकं परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति (बृ० ३।७।१) इत्युपक्रम्य "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३। ७। ३) इति। "यो विज्ञाने तिष्ठन्" (बृ० ३ । ७) इत्यस्य पर्यायस्य स्थाने "य आत्मनि तिष्ठन्" इति पर्यायो दृश्यते माध्यन्दिनानाम्। तत्र संशयः । किमेभिर्वाक्यैः समुपदिश्यमानः कश्चिदन्तरवस्थितो नियमनकर्तान्तर्यामी प्राप्राणिमादिसिद्धिः कश्चिज्जीवविशेष उत परमात्मेति ? किं युक्तम् ? जीव इति । कुतः ? अन्तर्यामिपदघटितश्रुत्युपसंहारे "एष द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता" इत्यन्तर्या-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मिणश्चक्षुरादीन्द्रियाधीनरूपादिज्ञानवत्त्वश्रुत्या तस्य जीवत्वावगमादित्येवं प्राप्त आह । अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशादिति । माध्यन्दिनपाठे "य इमं च लोकं परञ्च लोकमन्तरो यमयती" त्युपक्रमे लोकशब्दस्य श्रवणेऽपि "यः पृथिव्या तिष्ठन्" इत्याद्यधिदैवतानन्तरं "यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्नित्यधिलोकवाक्यश्रवणादधिलोकादिष्वित्यादिपदेनाधिदैवानन्तरपठितानामधिलोकाधिवेदाधियज्ञाधिभूताध्यात्मनां ग्रहणस्योपपत्तेरधिदैवादिष्वति सूत्रयामास सूत्रकारः । ततो ह्यधिदैवाधिलोकाधिवेदाधियज्ञाधिभूताध्यात्मसुच वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमात्मैव भवितुमर्हति । कुतः ? तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य परमात्मनो धर्मास्तद्धर्मास्तेषां सर्वान्तःस्थत्वसर्वाधारत्वसर्वेशरीरित्वसर्वनियामकत्वसर्वात्मत्वसर्वान्तर्यामित्वामृतत्वादीनां परमात्मासाधारणधर्माणां परमात्मन्येवोपपत्तेः ।

यत्तूक्तम् "द्रष्टा श्रोतेतीन्द्रियाधीनज्ञानस्य परमात्मन्यनुपपत्तेस्तस्य जीवत्वमवगमयतीति तन्न, "चक्षुषश्चक्षुरुतप्राणस्यप्राणः" इत्यादिना चक्षुरादिजन्यरूपादिज्ञानस्य परमात्माधीनत्वोपपत्तेः । परमात्मनस्तु द्रष्टृत्वश्रोतृत्वादिकं न चक्षुरादीन्द्रियाधीनम् । "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० ३। १९) इत्यादिश्रुतेस्तस्य स्वाभाविकं द्रष्टृत्वादिकम् । कर्मतिरोहितस्वाभाविकज्ञानस्य जीवस्य रूपादिसाक्षात्कारश्चक्षुरादिकरणजन्मा परस्य तु न तथा किन्तु स्वत एव । "यं पृथिवी न वेद" "यमात्मा न वेद" (बृ० ३।७।३।२२) इत्येवमादिभिर्वाक्यैः पृथिव्यात्मादिनियाम्यैरनुपलभ्यमान एव तान्नियमयतीति । अदृष्टोद्रष्टाश्रुतः श्रोता (बृ० ३।७। २३) इत्येवं निगमय्य "नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोता" (बृ० ३।७।२३) इत्यादिना नास्त्यन्यो नियामक इति प्रतिपाद्यते ।

अत्रान्तर्यामिवाक्येषु सर्वेषु परस्य ब्रह्मणः सर्वान्तःस्थत्वसर्वशरीरित्वसर्वनियामकत्वसर्वान्तर्यामित्वश्रवणात्सर्वस्य चिदचिदात्म-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कप्रपञ्चस्य परमात्माधेयत्वशरीरत्वनियम्यत्वस्यार्थतः सिद्धेर्जीवाधीनस्वशरीरस्थितिप्रवृत्तिवत् सर्वस्य चराचरस्य जगतस्तथा तमःशब्दवाच्यस्य प्रधानस्य प्रकृतिविविक्तशुद्धजीवस्य च परमात्माधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्त्युपपत्तेः श्रीरामस्य परब्रह्मणः सर्वनियन्तृतया सर्वस्वामित्वेन सर्वशेषित्वं तद्भिन्नस्य सवस्य तच्छेषत्वमुपपन्नतरम् ॥१।२।१९॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च ॥ १।२।२० ॥

स्मार्तं सांख्यस्मृतिप्रतिपाद्यं प्रधानं न चान्तर्यामिपदवाच्यम्। कुतः। अतद्धर्माभिलापात्। न तस्य प्रधानस्य जीवस्य च धर्मास्तेतद्धर्माः। प्रधानजीवभिन्नस्य परमात्मनो स्तधर्माद्धर्माइतियावत्। तस्याभिलापात् कथनादित्यर्थः। परमात्मनस्तु स्वाभाविकद्रष्टृत्वादिधर्माणाम् "अदृष्टोऽद्रष्टाश्रुतः श्रोताविज्ञातो विज्ञाता" (बृ० ३।७।२३) इत्यादि वाक्येष्वभिलापात्स एवान्तर्यामिपदवाच्यः। १।२।२०।

शारीरो नान्तर्यामीति समर्थयते—

उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥१।२।२१॥

हि यतः काण्वा माध्यन्दिनाश्चाभयेऽप्येनं शारीरमन्तर्यामिपरमात्मनः नियाम्यत्वेन वागादिभिरचेतनैः समं भेदेनाधीयते। "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः" (बृ० ३।७।२२) इत्यादि काण्वाः। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेदयस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७।२३) इति च माध्यन्दिनाः। तस्मादात्मपरमात्मनो नियम्यनियामकभेदेनाध्ययनादधिदैवादिषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमात्मैव न शारीर इति। प्रकृतश्रुत्योर्विज्ञानपदवाच्य आत्मपदाभिधेयश्च शारीर एवेति बोद्धयम्। तस्यैव विज्ञानमयत्वादिति ॥१।२।२१॥

(इत्यन्तर्याम्यधिकरणम्)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(अथादृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्)

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।१।२।२२।

आथर्वणिकैराम्नायते—अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (मु.१।१।५।६) एवमग्रे—"अक्षरात्परतः परः" इति। तत्र संशयः। किमदृश्यादिगुणको जीवः प्रधानं वोत परमात्मेति। तत्र पूर्वपक्षः। प्रधाने जीवे वादृश्यत्वादीनां सम्भवात्। प्रधानस्य भूतयोनित्वं निसर्गतोऽचेतनरूपस्य प्रपंचस्योत्पादनात्सिद्धम्। एवं स्वकृतेन कर्मणा नानाविधदेहधारित्वेन जीवस्यापि भूतयोनित्वात्तावेवात्र प्रतीयेते। प्रधानस्य तादृशभूतयोनित्वन्तु "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" "यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति" "यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" (मु० १।१।७) इत्यादिभिरचेतनानामेव दृष्टान्तत्वेनोपादानमपि द्रढयति। प्रकृतश्रुतावप्यदृश्यमिति पर्युदासाश्रयणेन स्थूलदृश्यभिन्नं सूक्ष्माख्यं तत्प्रधानमेव ज्ञायते। अतोऽस्मिन् प्रकरणे प्रधानपुरुषावेव प्रतिपाद्येते। इत्येवं प्राप्त आह। अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः। अदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिरक्षरः परमात्मैव। कुतः? धर्मोक्तेः। "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु० १।१।९) इति परमात्मासाधारणधर्माणां सर्वज्ञत्वादीनामत्र प्रकरणेऽभिहितत्वात्। ननु "यया तदक्षरमधिगम्यत" इत्यक्षरमभिधाय पुनश्चाक्षरात्परतः पर इत्यनेनाक्षरमवधित्वेन प्रकल्प्य ततोऽपि परतरः कश्चिदभिधीयते। यदि चात्र पूर्वेणाक्षरपदेन परमात्मा गृह्येत तर्हि त्वक्षरात्परतः पर इति कथं संगच्छेत स्वस्य स्वस्मात्परत्वासम्भवात्? तस्मादत्राक्षरपदेन प्रधानमेव ग्रहीतव्यं जीवो वेति चेन्न। "अक्षरात्परतः पर"

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इति द्वितीयाक्षरशब्दस्य परमात्मपरत्वाभावात्। तथाहि। "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा चेति"। तत्र ऋगादिलक्षणाया विद्याया अपरत्वमुक्त्वा "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मु० १।१।५) इति परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरस्योक्तत्वात्। तद्यदि तत्र परमात्मनो भिन्नमन्यत्प्रकल्प्येत न सा परा विद्या स्यात्। अतः परविद्यया वेद्यस्यैव ब्रह्मत्वनिष्पत्तेर्ब्रह्मविद्यावेद्यभूताक्षरभूतयोनिर्ब्रह्मवेति॥ १।२।२२॥

इतोऽपि न प्रधानजीवौ—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ।१।२।२३।

चकारः पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादिहेतुं समुच्चिनोति। इतरौ प्रधानजीवात्मानौ नादृश्यत्वादिगुणकौ किन्तु परमपुरुष एव। कुतः? विशेषणव्यपदेशात्। दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादिश्रुत्युक्तदिव्यत्वादीनां विशेषणानामव्यक्ते जीवे चासंभवात्। भेदव्यपदेशाच्च। परतः पर इत्यादिमा च भूतयोन्यक्षरस्य प्रधानपुरुषाभ्यां भेदो व्यपदिश्यते। तस्मादृदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव न जीवो न वा प्रधानम्॥ १।२।२३॥

प्रधानपुरुषयोरदृश्यत्वादिगुणराहित्ये हेत्वन्तरं दर्शयति—

रूपोपन्यासाच्च। १। २। २४।

भूतयोनिरक्षरपदाभिहितः परमात्मैव नेतरौ। कुतः? रूपोपन्यासात्। अक्षरात्परतः पर इत्यस्यानन्तरं "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादिना प्राणादिपृथिव्यन्ततत्त्वजातस्य सृष्टिमुक्त्वा तस्यैवाक्षरस्य सर्वविकारात्मकरूपोपन्यासो दृश्यते। "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" (मु० २।१।४) इति परमात्मन

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एव सर्वचेतनाचेतनात्मकः प्रपञ्चो रूपत्वेनोपन्यस्यते। सर्वविकार-कारणत्वात्तनुमहिम्नः शारीरस्य प्रधानस्य चायं रूपोपन्यासो न घटते। तयोः सर्वभूतान्तरात्मत्वस्यासम्भवात्। अतः परमात्मैव भूतयोन्यक्षरो नेतरार्वाति सिद्धम् ॥१।२।२४॥

इत्यदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्।

अथवैश्वानराधिकरणम्।

वश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् १। २। २५।

छान्दोग्ये इदमाम्नायते–"कोनु आत्मा? किम्ब्रह्मेत्युपक्रम्य "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति" (छा० ५। ११। ६) "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वा-नरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" (छा० ५। १८। १) "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्ह-पत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः" (छा० ५।१८।२) इत्या-दि। तत्र संदिह्यते। किमिह वैश्वानरशब्देन जाठराग्निर्वा भूताग्नि-रथ तद्देवता किंवा जीव उत परमात्मेति। किम्पुनरत्र संशयकार-णम्। यस्माद्वैश्वानरशब्दः सर्वेषूक्तेष्वर्थेषु साधारणतया निर्दिश्य-मानो दृश्यते जाठराग्नौ ताव "दयमग्निर्वैश्वानरो योयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नम्पच्यते यदिदमद्यते" (बृ० ७।९।६) इत्यादि। भूताग्नाव-पि "विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्" (ऋ. सं. १०।८८।१२) अग्निशरीरायां देवतायामपि वैश्वानरशब्दः "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः" (ऋ

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सं. १।९८।१) एवं को न आत्मेत्यात्मशब्दवशेन जीवात्मन्यपि भोक्तृत्वेन वैश्वानरशब्दो व्याख्येयः। परमात्मनि च "तदात्मन्येव हृदयेऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत्" (अष्टक ३ प्रश्न ११ अनु. ८) इति प्रश्ने "स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते" (प्रश्नो.) १।७) इत्येवमादिवाक्योपक्रमादिषु समुपलभ्यमानानि लिङ्गानि सर्वानुगुण्येन व्याख्यातुं नेतुञ्च शक्यानीति प्राप्तेऽभिधीयते।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषादिति। वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः? साधारणशब्दविशेषात्। विशेष्यत इति विशेषः। औदर्यभूताग्निदेवताजीवपरमात्मसु साधारणस्यापि वैश्वानरशब्दस्य परमात्मासाधारणैर्धर्मैर्विशेष्यमाणत्वात्। येन विशेषेण पर एव पुरुषो वैश्वानरशब्दस्य मुख्यार्थः स्यात्। स विशेषोऽत्र विद्यते। "एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादिविशेषावगमादित्यर्थः। कोनु आत्मा किम्ब्रह्मेति" सर्वात्मभूतब्रह्मजिज्ञासायां प्रवर्तमानैरौपमन्यवादिमहर्षिभिर्वैश्वानरात्मशब्दमश्वपतिं केकयमप्राप्य जिज्ञास्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मैवेति निश्चेतुं शक्यम्। जाठरादेर्द्युप्रभृतिपृथिवीपर्य्यन्ता अवयवा नोपपद्यन्ते। तस्य सर्वात्मत्वाभावात्। किं ब्रह्मेति प्रक्रान्तस्य ब्रह्मशब्दस्य स्थान उत्तरत्र सर्वत्र वैश्वानरशब्दस्य प्रयोगात्सोऽपि ब्रह्मैवाभिदधाति। "स सर्वेषु लोकेषु" इत्यारभ्य "एव ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त" इति वक्ष्यमाणं वैश्वानरात्मविज्ञानफलमपि वैश्वानरात्मानं परमेव पुरुषं विबोधयति ॥ १।२।२५ ॥

इतश्च वैश्वानरः परः पुरुष एव—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति। १। २। २६।

वैश्वानरपदवाच्यः परमात्मैव। यतः परस्य ब्रह्मण एवा"ग्निरास्यं द्यौ मूर्धा" तीदृशं त्रैलोक्यशरीरात्मकं रूपं स्मर्यमाणं दृश्यते।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रुतिस्मृतिषु परमात्मन ईदृशं रूपमुपवर्ण्यते तत्र तत्र। "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" (मु. २। १। ४) इति। तथा" यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशःश्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः"–(भारते शा. प. रा. ध.) " द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशश्श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिञ्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता" इत्यादिकासु श्रुतिस्मृतिषु। एवञ्च द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तमवयवविभागेन वैश्वानरस्य रूपं स्मर्यमाणं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात्। प्रयोगस्तु– वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हति, अभिविमानत्वे सर्वज्ञत्वे सर्वात्मत्वे च सति स्मृत्युक्तत्रैलोक्यशरीरत्वादिति। इति शब्दः प्रकारार्थः। औपमन्यवप्रभृतिभिर्महर्षिभिः"आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्येषितमेव नो ब्रूहि" (छा.५।११।६) इत्येवं पृष्टः केकयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षुर्विशेषप्रश्नानुपपत्त्या वैश्वानरात्मन्येतैः किञ्चिदज्ञातं किञ्चिदज्ञातमिति विदित्त्वा तेषामज्ञातांशपूर्तिकामनया तानेकैकशः पृष्ट्वोपदिदेश। "औपमन्यव कन्त्वमात्मानमुपास्से" (छा० ५।१८।१) स चाह "दिवमेव भगवो राजन्नि" ति। ततस्तस्य दिवि पूर्णवैश्वानरात्मबुद्धिं निवर्तयन् 'दिवः सुतेजाः' इति नामधेयमुक्त्वा वैश्वानरांशत्वमसूसुचत्। एवं सत्ययज्ञादिभिरुपास्यमानत्वेनाक्तानामादित्यवाय्वाकाशपृथिवीनां "विश्वरूप, पृथग्वर्त्मा बहुलो रयिः प्रतिष्ठा" इत्येकैकगुणनामधेयानि वैश्वानरात्मनश्चक्षुःप्राणसन्देहवस्तिपादात्वयवत्वोपदिष्टवान्। तस्मात्परमात्मन एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टस्य रूपस्योपपत्तौ वैश्वानरः स एवेति ॥१।२।२६॥

इत्थं परमात्मन एव वैश्वानरपदाभिधेयत्वसम्प्रसाध्यापि स्थूणानिखननन्यायेन पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शब्दादिभ्योन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।१।२।२७।

न वैश्वानरशब्दः परमात्मपरः । कुतः ? शब्दादिभ्योन्तःप्रतिष्ठानात् । वैश्वानरशब्दस्य जाठराग्नौ रूढत्वात् । आदिशब्दात् "तस्योर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय" (छा० ५।१८।२) इतिवैश्वानरहृदयादिस्थानस्याग्नित्रयकल्पनात् प्राणाद्याहुत्याधारत्वादग्निहोत्रं जुहोतीत्यग्निहोत्रवचनाच्च । वाजसनेयिभिरपि "स एषोग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैनमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेन्तःप्रतिष्ठितं वेद" इति पुरुषान्तःप्रतिष्ठितस्याग्नेर्जाठराग्निरेवायं न परमात्मेति चेन्न । कुतः ? तथा दृष्ट्युपदेशात् । न चात्र "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यनेन मनसि ब्रह्मदृष्टिं कृत्वात्मन उपासनविधानवदग्नौ वैश्वानरे परमात्मदृष्टिं कृत्वाग्नेरुपासनमुपदिष्टं भवतीति वाच्यम् । प्रतीकोपासनापत्तेः । न हि वैश्वानरोपासनायाः प्रतीकोपासनत्वमुपपद्यते । "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते । इति वैश्वानरोपासकस्य सर्वपापविनाशश्रवणात् तेन मोक्षोपपत्तेश्च । चतुर्थाध्यायीयएतन्मोक्षप्रतिषेधाच्चे "ति सूत्रेण द्वयोरुपासनयोर्भेदावगमात् । तस्मात्तात्पर्यानुपपत्तेरत्र दृष्टिपदेनोपासना लक्ष्यते । तथा दृष्ट्युपदेशादित्यस्य तथोपासनोपदेशादित्यर्थः । यस्याग्निः शरीरम् (बृ० ३।७।५।) इत्यन्तर्यामिश्रुतौ जाठराग्नि शरीरत्वेन परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनोपदिश्यते । ननु "स यो हैनमेवमग्निं वैश्वानरम्" इत्यत्र वैश्वानरपदस्याग्निपदविशेषणत्वदर्शनाज्जाठर एव मुख्यो वैश्वानर इत्याशङ्क्याह—असम्भवादिति । "एवं हास्य सर्व पाप्मानः प्रदूयन्त" इत्युक्तस्य सर्वपापविनाशस्यान्युपासकस्यासम्भवात् । यदुक्त "मेनमेवाग्निं वैश्वानरम्" इति वैश्वानरपदस्याग्निपदविशेषणत्वदर्शनाज्जाठर एव मुख्यो वैश्वा-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नर इति तन्न। अग्निपदमेव वैश्वानरपदस्य विशेषणत्वं प्राप्य वैश्वानरस्याग्निवत्सर्वपापदाहकत्वं ज्ञापयति। श्रूयते च तथैवाग्निदृष्टान्तेनाग्निवद्वैश्वानरस्य सर्वपापदाहकत्वम् "यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति। अस्य वैश्वानरोपासकस्येत्यर्थः। किंच पुरुषमपि चैनमधीयते। अपीत्यनेन चेत्यनेन च वैश्वानरस्य परमात्मत्वे पुरुषाध्ययनरूपमव्यभिचारिहेत्वन्तरं ज्ञाप्यते। तथा हि वाजसनेयिनोधीयते "स एषोग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैनमेवाग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेन्तःप्रतिष्ठितं वेद" इति। न हीदं पुरुषविधत्वं जाठराग्नेः सम्भवति। "पुरुष एवेदं सर्वम्"इति पुरुषनिष्ठसर्वात्मकत्वस्य "पुरुषान्न परः किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति पुरुषनिष्ठ सर्वपरत्वक्षिकं च श्रूयते। तदिदं सर्वात्मकत्वं सर्वपरत्वादिकं च परमात्मन्येव संभवति न जाठरे ॥१।२।२७॥

ननु प्रदर्शितमन्त्रोक्तेर्भूताग्नौ तच्छरीरायां देवतायां वैश्वर्ययोगात् द्युमूर्धत्वादिकं सम्भवतीत्याशङ्क्याह—

अत एव न देवताभूतञ्च। १। २। २८।

अत एवोक्तेरभिविमानत्वात्मत्वत्रैलोक्यशरीरत्वनिरुपाधिकपुरुषशब्दवाच्यत्वादिभिः परमात्माऽसाधारणलिङ्गैरत्रत्यवैश्वानरशब्दस्य जाठरपरत्वबाधेन परमात्मपरत्वनिष्पत्तेरुक्तैरेव हेतुभिस्तस्य देवताभूतपरत्वबाधात्। न देवता न वा भूततृतायोऽत्र वैश्वानरशब्दबोध्यः। विकारभूतस्याग्नेर्विकारान्तरद्युलोकाद्यात्मकत्वासम्भवादग्न्यभिमानिदेवताया अपीश्वरायत्तेश्वर्यत्वेन तदसम्भवाच्च परमात्मैव वैश्वानर इति॥ १। २। २८॥

पूर्वं सामान्यशब्दविशेषादिहेतुतो वैश्वानरशब्दः परे ब्रह्मणि शक्त इति दर्शितम्। इदानीं यौगिकोऽपि वैश्वानरशब्दो ब्रह्मण्येव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वृत्तिमानिति तदर्थमाचार्यान्तरसम्मतिं दर्शयति—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः । १ । २ । २९ ।

पूर्वमग्निशब्दस्य जाठरत्वमाशङ्क्य वैश्वानरशब्दसामानाधिकरण्यनिर्देशेन जाठराग्निशरीरत्वेन तद्विशिष्टस्य परमात्मन एवोपासनमुक्तम् । साम्प्रतमग्निशब्दस्य वैश्वानरशब्दवत्परमात्मपरत्वोपपत्तेः साक्षादव्यवधानेन परमात्मनो वाचकत्वे न कोऽपि विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । अयमत्राशयः । यथा विश्वश्चासौ नरश्च वैश्वानरो विश्वात्मको नरः सर्वात्मको नर इत्यर्थः । विश्वेषां नरः नेता वा । विश्वे नरा नियम्या यस्येति वा । सर्वेनियन्तेत्यर्थः । विश्वानर इत्यत्र "नरे संज्ञायाम्" (पा. सू. ६ । ३ । १२९) इति दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थिकोऽण् बोध्यः । तथाचैव मादिगुणयोगेन साधारणोऽपि वैश्वानरशब्दः परमात्मानमेवाभिदधातीति निश्चीयते । तथैव हृत्पद्मे ध्येयत्वेनाङ्गति गच्छत्याविर्भवतीत्यग्निः । "अङ्गेर्नलोपश्च" (उणादिसूत्र ४९९ इति निनैलोपश्च । अथ वाङ्गयति गमयति विश्वस्याग्रं जन्म प्रापयतीत्यग्निरभितोऽङ्गतीति वाग्निरित्यादिगुणयोगेन परमात्मधर्मविशेषितोऽग्निशब्दोऽपि निरूपाधिकगुणयोगेन परे च ब्रह्मणि काष्ठाङ्गतः सन् तस्यैव वाचक इत्यग्निशरीरकत्वकल्पनां विनैव परमात्मानमभिधत्ते ॥ १ । २ । २९ ॥

अथ परिच्छेदशून्यस्य ब्रह्मणो द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशसम्बन्धिन्या मात्रया "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" (छा० ५।१८।१) इति परिच्छिन्नत्वं कथं घटत इत्याह—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । १ । २ । ३० ।

द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशे वैश्वनरोपासनया तस्याभिव्यक्तेः परमात्मन उपासकभावनानुरूपेण हृदयाद्युपासनास्थानेषु प्रादेश-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रमाणेनाभिव्यक्तिर्भवति । अतोनवच्छिन्नस्यापि प्रादेशमात्रत्वमुपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ १ । २ । ३० ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः १ । २ । ३१ ।

प्रादेशमात्रहृत्पुण्डरीकस्थेन मनसा वैश्वानरानुस्मृतेरुपासकध्यानानुसारेण प्रादेशप्रमाणाभिव्यक्त्या तस्य प्रादेशमात्रत्वमुक्तमिति बादरिराचार्यो मन्यते । यथा घटावच्छिन्नस्य व्योम्नो घटाकाशोक्तिस्तथा मूर्धादिपादान्तदेहकल्पनञ्चापरिच्छिन्नस्य बोध्यम । परमात्मप्राप्तयेऽनुस्मृतेरनुस्मरणार्थं तथोपासनार्थमिति बादरेराचार्यस्य मतम् ॥ १ । २ । ३१ ॥

एवं त्रैलोक्यशरीरस्य ब्रह्मणो वैश्वानरवाच्यत्वं सिद्धम । पुरुष एव वेदिर्लोमानि बर्हिरित्यादि किमर्थमुरःप्रभृतीनां वेदित्वादिपरिकल्पनमित्यर्थे जैमिनिसम्मतं दर्शयति ।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति १ । २ । ३२ ।

वैश्वानरोपासकैः क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पादनाय तेषां वेद्यादिपरिकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथाहि—वैश्वानरोपासको मम मूर्धैव वैश्वानरस्य मूर्धास्ति मम चक्षुर्वैश्वानरस्य चक्षुरित्यादि ममोरो वैश्वानरोरो वेदिर्मम मन एव तदन्वाहार्यपचनो ममास्यमेव वैश्वानराहवनीयमास्यं प्राण एव हुतय एवाग्निहोत्रमित्येवं स्वाङ्गेषु वैश्वानराङ्गानां सम्पत्तिं कृत्वा स्वाङ्गानि वैश्वानराङ्गानि मत्त्वाहरहः प्राणाद्याहुतिभिः स्वहृत्पुण्डरीकस्थं वैश्वानर परमात्मानमुपासीत । तथा हि दर्शयति । बाजसनेयि ब्राह्मणं वैश्वानरमूर्धाद्यवयवानामुपासकमूर्धाद्यवयवेषु सम्पत्तिं दर्शयतीत्यर्थः । तथा हि प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा नु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामीति । स होवाच । मूर्धानमुपदिशन्तुवा[illegible]

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति। चिबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इत्यादि ॥१।२।३२॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३।

"स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैनमग्निवैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदेति" वाजसनेयिनः। "आत्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादि" तिच्छन्दोगाः। अस्मिन्नुपासकशरीर एनं वैश्वानरमामनन्ति। तथा चायमर्थो निष्पन्नो भवति-उपासकेन स्वमूर्धादीनेव वैश्वानरस्य परमात्मनो द्युप्रभृतीन् मूर्धादित्वेन परिकल्प्य वैश्वानराख्यः परमात्मोपासनीय इति। एवं च वैश्वानर परमात्मैवेति ॥१।२।३३॥

इति वैश्वानराधिकरणम्।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे प्रथमाध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथ द्युभ्वाद्यधिकरणम्

एवमुपक्रान्त एव विषये रूढपदप्रधानानां वाक्यानां श्रीरामाख्ये परमपुरुषे ब्रह्मणि समन्वयं प्रदर्श्याधुना यौगिकपदप्रधानानां तेषां समन्वयमभिधातुं तृतीयपाद आरभ्यते ।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।१।३।१।

द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादी येषामन्तरिक्षादीनांतेद्युभ्वादयस्तेषामायतनमिति विग्रहः । आथर्वणे श्रूयते "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनस्सह प्राणैश्चसर्वैः । तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" (मु० २।२।५) अत्र द्युप्रभृतीनामोतत्वेनायतनत्वं कस्यचिदवगम्यते । तथा च तत्त्वेन श्रूयमाणो जीवः स्यादाहोस्वित्परमात्मेति संशयः । किं युक्तम् । जीव इति । कुतः ? "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति परमात्मनो मनः प्राणादिनिषेधात् । जीवस्य च मनः प्राणादिमत्त्व प्रसिद्धेश्चेति प्राप्त आह—द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दादिति । द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मा, कुतः ? स्वशब्दात् । स्वस्य ब्रह्मणो वाचकोय आत्मशब्दस्तस्मात् । "तमेवैकं विजानथात्मानम्" (मु. २।२।५) इतिश्रवणात् । "अमृतस्यैष सेतुरिति ब्रह्मणोऽसाधारणशब्दलिङ्गात् । जीवस्यात्मशब्दवाच्यत्वेऽपि अमृतस्यैष सेतुरित्युत्तरवाक्यशेषेऽमृतप्रापकतया प्रसिद्धस्य गुणस्य तत्राऽसम्भवात् । न च "अप्राणो ह्यमनाः" इति परमात्मनो मनःप्राणादीन् निषेधतीतिवाच्यम् । तद्वाक्यस्य मनःप्राणाधीनप्रवृत्तिरहितत्वमेव परमात्मन इत्यर्थकत्वात् ॥१।३।१॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् । १ । ३ । २ ।

इतश्च परमात्मा द्युभ्वाद्यायतनम् । मुक्तैरुपसृप्यं प्राप्यं मुक्तोपसृप्यं भावप्रधानो निर्देशः । मुक्तोपसृप्यत्वस्य व्यपदेशादित्यर्थः । "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु. ३ । १ । ३) पुण्यपापे विधूय नामरूपाद्विमुक्तः । "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मु. ३।२।८) इति नामरूपाद्विमुक्तस्य परमपुरुषप्राप्तिश्रवणात् । तथा "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु. २।२।८) इति हृदयग्रन्थिर्मिथ्याज्ञानरागद्वेषशोकमोहादयस्तद्रहितो भूत्त्वा छिन्नसर्वसंशयो विनष्टसर्वकर्मा च दृष्टे परमात्मनि भवतीत्यर्थः । तस्मान्मुक्तोपसृप्यत्वाद् द्युभ्वाद्यायतनं परमब्रह्मैव ॥ १ । ३ । २॥

नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च ॥ १ । ३ । ३ ॥

अनुमीयत इत्यनुमानमनुमेयं प्रधानं प्राणभृज्जीवश्च न द्युभ्वाद्यायतनम् । कुतः ? अतच्छब्दात् । न तस्य प्रधानस्य जीवस्य च वाचकः शब्दोऽतच्छब्दस्तस्मात्प्रधानवाचकशब्दाश्रवणादित्यर्थः । किन्तु प्रधानजीववाचको न यः शब्दो मुमुक्षुविज्ञेयपरमात्मवाचकात्मशब्दस्तथा मोक्षप्रापकार्थकामृतसेतुशब्दः सोऽतच्छब्दस्तस्मात्परमात्मवाचकशब्दश्रवणादिति यावत् । यद्यप्यात्मशब्दो जीवपरमात्मोभयसाधारणस्तथाऽपि "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ" (मु. २ । २ । ५) इति वाग्विमोकपूर्वकमात्मनो विज्ञेयत्वंश्रवणात् परमात्मन एवात्रात्मपदग्राह्यत्वम् । एवञ्चैतत्समानार्थाभिधायिन्या "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानु-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" (बृ० ४।४।२१) इत्यस्याः श्रुतेरपि सङ्गतिः। तस्माद् द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव॥ १।३।३॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १।३।४।

"तमेवैकं जानथात्मानम्" (मु. २।२।५) इति जीवानां ज्ञातृत्वेन, तमेवैकमात्मानमिति च परमात्मनो ज्ञेयत्वेन तयोर्भेदस्य व्यपदेशात्। एवं तत्रैव "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः" (मु. २।३।२) इत्युक्तम्। अस्य महिमानं महत्वं सर्वव्यापकत्वं सर्वजगन्नियन्तृत्वरूपं सर्वात्मकत्वं यदा जानाति तदा वीतशोको भवतीत्यर्थः। एवञ्चात्र सेव्यसेवकभावेन भेदव्यपदेशाच्च द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव ॥ १।३।४॥

प्रकरणाच्च। १।३।५।

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्" (मु. १।१।३) इत्युपक्रम्यैकज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रश्नेन परमात्मप्रकरणावगमाज्जीवज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य कुत्राप्यश्रवणात्प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वानुपपत्तेर्द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव ॥ १।३।५॥

स्थित्यदनाभ्याञ्च। १।३।६।

न जीवो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन ग्रहीतुं शक्यः। कुतः? स्थित्यदनाभ्यामिति। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति" (मु. ३।१।१) इति मन्त्रे जीवस्य कर्मफलात्तृत्वं तदन्यस्य परमात्मनोऽनश्नतोऽपि स्वयंप्रकाशस्वरूपेणावस्थितेः श्रवणात् कर्मपरवशस्य जीवस्यानादिबद्धस्यामृतप्रापकत्वानुपपत्तेः। मुक्तजीवस्यापि तदश्रवणाच्च। कर्मपरतन्त्रत्वाभाववतः परमात्मनस्त्वमृतप्रापकत्वस्यो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कश्रुतिसम्मतत्वाद् द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव न प्राणभृदिति सिद्धम् ॥ १।३।६ ॥

(इति द्युभ्वाद्यधिकरणम् ।)

(अथभूमाधिकरणम् ।)

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् । १ । ३ । ७ ।

छान्दोग्ये श्रूयते "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति" (छा० ७।२३।१) इति । तथा "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्" (छा० ७।२४।१) एतद्वाक्यमस्य विषयः । किमयं भूमत्वगुणविशिष्टः प्राण उत प्रत्यगात्माहोस्वित्परमात्मेति ? किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मा । कुतः ? "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७।१।३) इत्यात्मजिज्ञासवे नारदायोपास्यत्वेनोपदिष्टेषु नामादिप्राणपर्यन्तेषु "अस्ति भगवो नाम्नो भूयः" इत्यादि नारदप्रश्नानन्तरं "वाग्वाव नाम्नो भूयसी" इत्यादि तदुत्तरवचनानां प्राणपर्यन्तेषु श्रवणात् । प्राणादुत्तरत्र "अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः" इतिप्रश्नस्य 'इदमस्ति प्राणाद्भूय' इतितदुत्तरस्य चाश्रवणात्, प्रश्नप्रतिवचनयोः प्राणवाक्ये परिसमाप्तिदर्शनेनात्मोपदेशस्य प्राणपर्यन्तत्वावगमात्, वायुविकारस्य प्राणस्य वायुकारणादाकाशाद्भूयस्त्वानुपपत्तेरात्मत्वानुपपत्तेश्च । तदुपासकस्यातिवादित्वानुपपत्तेश्च प्राणशब्देन प्राणसहचारिप्रत्यगात्मग्राह्यत्वोपपत्तेः । एवं च प्रत्यगात्मनो भूमशब्दवाच्यत्वमिति प्राप्त आह—भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशादिति । भूमा परमात्मैव न प्राणादिविशिष्टो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जीवात्मा । कुतः ? सम्प्रसादादध्युपदेशात् । सम्यक् प्रसादो यस्येति व्युत्पत्त्या सम्प्रसादो जीव उच्यते । "एष सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८ । १२ । ३) इति श्रुतौ सम्प्रसादशब्दस्य प्रत्यगात्मपरत्वप्रसिद्धेः । तस्मात्प्राणशब्दबोधितात्सम्प्रसादादध्यूर्ध्वं भूमगुणविशिष्टस्य सत्यशब्दाभिहितस्य परस्य ब्रह्मणस्तदधिकत्वेनोपदेशादिति । "यः सत्येनातिवदती" ति सत्यशब्दाभिधेयं ब्रह्मैव भवति "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) इति श्रुतेः। अयमभिप्रायः । अस्मिन्प्रकरणे नामाद्याशापर्यन्तानामचेतनानामुत्तरोत्तरपुरुषार्थभूयस्त्वेनोपदिष्टानामुपासकस्य नातिवादित्वमुक्तम् । प्राणशब्दाभिहितप्रत्यगात्मयाथात्म्यज्ञानवतस्तु पुरुषार्थभूयस्त्वमिति मन्यमानेन "प्राणो ह्येवैतानि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इतिप्रत्यगात्मवादिनो (छा० ७।१५।४) इत्यतिवादित्वमुक्तम् । अतिवादित्वञ्चोपास्यत्वेनोक्तान्नामवागादीनतिक्रम्य स्वोपास्यमतिशयेन वदतीत्यर्थकम् । एवं प्रत्यगात्मोपासकस्यातिवादित्वमुक्त्वा तस्यापि सातिशयपुरुषार्थत्वान्निरतिशयपुरुषार्थत्वेनोपास्यभूतब्रह्माधिक्यवादिन एव यथार्थाभिधायित्वेनातिवादित्वम् । "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" (छा० ७।१६।१) इत्युक्तम् । तत्र तुशब्देन पूर्वस्मादतिवादिनः परब्रह्मवादिनो भिन्नत्वमभिधाय वैशब्देनात्र सत्यवादिनो याथार्थ्यवादित्वमुक्तम् ।

अत एव "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानी"ति नारदेन प्रार्थितः सनत्कुमारः "सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्य" मित्याह । पुनः "सत्यं भगवो विजिज्ञास" इति नारदेन प्रार्थिते ब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतब्रह्मोपासनपर्यायभूतं ब्रह्मविज्ञानं "यदा वै विजाना त्यथसत्यं वदति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विज्ञानन्त्वेव विजिज्ञासितव्य" मित्युपदिश्य विज्ञानोपायभूतं मननं "यदावै मनुतेऽथ विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्ये" त्युपदिश्यानन्तरं वस्तुश्रवणं विना तन्मननस्यानुपपत्तेः श्रवणस्याप्यर्थसिद्धत्वाच्छ्रवणोपायभूतां ब्रह्मश्रद्धां "यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्ये" त्युपदिश्य तदुपायभूतां तन्निष्ठां "यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति निष्ठात्वेव विजिज्ञासितव्ये" त्यवबोध्य तदुपायभूताभिन्द्रियसंयमादिप्रयत्नरूपां कृतिं "यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्ये" त्युपदिश्य प्राप्यस्य सत्यशब्दोक्तस्य ब्रह्मणः सुखात्मकता ज्ञातव्येति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदिश्यानन्तरं "सुखं भगवो विजिज्ञास" इति जिज्ञासासमनन्तरमाहाचार्यो "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यम्" (छा० ७।२३।१) इति। ततो "भूमानं भगवो विजिज्ञास" इति नारदप्रार्थनया "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" अथ "यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" इत्युपदिदेश। अनन्तरं तस्याप्याधारः कश्चिदन्यः स्यादित्याकाङ्क्षायामाह—स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। तत्समाधानञ्चाचार्येण "स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति" (छा० ७।२४।१) इत्यादिकं कृतम्। अत्राल्पे परिच्छिन्ने सुखं नास्ति। अपि तु तत्प्रतियोग्यनल्पेऽपरिच्छिन्ने भूमपदवाच्य एव सुखम्। अत एव स एव सुखमिति भूमा परमात्मैव ॥ १।३।७ ॥

धर्मोपपत्तेश्च १।३।८॥

भूमपदाभिधेयस्यात्र प्रकरणे ये धर्माः समाम्नायन्ते ते सर्वेऽपि परस्मिन्नेव ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। स्वाभाविकामृतत्वस्वमहिम्निप्रतिष्ठि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तत्वदृशदिग्व्यापकत्वसर्वात्मकत्वादयो धर्माः परमात्मन्येवानन्यसाधारणतयेति परमात्मैव भूमेति सिद्धम् ॥ १।३।८ ॥

(इति भूमाधिकरणम् ।)

(अथाक्षराधिकरणम्)

अक्षरमम्बरान्तधृते ॥१।३।९॥

बृहदारण्यके श्रूयते—"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्" (बृ० ५।८।८) इत्यादि । तत्र संशयः। किमत्राक्षरशब्दनिर्दिष्ट "मक्षरात्परतः पर" इति श्रुत्युक्तं प्रधानमुत "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" (श्वे०। १०) इति श्रुत्युक्तो जीव आहोस्वित् "यथा तदक्षरमधिगम्यते" (मुं० १।१।५) इत्यभिहितः परमात्मा ? किं युक्तम् ? प्रधानस्य सर्वविकारकारणत्वात्तदेव प्रतीयते । प्रकृतश्रुतौ च "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चे" त्यादि गार्गीप्रश्नस्याकाशकारणं किमित्यभिप्रायस्तदुत्तरतयोपरिष्टादुक्तम् तथा चाकाशादीनामाधारतयाक्षरपदवाच्यप्रधानस्यैव सर्वत्र निर्दिष्टत्वात्तदेवेहाभिधीयते । अथवा "अपरेऽयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेपराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" (गी० अ० ७।५।) इति जीवस्यापि जगदाधारत्वकथनाज्जीवः । इति प्राप्तेऽभिधीयते—अक्षरमम्बरान्तधृतेरिति । अक्षरं परम्ब्रह्मैव । कुतः ? अम्बरान्तधृतेः । अम्बरस्य गगनस्यान्तः समाप्तिर्यत्र तदम्बरान्तमव्याकृतमम्बरस्य कारणम् । "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" (बृ. १।४।६) इति श्रुतेः । प्रथममव्याकृतं भूतसूक्ष्ममासीत्तस्यैवाकाशादिनामरूपाभ्यां

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्याकरणानन्तरं सर्वमिदं नामरूपात्मकमाकाशादिकं जगदभवत्ते-नाकाशस्य कारणमव्याकृतम्। कार्याणां स्वकारणे समाप्तेर्लयस्य श्रवणादन्तशब्दस्य समाप्त्यर्थकत्वेनोक्तार्थस्योपपत्तिः। त्रैलोक्यान्तर्वर्तिनो द्युपृथिव्यादिविकारजातस्याधारतया निर्दिष्टस्याकाशस्य भूताकाशत्वानुपपत्तेश्च। यतस्तस्यापि विकारान्तर्गतत्वेन सर्वविकाराधारत्वाऽसम्भवात्। तस्मादम्बरान्तपदनिर्दिष्टमव्याकृतं तस्य धृतेर्धारणात्तदाधारत्वादित्यर्थः। तस्माद्द्युपृथिव्याद्याधारस्याम्बरान्तस्याव्याकृतस्याधारत्वादक्षरं ब्रह्मैव न प्रधानमिति ॥१।३।९॥

अथापि "यस्याऽव्यक्तं शरीरम्" यस्याक्षरं शरीरम् "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः" (श्वे० १।१०) "क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" (गी० १५।१६) "यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः" (गी० १५।१८) इत्येवमादिश्रुतिस्मृत्युक्तोऽक्षरशब्दवाच्यो जीवोऽस्तु। तस्य च "ययेदं धार्यते जग" दिति जगदाधारत्वस्मरणात्तस्यैवास्थूलत्वादिधर्मकत्वोपपत्तेश्चेत्याशंकायामाह—

सा च प्रशासनात् ।१।३।१०।

सा चाक्षरस्याम्बरान्तधृतिस्तस्य प्रशासनादेव भवति। "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृ० ३।८।९) इत्यादावक्षरस्य प्रशासनेप्रतिबाधितायामाज्ञायां सूर्यचन्द्रमोद्युपृथिवीनिमेषमुहूर्ताहोरात्रार्धमासर्तुसंवत्सरादीनां विधृतितया स्थितेः श्रवणादस्य स्वाधीनशासनस्य चिदचित्सर्ववस्तुविधारणस्य प्रत्यगात्मन्यसम्भवात्। प्रधानस्य त्वचेतनस्यासम्भवपराहतत्वात्प्रशासनस्येति परिशेषात्तस्य परमात्मधर्मत्वमेवेति तदेवाक्षरपदवाच्यम् ॥१।३।१०॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(इतश्च ब्रह्मैवाक्षरम् ।)

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।१।३।११।

अन्ययोः प्रधानजीवयोर्भावो धर्मोऽन्यभावस्तस्य व्यावृत्तेः। तद्वद्यावर्तकानां केवलपरमात्मधर्माणां वाक्यशेषे श्रवणात्। "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च" (बृ० ५।८।१२) अत्र हि दृष्टत्वादिरूपैश्चेतनधर्मैरचेतनप्रधानभावस्य व्यावर्तनात्। एवं सर्वैरद्रष्टृत्वाद्यात्मकैः सर्वद्रष्टृत्वात्मकैश्च परमात्मासाधारणधर्मैर्जीवभावस्य व्यावृत्तेः। किञ्च "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः" (बृ० ३।८।९) इति यस्य प्रशासनेऽन्वायत्ता यदाज्ञया श्रौतं स्मार्तञ्च यागदानहोत्रादिकं कुर्वन्ति तदक्षरं परं ब्रह्मैव। अत एव "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" (बृ० ३।८।१०) इतीयं श्रुतिर्यद्ज्ञानात्कार्पण्यं, यज्ज्ञानाच्च ब्राह्मण्यं स्वयमेवाभिदधाति तदक्षरपदवाच्यः परमपुरुषः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ १।३।११ ॥

(इत्यक्षराधिकरणम् ।)

(अथेक्षतिकर्माधिकरणम् ।)

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः । १।३।१२।

अथर्वणे सत्यकामप्रश्ने श्रूयते—"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तस्स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्र. ५।५.) अत्र च पुरुषेक्षणरूपं फलमभिध्यानञ्च फलीति फलफलिनोरीक्षणध्यानयोरेकविषयत्वनियतत्वाद् ध्यात्रा यो ध्येयः स एवेक्षणीय इति ध्यानेक्षणविषयतया ज्ञायमानो योऽर्थः स एवोपेय इति निश्चिते सति संशयः । किमत्र पुरुषपदवाच्यः प्रत्यगात्मा समष्टिपुरुषाभिमानी चतुर्मुख आहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? समष्टिपुरुषश्चतुर्मुखः । कुतः ? तद्विदः सातिशयलक्षणफलस्यात्रोच्यमानत्वात् । तथा हि—"स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायेणान्तमोंकारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयति" (प्र० ५।१) इति प्रकृत्यैकमात्रप्रणवोपासकस्य मनुष्यलोकप्राप्तिरूपं फलं द्विमात्रप्रणवोपासकस्य चान्तरिक्षलोकप्राप्तिफलमभिधाय "यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः" (प्र. ५।५) इति त्रिमात्रप्रणवोपासकस्य प्राप्यत्वेनोच्यमानो ब्रह्मलोकस्तत्र च ध्यानेक्षणविषयो जीवसमष्ट्यभिमानी चतुर्मुख एव स्यात् । तस्यैव तल्लोकाध्यक्षतया स्थितत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते । ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्स इति । प्रकृतश्रुतावीक्षतिकर्मेक्षणविषयः सः परमात्मैव । कुतः ? व्यपदेशात् । स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरुषमीक्षत इति वाक्यशेषे तस्यैव परपुरुषस्येक्षतिकर्मत्वेन व्यपदेशात् । तदेवम् प्रकृतमन्त्रे "तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्च" (प्र. ५।७) इति प्रदर्शितं शान्तमजरत्वादिरूपं च परमात्मन एव सम्भवति । एवं "एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्" इति परात्परत्वव्यपदेशः परमात्मन एव । नान्यस्य चतुर्मुखादेः । कुतस्तस्यापि जीवघनशब्दग्राह्यत्वात् । यः कर्मनिमित्तदेहवान् स जीवघन इत्युच्यते । श्रूयते च चतुर्मुखस्यापि कर्मनिमित्तकं जन्मादिकम् । "हिरण्यगर्भ

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जनयामास पूर्वम्" "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" (श्वे० ६।१८
इत्यादिवचनैः। तथा "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृताः परि
क्यन्ति सर्वे" (मु. ३।२।६) इतिश्रुतौ "ब्रह्मणा सह ते सं
सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्
इति स्मृतौ च परान्तकाल इति परस्यान्त इति च ब्रह्मणो मृत्युक्र
णाज्जन्ममृत्युमत्त्वेन च तस्य जीवत्वोपपत्त्या सर्वपापविनिर्मुक्तजी
प्राप्यत्वाजरामृतत्वादिधर्मकत्वानुपपत्तेः। परमात्मन एव तादृशध
कत्वोपपत्तेर्ध्यातव्येक्षतिकर्मभूतः परमपुरुषः परमात्मैवेति सिद्धम्
१।३।१२॥

(*इतीक्षतिकर्माधिकरणम्* ।)

(*अथदहराधिकरणम्* ।)

दहर उत्तरेभ्यः ।१।३।१३।

छान्दोग्ये भूमविद्यानन्तरं श्रूयते—"अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपु
दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वे
ष्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्। (छा० ८।१।१) अत्र संशयः। अ
दहरे हृत्पुण्डरीके यो दहराकाशः श्रूयते स किं भूताकाशोऽथ
प्रत्यगात्मा ? आहोस्वित्परमात्मेति। किं युक्तम् ? भूताकाशइति
कुतः ? आकाशपदस्य भूताकाशे प्रसिद्धिप्राचुर्यात्। "तस्मिन्यदन्तर्
त्याधारत्वप्रतीतेश्च। अथवा ब्रह्मपुराभिहितस्य देहस्य स्वामी जी
हृदयनिवासी स्याद्दहराकाशपदवाच्यस्तस्यापि सूक्ष्मत्वादिति प्र
आह दहर उत्तरेभ्य इति। दहराकाशः परमात्मैव भवितुमर्हति
कुतः ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः। तथाहि—"अ
यदिदमस्मिन्नि" ति वाक्यस्यायमर्थः। विद्यान्तरारम्भार्थोयमथश

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अस्मिन्प्रत्यक्षे ब्रह्मपुरे ब्रह्मनिवासस्थाने तत्प्राप्तिसाधनीभूत उपासकशरीरे यदिदं दहरं सूक्ष्मं पुण्डरीकं पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाणं हृदयं परब्रह्मवेश्मभूतं दहरःसूक्ष्मोऽस्मिन् हृद्यन्तराकाशः सूक्ष्माकाशः परमात्मा सदा तिष्ठतीति। "स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमितीत्यग्रे परमात्मनो हृत्स्थत्वश्रवणात्। तस्मिन्परमात्मनि यदन्तस्तदन्तर्वर्त्यात्मत्वापहतपाप्मत्वसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिकं स्वाभाविकानवधिकापरिमितमङ्गलगुणजातं तदन्वेष्टव्यं तद्भाव विजिज्ञासितव्यमेतद्द्वयसहितं परं ब्रह्म विचार्य्यं ज्ञानविषयीकर्तव्यश्चेत्यर्थः। दहराकाशशब्दवाच्यः परमात्मा तदन्तर्वर्तिनोऽपहतपाप्मत्वादयस्तद्गुणा इति कुतोऽवगम्यत इति चे "त्स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनाऽस्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्" "अस्मिन् कामाः समाहिताः" (छा० ८।१।४) इत्याकाशशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणोऽन्तर्वर्तिनोऽन्वेष्टव्यान् कामान्निर्दिश्य कोऽयं ? दहराकाशशब्दोक्तः के च ? तदन्तर्वर्तिनः कामा इत्यपेक्षायां "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" (छा० ८।१।४) इत्युत्तरं वाक्यमाकाशशब्दाभिहितः परमात्मा तदन्तर्वर्तिनोऽपहतपाप्मत्वादयो गुणा इति ज्ञापयति। किञ्च "तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ८।१।६) इत्युत्तरं वाक्यं स्वेच्छया सञ्चरणं स्वेप्सितसर्वभोगप्राप्तिं च दर्शयदात्मनश्चकारेण सत्यकामानाञ्चोपास्यत्वं ज्ञापयति। तस्मात्स्वशरीरान्तर्वर्तिहृत्पुण्डरीकान्तःस्थं ब्रह्मापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टमन्वेष्टव्यमिति स्पष्टम्।

एवञ्चात्र तदन्वेष्टव्यमिति तच्छब्दपरामृष्टयोर्दहराकाशतदन्तर्वर्तिगुणजातयोरुभयोरप्यन्वेष्टव्यत्वमवगम्यते। "अथ यदिदमस्मिः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" इति प्रागनूद्य "दहरोऽस्मिन्नन्तर
काशः"। इति तस्य "तस्मिन्यदन्तः" तस्मिन्दहराकाशपदवाच्य
परमात्मन्यन्तर्वर्तिगुणगणश्चेत्येतस्य चोभयोरपि "तदन्वेष्टव्यतद
विशिष्टविधानमिति निर्गलितार्थः। एतदुभयविधानं कथमवगम्य
इति चेदित्थम्–पूर्वं हि "स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषो
ऽन्तर्हृदय आकाशः" इत्यादिवाक्यं पुण्डरीकदहरवदहरत्वमन्तराका
शस्यापि समापन्नमपाकुर्वद्भूताकाशत्वमपि तस्य वारयति। भूताकाश
प्रसिद्धस्याप्याकाशशब्दस्य स्वस्य स्वेनैवोपमा नोपपद्यत इति तत्
व्यावृत्तिः साधिता। अनन्तरं तेनैव वाक्येन तस्य महत्त्वमभिधाय
"उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्
सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि" (छा० ८।१।३) इति प्रकृतस्यैवा
काशपदवाच्यस्यास्मिन्निति विश्वाधारतामुक्त्वा "यदैनज्जरामाप्नोति
प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत" इति विचारे "स ब्रूयान्नास्य जरसै
तज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते" इत्यादिभिस्तत्सत्यमबाधितं ब्रह्म च तद्
रंचेति ब्रह्मपुरं पुरवद् द्युपृथिव्यादिसर्वकामान्तं निवासस्थानमस्मि
ब्रह्मपुरे ब्रह्मणीत्यर्थः। कामाः काम्याः कमनीयगुणाः समाहिताः।
एष आकाशशब्दनिर्दिष्टो ब्रह्मपुरशब्दवाच्यः के च कामास्तत्र समा
हिता इत्याकाङ्क्षायामाकाशशब्दनिर्दिष्टो ब्रह्मपुरशब्दनिर्दिष्टश्चैत
आत्मा सर्वकामशब्दनिर्दिष्टा अपहतपाप्मत्वादयस्तद्गुणा इति "
आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोपिपासः सत्य
कामः सत्यसंकल्पः" इत्यादिवचनेन ज्ञापयामास। "अथ य एष
सम्प्रसादोस्माच्छरीरात्समुत्थाय" इत्युक्तरीत्या यदज्ञानात्कर्मप
वशा जीवा गतागतिं लभन्ते यस्य ज्ञानात्तत्प्रसादेन ब्रह्मलोकं गत
परं ज्योतिर्ब्रह्मोपसम्पद्य प्राप्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुण विशि
स्वरूपाणां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, सङ्कल्पादेव च सर्वेषां
ग्यजातप्राप्तिर्भवति स दहराकाशः परमात्मैव ॥१।३।१३॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च ।१।३।१४।

परमात्मनोदहरपदवाच्यत्वे हेत्वन्तरमाह। यतस्तस्यैवाभिधायकौ गतिशब्दौ दृश्येते। तथा हि—"अस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" (छा० ८।३।२) अस्यार्थः—एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता "इत्युपक्रम्य तम्ब्रह्मपुरमात्मानमेतांश्चसत्यान्कामाननुविद्य ये व्रजन्ति तेषां ब्रह्मदर्शनाभावेनाकामचारित्वमुक्त्वा सत्यान् कामाननुविद्य ये व्रजन्ति तेषां ब्रह्मलोकं गत्त्वा ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरमाविर्भूतस्वरूपाणां सर्वलोककामचारित्वमुक्त्वाथ तादृशमात्मानमजानतां सुषुप्त्यवस्थायामहरहर्दहराकाशब्रह्मसमीपं गतानामपि तदप्राप्तिं वदति श्रुतिः। अपहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्वान्तगुणविशिष्टमात्मानमजानतः प्रत्यगात्मनः कर्मपरवशतया जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्यवस्थाभिस्तिरोहिता अपहतपाप्मत्वादय आत्मगुणास्तदाश्रयभूतं दहरपदवाच्यमात्मानं कर्मरूपाऽविद्यातिरोहितत्वेनोक्तगुणविशिष्टमन्याः प्रजाश्च न विन्दन्तीति सदृष्टान्तमाह—"तद्यथा हिरण्यनिधिमक्षेत्रज्ञा इत्यादिना। अयमाशयः। यथा क्षेत्रतत्त्वापरिचितास्तदुपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुर्न प्राप्नुयुस्तथेमाः सर्वाः प्रजाः सुषुप्त्यवस्थायामहरहर्दहरब्रह्मसमीपं गच्छन्त्योऽप्येतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति न प्राप्नुवन्ति। ब्रह्मलोकमित्यत्र च पूर्वतन्त्रसिद्धनिषादस्थपतिन्यायेन सर्वसमासापेक्षया कर्मधारयसमासस्य श्रेष्ठतया ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इतिविग्रहः। इदञ्च हेतुगर्भितं वाक्यम्। अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति। यतोऽनृततिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टात्मस्वरूपा अत एव ताः प्रजास्तत्समीपं गत्त्वाऽपि तं न पश्यन्तीति श्रुत्यर्थः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अत्रोपरितनब्रह्मलोकगतानामपुनरावृत्तिश्रवणात्तत्राहरहर्गमनानुप
पत्तेश्च । "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवती" ति सुषुप्तिकाले सर्वेषां
दहराकाशशब्दनिर्दिष्टसद्ब्रह्मसम्पत्तिश्रवणाद् गन्त्रीणां प्रजानां गन्त
व्यस्यैतच्छब्दपरामृष्टस्य ब्रह्मलोकपदाभिहितस्य हृदिगतदहराकाश
स्य सच्छब्दवाच्यत्वोपपत्या ब्रह्मत्वसिद्धेः । प्रजाभिरहरहर्गन्तव्यस
हृदिगतदहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्देन निर्दिष्टतया चेत्याभ्यां गति
शब्दाभ्यां दहराकाशस्य ब्रह्मत्वमवगम्यते । तथा हि दृष्टमिति सुषु
प्त्यवस्थायामहरहः सर्वेषां जीवानां सच्छब्दवाच्यपरब्रह्मगमनं श्रुत्य
न्तरेऽप्यभिधीयमानं दृष्टम्—"एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजा
सतः सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति" (छा० ६।९।२
तथैव सत आगम्य सत आगच्छाम इति च न विदुः । तथैव ब्रह्म
लोकशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि दृष्टः । "नास्य जरयैतज्जीर्यति न
वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एत
आत्मा" (छा० ८।१।५) इत्यत्र पुरशब्दस्य लोकशब्दस्य चैकार्थ्य
कत्वाद्ब्रह्मणो द्युपृथिव्यग्निवायुसूर्यादिनिवासस्थानत्वेनोभयत्र पुरलो
कशब्दयोः प्रयोगस्य साफल्यात् । एवं "मेष ब्रह्मलोकश्च सम्राडिति
होवाचे" त्यत्र ब्रह्मलोकशब्दस्य ब्रह्मणि दृष्टत्वाच्च । लिङ्गञ्च
चशब्दोऽवधारणार्थको यदिदमस्मिन्दहरप्रकरणे श्रूयते प्रजानामहर
हर्ब्रह्मलोकगमनं तदेव दहराकाशस्य परमात्मत्वेऽबाधितमन्यथि
चारि लिङ्गं ज्ञापकं हेतुभूतमित्यर्थः । प्रयोगस्तु दहराकाशः परमा
त्माहरहः सर्वप्रजागतिस्थानत्वे सति तददृश्यत्वात्तदज्ञातत्वादि
त्यादिकः । १।३।१४॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः । १ । ३ । १५ ।

"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधर
एषां लोकानामसम्भेदाय" (बृ० ४।४।२२) इत्यन्यत्र श्रुतस्या

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परमात्मनो धृत्याख्यस्य महिम्नोऽस्मिन्दहराकाश उपलब्धेः। "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय" (छा० ८।४।१) इत्येवमत्र दहरप्रकरणेस्मिन्दहराकाशे धृत्याख्यस्य महिम्न उपलब्धेरयं दहराकाशशब्दाभिहितः परमात्मैव। अत्र य आत्मा स सेतुः। सेतुवत्संसारसागरात्पारप्रापकस्तत्पारकर्तृत्वेन संसारसागरतरणोपायभूतस्तत्पारस्थब्रह्मलोकाधिपतिपरब्रह्मप्रापकश्चेतिस्वयमेवायं दहराकाशः परमात्मोपाय उपेयश्च स्वानन्यभक्तानामिति सेतुशब्दार्थः सङ्गत इति तदुक्तं गीताचार्यैः—

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्॥
भवामि न चिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्। गी० १२।७
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय॥
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ गी० १२।८

इति स्वस्यैव स्वानन्यभक्तानां संसारसागरतरणोपायत्वस्य तत्प्राप्यत्वस्य चोक्तत्वात्। अग्रे च तमेवार्थं स्पष्टयति। "तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा" एतच्छब्दपरामृष्टमात्मानं सेतुं तीर्त्वा लब्ध्वा "अन्धः सन्ननन्धो भवति" परमात्मप्राप्तिपूर्वकालेऽन्धवत्परमात्मनोऽद्रष्टापि तत्प्राप्तिकाले द्रष्टा भवतीति। तथा चैषां लोकानां विधृतिर्विधारकः सेतुशब्दार्थः। न हि सर्वलोकविधारकत्वं स्वानन्यभक्तसंसारसागरतारकत्वं च ब्रह्मणोऽन्यस्य सम्भवति। तस्मात्सर्वलोकविधारकत्वात्स्वशरणागतसंसारतारकत्वाच्च दहराकाशः परमात्मा॥ १।३।१५॥

प्रसिद्धेश्च। १। ३। १६॥

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" (छा० ८।१४) "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छा० १।९।१) "को

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० २।७
इत्यादिष्वाकाशशब्दस्य परमात्मनि प्रसिद्धेः । सर्वभूतोत्पादक
त्वादिपरमात्मधर्माणां भूताकाशेऽनुपपत्तेश्च दहराकाशः परमात्मैव
१।३।१६ ॥

इतरपरामर्शात्स इतिचेन्नासम्भवात् । १ । ३ । १७ ॥

"अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरु
पसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच" (छा० ८
३।४) इत्यत्र वाक्यशेषे सम्प्रसादशब्दाभिहितस्येतरस्य जीवस्याप्य
स्मिन् दहरप्रकरणे परामर्शात्स जीव एव दहराकाशपदवाच्यः स्यादिति
चेन्न । असम्भवात् । जीवे द्युपृथिव्यादिसर्वजगदाधारत्वादीनां
परमेश्वरासाधारणधर्म्माणां पूर्वोक्तानामसम्भवात् दहराकाशः पर
मात्मैव । श्रुत्यर्थस्तु य एष इति दहराकाशवित्तदुपासक उच्यते ।
स एव "तद्यत्रैतत्सुप्तः" इति सुषुप्त्यवस्थायां सर्वपाप्मस्पर्शाभावेन
सर्वकालुष्यविनिर्मुक्तत्वेन सम्प्रसन्नो जीव एव सम्प्रसीदति सुषु
प्त्यवस्थायामिति सम्प्रसाद इत्युक्तः स दहराकाशब्रह्मोपासको
जीवस्तदुपासनया प्रसन्नस्य ब्रह्मणः प्रसादेन कर्मबन्धाद्विमुक्तत्वेन
सम्प्रसादपदभाक् भवति । स जीव एवास्माच्छरीरात्समुत्थाय
सुषुम्नया नाड्या शरीराद्बहिर्निर्गत्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा
तत्र परं ज्योतिरुपसम्पद्य परं ब्रह्मसमीपं सम्प्राप्य तत्प्रसादेन
स्वेनरूपेण स्वाभाविकेनापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टसच्चिदानन्द
रूपेणाभिनिष्पद्यतेऽभितः सर्वप्रकारेण निष्पन्नो भवतीति ।

इदञ्चात्र विचार्य्यते । कैश्चिदत्र परं ज्योतिरुपसम्पद्येत्यस्य परं
ब्रह्मणि लयम्प्राप्य तद्रूपो भवतीत्यर्थःक्रियते । सच प्रकरणविरुद्ध
त्वादनुपपन्नः । तथाहि—ब्रह्मलीनस्य ब्रह्मैकताङ्गतस्य तस्य "ब्रह्मणा
क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानै" रित्यादिसर्वलोककामचारत्वादि

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यवहारत्वानुपपत्त्या तद्बोधकश्रुतीनां वैयर्थ्यापत्तेः। जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च। तस्माज्जक्षन् क्रीडन्नित्यादिश्रुतयोऽन्यथा स्वार्थमलभमाना मुक्तजीवस्वरूपस्य ब्रह्मणः पृथक्स्थितिमुपाद्य स्वार्थं लभन्ते। अत एव "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३।१।३) इति श्रुतेः परमात्मप्रसादेनाविर्भूतोक्तगुणविशिष्टात्मस्वरूपो मुक्तजीवो ब्रह्मसाम्यं प्राप्यते तत्समानभोगवान् भवतीति "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्र. सू. ४।४।२१) इति सूत्रनिर्णीतार्थः सङ्गच्छते। जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रन्तु ब्रह्मणो जगद्व्यापारकर्तृत्वेऽपि मुक्तानां तदभाव इतिबोधनेन मुक्तजीवानां ब्रह्मणो न्यूनैश्वर्यकत्वं तद्भिन्नत्वञ्च स्पष्टयति। एवञ्च मुक्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां परमात्माधीनत्वबोधनद्वारा तेषां तच्छेषत्वं परमात्मनश्च तच्छेषित्वं ज्ञापयतीयं श्रुतिः। तदेव च "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यनया श्रुत्या परज्योतिस्सम्पत्तिसमनन्तरं तत्सम्पत्तेः पश्चात्तत्प्रसादेन ज्ञानिभक्तानां स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुच्यते। तथा च स्वस्वरूपाविर्भावरूपमुक्तेरपि परमात्माधीनत्वसूचनेन बद्धमुक्तोभयावस्थस्य जीवस्य परमात्माधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन तच्छेषत्वं परमात्मनस्तच्छेषित्वं प्रतिपादयन्तीभिरनेकश्रुतिभिस्तदर्थनिर्णायकेन सूत्रेण च बद्धमुक्तोभयावस्थस्य जीवस्य परमात्मशेषत्वनिष्पत्तेस्तस्य जगद्विधारकत्वतत्सेतुत्वादिव्यापारनिषेधेन तदसम्भवात् सर्वजगद्धारको दहराकाशः परमात्मैव ॥१।३।१७॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।१।३।१८।

उत्तरात्प्रजापतिवाक्याज्जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणवत्त्वावगमात्स एव दहराकाशो भवत्विति चेन्न। आविर्भूतस्वरूपस्तु—तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। उत्तरस्मादपि वाक्याज्जीवस्य ग्रहणं दहराकाशान्न सम्भवतीति। अत्रायमभिप्रायः पूर्वपक्षतयाभिमतः। दहरविद्यासम-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नन्तरं तदेकवाक्यतया तदेकार्थप्रतिपादिकायां प्रजापतिविद्याय
फलतया "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति
रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति
जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदं
शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिंश्छरीरे प्राण
युक्तः" (छा० ८।१२।३) इति श्रूयते। उत्तमः पुरुषः उद्गतं तम
कार्यभूतः कर्मबन्धो यस्मात्स उत्तमः। ब्रह्मप्रसादेन विमुक्तकर्मबन्ध
त्वादाविर्भूतस्वरूपत्वेन बद्धजीवापेक्षयोत्तमः पुरुषः सः परमात्मो
पासनेन तत्प्रसादादाविर्भूतस्वरूपो मुक्तजीवः। तत्र ब्रह्मलोके पर्येति
परितो भोगानेति सर्वान् कामानाप्नोति। स्त्रीभिस्सह जक्षन्क्रीडन्
ममाणः "स यदि पितृलोक कामो भवती" त्यादिभिरुक्ताभिः
तिभिः पित्रादिभी रममाणो नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं प्रियाप्रिय
दियुक्तं कर्मनिमित्तकमिदमपुरुषार्थभूतं शरीरं नो स्मरँस्तदनुसन्धान
मकुर्वन्निति। एवं ब्रह्मलोकेऽभीष्टभोगावाप्तिमुक्त्वा "स यथा प्रयोग्य
आचरणे युक्त" इति पूर्वोदितस्वरूपस्य मुक्तजीवस्येव पूर्वस्
संसारदशायां कर्माधीनशरीरयोगं प्रयोग्येत्यादिना रथयोगं दृष्ट
न्तविधयोपवर्ण्य "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुष
पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धा
घ्राणम्" (छा० ८।१२।४) इत्यादिश्रुतिभिश्चक्षुरादीनां करणत्व
रूपादीनां ज्ञेयत्वेनात्मनो ज्ञातृत्वेन परस्परभेदं विनिर्दिश्य "स व
एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान् पश्यन् रमते" (छा
८।१२।५।) "य एते ब्रह्मलोके" (छा० ८।१२।६) इति तस्यैव कर्म
मित्तकशरीरेन्द्रियबन्धविमुक्तस्याविर्भूतस्वरूपस्य दिव्येन चक्षु
मनसा स्वाभाविकेन मनोरूपेण चक्षुषा ज्ञानेन "सर्वान् काम
पश्यन् रमत" इति सर्वकामानुभवमुक्त्वा "तं वा एतं देवा आत्म
नमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मनमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच" (छा० ८।१२।६) इत्यात्मोपासकानां देवानां दिव्यचक्षुषां तस्मादुपासनादेव सर्वलोकसर्वकामाप्तिः सुस्पष्टमभिहिता। अत्र "यः सर्वज्ञः स सर्वविदि" त्यनयोः सामान्यविशेषज्ञानबोधकयोरिव "अनुविद्य विजानाती" त्यनयोरपि सामान्यविशेषज्ञानपरत्वनिश्चयात्। यस्तमात्मानं शास्त्रतः सामान्येनानुविद्य ज्ञात्वा तदुपासनेन ध्यानेन तदेकचिन्तनेन विशेषतो जानाति तस्यैवं विधमात्मानं विजानतः सर्वकामावाप्तिर्जन्यानन्दस्य ब्रह्मानन्दान्तर्गतत्वात्सर्वकामावाप्तिसुखाधिकानन्दप्रदो ब्रह्मानुभव एव फलमित्यस्य प्रकरणस्य निर्गलितार्थः। तस्माद् "एवमेवैष" इत्यस्मिन् वाक्यशेष आविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्यैव क्रीडनादिव्यवहाराणां श्रवणादस्य वाक्यस्य जीवस्वरूपधर्मवर्णनपरत्वोपपत्तेर्जीवस्य चापहतपाप्मत्वादिगुणकत्वोपपतेः स एव दहराकाशशब्द निर्दिष्ट इति चेत्। तत्राह, आविर्भूतस्वरूपस्त्विति। आविर्भूतस्वरूपशब्दो हेतुगर्भः। अस्य वाक्यस्याविर्भूतस्वरूपजीवस्य जक्षन्नित्यादितद्धर्ममात्रवर्णनपरत्वान्नायं दहराकाशः। अयमत्र निर्णयः। अस्मिन्प्रजापतिप्रकरणेऽनादिकालप्रवृत्तपुण्यपापरूपकर्ममूलावस्थात्रयैस्तिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्य जीवस्य संसारिस्वरूपं प्रदर्श्यानन्तरं "मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्त" मित्यादिनोपरितनवाक्येन तस्यैव जीवस्य परमात्मोपासनाजनिततदुपसम्पत्याऽविर्भूतस्वरूपस्य क्रीडनादिधर्माणाञ्चोपदेशश्रवणात्। "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चे" तिसूत्रेण तस्य मुक्तजीवत्वावगमात्। जगद्व्यापारवर्ज्यमिति च मुक्तानां जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयजगद्विधारणत्वसेतुत्वादिपरमात्मव्यापाराणां प्रतिषेधात्। आविर्भूतस्वरूपमुक्तव्यवहारेषु च "जक्षन् क्रीडन्रममाण" इत्युक्तेषु जगद्विधारणत्वसेतुत्वाद्यप्रतिपादनात्तस्य दहराकाशपरमात्मत्वाऽसम्भवात्। एवञ्च यत्परज्योतिः प्राप्य जीवोऽपि कर्मबन्धा-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्विमुच्याविर्भूतस्वरूपो भवति तस्य जीवस्य स्वप्राप्यभूतपरज्योति
पदवाच्यपरब्रह्मरूपत्वानुपपत्तेरत्र वाक्ये बद्धजीवस्य दहरब्रह्मोपा
नया कर्मबन्धाद्विमुच्य स्वरूपाविर्भावो भवतीति बोध्यते। तस्मा
बद्धमुक्तोभयावस्थो जीवो दहराकाशो भवितुमर्हतीति ॥१।३।१८॥

तर्हि दहरावाक्य "एष सम्प्रसाद" इत्यादिना जीवप्रस्तावो
च प्रजापतिवाक्य "एष सम्प्रसाद" इति जीवप्रस्ताव आविर्भूत
रूपोपदेशश्च किमर्थ इति चेत्तत्राह—

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ १ । ३ । १९ ॥

परज्योतिःस्वरूपदहराकाशोपासनया तत्प्रसादेनैष सम्प्रसा
जीवोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायेति प्रतिपादनात्परज्योतिः पदाभिधे
दहराकाशसम्पत्याऽस्य जीवस्यानृतेन तिरोहितस्वरूपस्य स्व
विर्भात्रो भवतीत्येतज्ज्ञापनार्थं दहरविद्यायां जीवस्य परामर्शः कृ
एवं प्रजापतिवाक्येऽपि जीवप्रस्तावः परमपुरुषोपासनया तत्प्र
देनास्य जीवस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरिति ज्ञापनार्थमेव
निर्णयः। तदेवं दहरप्रजापतिवाक्ययोः कृतानां जीवपरामर्श
पोपदेशतद्व्यवहारोपदेशानामन्यार्थत्वेनापक्षीणत्वे न दहराका
स्वरूपसमर्पकत्वमिति दहराकाशः परमात्मैव ॥ १।३।१९॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् । १ । ३ । २० ।

प्रकृतश्रुतिघटकवाक्यं "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इति वि
तेन दहराकाशस्याल्पत्वं हृदयावच्छिन्नत्वञ्च बोध्यते। तादृ
प्रादेशिकत्वञ्च परमात्मनोऽसम्भवदुक्तिकम्। "महतो महीयानि
तस्यापरिच्छिन्नत्वमेव श्रूयते। तस्मादाराग्रमात्रोपमितस्य
स्यैव दहराकाशत्वमुपपद्यते। तथा सति हृदयपुण्डरीकपरिच्छि
त्वमपि तस्योपपन्नतरमितिचेत्। तदुक्तम् तत्रोत्तरमुक्तम्।
कौकस्त्वात्तद्व्यपदेशादित्यत्र निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्चेत्युपा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

र्थमल्पत्वं परमेश्वरेऽविरुद्धम् । "अणोरणीयान्महतोमहीयान्" (का० १।२।२०) इति श्रुतेस्तस्याणोरप्यणीयस्त्वेन हृदिस्थत्वमुपपद्यते । तथा चोपासनार्थं परमात्मनोऽल्पत्वं स्वभावतोपरिमितानन्तमहाविभूतिमतोऽपरिच्छिन्नत्वब्रह्मघटितघटनापटीयस्या तच्छक्त्यासर्वमप्युपपद्यते । तस्माद्दहराकाशः परमात्मैव ॥१।३।२०॥

अनुकृतेस्तस्य च ॥१।३।२१॥

अनुकृतिरनुकरणम् । मुख्यं यत्तदनुकार्यम् । मुख्यस्याभावे यदुपादीयमानं तदनुकरणम्भवति । एवञ्च तस्य जीवस्य दहराकाशब्रह्मानुकृतेश्च हेतोर्न जीवो दहराकाश इत्यर्थो निष्पन्नः । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदविशिष्टत्वादिति भावः । अत्रेदं तात्पर्यम् । संसारदशायां कर्ममूलाभिर्जाग्रदाद्यवस्थाभिस्तिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्य जीवस्यानुकार्यब्रह्मोपासनेन तत्प्रसादादाविर्भूतस्वरूपस्याविर्भूतानामपहतपाप्मत्वादिगुणानाञ्च परमात्मस्वाभाविकस्वरूपस्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिगुणानुकृतित्वोपपत्त्याऽनुकर्तुर्जीवादनुकार्यस्य दहराकाशपरज्योतिषो भेदत्वोपपत्तेर्न तस्य दहराकाशपरमात्मत्वमुपपद्यते । अनुकृतिर्नामानुकार्यस्य साम्यावाप्तिः सैवात्र श्रूयते । "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ८।१।६।) इत्यनुदिनभगवदुपासनजनिततत्प्रसादेन विमुक्तकर्मबन्धस्य जीवस्य परमेश्वरस्येव संकल्पमात्रेण सर्वकामावाप्तिर्भवतीति । सैव च "स यदि पितृलोककामो भवती" त्यादिना महता प्रकरणेनोपरिष्टाद्दोषिता । तथा चात्र कर्मबन्धविमुक्तस्य मुक्तस्य परमात्मसाम्यावाप्तिरूपायास्तदनुकृतेः स्फुटं श्रवणादनुकार्याद्ब्रह्मणस्तदनुकर्तुर्जीवस्य भिन्नत्वेन तस्य दहराकाशत्वाभावात्परमात्मन एव दहराकाशत्वमिति ॥ १।३।२१॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपि च स्मर्यते ॥ १।३।२२ ॥

स्मर्यते चापीत्यन्वयः। "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमा
गताः। सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलयेन व्यथन्ति च" (गी० १४।२)इ
जीवस्य परमात्मज्ञानपूर्वकतदुपासनेन प्राप्तायास्तत्साधर्म्यरूपाया
दनुकृतेः स्मरणान्न मुक्तजीवस्यापि दहराकाशत्वमुपपद्यते। साधर्म
समानधर्मत्वम्। धर्माश्चापहतपाप्मत्वादिगुणाः। अयमर्थः। दह
ब्रह्मज्ञानपूर्वकतदुपासनेन परज्योतिर्ब्रह्मोपसम्पद्य तद्दर्शनेन कर्मबन्ध
विनिर्मुक्त आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणको जीवः सर्वलोककामचा
भवति तदुपलक्षितान् संकल्पादेवेति संकल्पमात्रेण प्राप्तान्सर्वभोगा
भुनक्तीति परमात्मोपासनेन तत्स्वरूपाविर्भावानन्तरं तत्संकल्पात्स
कामावाप्तिश्रुतेर्जीवगतसत्यकामत्वादिगुणानां परमात्मप्रदत्वेन जी
स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां परमात्मायतत्वमुपपत्तौ जीवसंकल्पस्येषन्यू
जगत्सृष्टयाद्यकर्तृत्वञ्चान्यथानुपपद्यमानं मुक्तजीवस्य सत्यका
त्वादिगुणानां तदन्यव्यवहारस्य च स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां परमात्म
धीनत्वमुपपाद्य मुक्तस्य तच्छेषत्वं परमात्मनस्तु तच्छेषित्वं निष
दयतीति परमात्मशेषभूतस्य बद्धमुक्तोभयावस्थस्य जीवस्य दह
काशब्रह्मत्वाऽसिद्धेः परमात्मैव दहराकाश इति सिद्धम् ॥१।३।२

(इति दहराधिकरणम्।)

(अथ प्रमिताधिकरणम्)

शब्दादेव प्रमितः ।१।३।२३॥

काठके श्रूयते—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति
"ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वैतत्" तथा "अङ्गु
मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उ श्च एतद्वैतत्" (का. २।४।१२।१३) इति। तत्र किमयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयमाणो जीव आहोस्वित् परमात्मेति संशयः। तत्र पूर्वः पक्षः। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष इत्युक्तश्रुत्या परिमाणकथनाज्जीवात्मैवात्र निश्चीयते। परमात्मनस्त्वङ्गुष्ठमात्रपरिमाणकत्वं कथमपि न सम्भवति। जीवस्य तु श्रुतिस्मृतिषु तथा स्वरूपमुपवर्ण्यते। "प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः" (श्वे. ५।७) "अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः" (श्वे. ५।८) इत्यादयः। तस्मादत्राङ्गुष्ठमात्रो जीव इति प्राप्तेऽभिधीयते।

शब्दादेव प्रमित इति। अङ्गुष्ठमात्रमितः पुरुषोऽत्र परमात्मैव। कुतः? शब्दात् "ईशानो भूतभव्यस्ये" त्यपरोक्षतया श्रूयमाणशब्दबलादेव। नहि तावज्जीवस्य कर्मपरतन्त्रप्रवृत्तिमतः स्वातन्त्र्येण भूतभव्यस्येशितृत्वं युज्यते। नवा कर्मबन्धविमुक्तस्य मुक्तस्यापि। मुक्तव्यवहारपरश्रौतेषु वाक्येषु तस्य भूतभव्येशानत्वाश्रवणात्। अत एव जगद्व्यापारवर्ज्जमिति जगद्व्यापारस्यापि प्रतिषेध उपपद्यते ॥१।३।२३॥

किमर्थं तर्ह्यपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठमात्रप्रमितत्वेन परिच्छिन्नत्वव्यपदेश इत्यत्राह—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।१।३।२४॥

अपरिच्छिन्नस्यान्तर्यामितया सर्वत्रावस्थितस्यापि परमात्मनः स्वाश्रितजनोपासनासिद्ध्यर्थमेवोपासकहृदयेऽधिष्ठितत्वात्। हृदयस्य चाङ्गुष्ठप्रमाणकत्वं सिद्धमेव हृद्गतपरमपुरुषे समारोप्येदमङ्गुष्ठमात्रप्रमितत्वं तस्योच्यते "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष" इत्यादिवचनैः। मनुष्यानधिकृत्यैव शास्त्रस्य प्रवृत्तत्त्वान्मनुष्याणामेव परमात्मोपासकत्वसम्भवात्। मनुष्यहृदयस्य च तत्तदङ्गुष्ठप्रमितत्वात्तदपेक्षयेदमभिहितमित्यत्र परमात्मैवाङ्गुष्ठमात्र इति सिद्धम् ॥१।३।२४॥

(इति प्रमिताधिकरणम्)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(अथ देवताधिकरणम्)

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् । १ । ३ । २५ ।

पूर्वं मनुष्यानधिकृत्य शास्त्रस्य प्रवृत्तत्वान्मनुष्याणां ब्रह्मोपासनेऽधिकार इत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गेन देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति संशयो बुद्ध्यारूढो भवति । तत्रायम्पूर्वः पक्षः । नास्ति ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकारः । कुतः ? तेषां विग्रहादिप्रतिपादकवचनाश्रवणात् । मन्त्रार्थवादादीनामपि "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (यजु. काण्ड. २ प्रश्न. १ अनु. १ पं० १) इत्यादीनां "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम" इत्यादिविधिवाक्यैकवाक्यतया शेषभूतानां वायुस्तुतिमात्रपराणां वाय्वादिदेवताविग्रहादिसद्भावप्रकाशकत्वाश्रवणात् । करणकलेवरमन्तरेण च ब्रह्मानुध्यानलक्षणोपासनादिसामर्थ्यं न स्यात् । तदतिरेकेण चार्थवत्स्याप्यसम्भवात्सामर्थ्यार्थित्वयोरभावादेव देवादीनां तत्राधिकारो नास्तीति प्राप्तेऽभिधीयते । तदुपर्यपि बादरायणस्सम्भवादिति । तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तेषामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः ? सम्भवात् । देवादीनामपि विद्याधिकारकारणत्वयोः सामर्थ्यार्थित्वयोस्सम्भवात् । तत्र सामर्थ्यं देहेन्द्रियादिमतः सम्भवति । तच्च देहेन्द्रियादिमत्वं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिभिस्तेषामवगम्यते । तत्र "वज्रहस्तः पुरन्दरः" (अष्टक २ अ. ६ अ. ७ पं. ३४) "तेनेन्द्रो वज्रमुदयच्छत्" (का. २ प्र. ४ अ. १२) इत्यादिकर्मविधिशेषभूतमन्त्रार्थवादेषु स्पष्टमेव विग्रहादिमत्ता देवानां श्रूयते । स्तुतिर्हि स्तोतव्यनिष्ठासाधारणगुणाभिधानेन सम्पद्यते । तथाभूतगुणानामाधारश्च विग्रहादिमानेव स्यात् । नह्येतेषामन्यपरत्वमेष्टव्यम् । कर्मप्रवृत्तये स्तोतव्यार्थसद्भावस्यावश्यकत्वात् । तथा वाल्मीकीये श्रीरामं प्रति ब्रह्मणो वचनादपि ज्ञायते—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेवहि ।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥ वा. रा. उ. १०४ स. ४।
पद्मे दिव्यार्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्यमामपि ।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् । वा. रा. उ. १०४ स. ७।
सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम् ।
रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥ वा. रा. उ. १०४ स. ८।
ततस्त्वमपि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात् ।
रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् । वा.रा.उ.१०४स.९।

इति नाभ्यामुत्पाद्य मामपि "त्वामुपासे" रक्षां विधत्स्वेति च वाक्यैर्ब्रह्मणः शरीरवत्त्वं श्रीरामोपासकत्वं रक्षार्थित्वञ्चावगम्यते ।

एवं देवादीनां सदा भोगशालित्वेऽपि भोग्यवस्तूनां क्षयातिशयदोषग्रस्तत्वेन तन्नानित्यत्वबुद्ध्युत्पादेन वैराग्याद्युत्पत्तिपूर्वकनिरतिशयानन्दस्य मोक्षस्यार्थित्वमपि सम्भवत्येव ।

तथा बृहदारण्यके "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" (बृ० १।४।१०) इति देवानां ब्रह्मविद्याफलान्तं विद्यावत्त्वं श्रूयते । एवञ्च तेषां ब्रह्मविद्याफलवतां कैमुत्यन्यायेनैव ब्रह्मविद्याधिकारित्वोपपत्तिरिति ॥१।३।२५॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । १।३।२६॥

ननु ब्रह्मविद्याधिकारत्वनिष्पत्तये देवादीनां विग्रहादिमत्वं सप्रमाणमभ्युपगतम् । तथा सति कर्मणि विरोधः सम्पद्यते । कुतः? विग्रहवत्त्वे तेषां यागादौ कर्मणि "इन्द्रागच्छ, हरिव आगच्छ" (यजु० आरण प्र० १ अ. १२) इत्यादिनाऽहूतस्य तस्यैकस्य युगपदनेकयागेषु सन्निधानाऽनुपपत्तेरिति कर्मणि देवताया उपकारकत्त्वविरोध इति चेन्न । कुतः? अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । सौभर्यादीनां योगशक्तिभाजां युगपदनेकशरीरप्रतिपत्तिदर्शनात् देवादीनां प्रभूतशक्तिमतां

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

युगपदनेकशरीरधारणत्वोपपत्तेः। अथ वा प्रतिपत्तिरङ्गभावस्तस्य लोके दर्शनात्। यथाऽनेकैश्छात्रैर्युगपन्नमस्कुर्वाणैरेकोपिगुरुर्नमस्क्रियमाणो दृश्यते। एवमेकां सविग्रहामेव देवतामुद्दिश्य युगपत्सर्वे हवींषि त्यक्ष्यन्तीत्यतः कर्मणि देवताया उपकारकत्वे न कश्चिद्विरोधः ॥१।३।२६॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।१।३।२७।

विरोध इत्यनुवर्तते। ननु निरुक्तहेतोर्देवादीनां विग्रहादिमत्त्वेऽभ्युपगम्यमाने न स्यात्कर्मणि कश्चिद्विरोधः। किन्तु देवादिवाचके शब्दे तु विरोधः स्यादेव। देवतानां विग्रहस्य सावयवत्त्वेन घटादिवद्विनाशत्वोपपत्तेः। उत्पत्तेः पूर्वं विनाशादूर्ध्वं च वैदिकेन्द्रादिशब्देष्वनित्यत्वव्यर्थत्वप्रसक्तिरिति चेन्न, अतः प्रभवात्। अतो वैदिकादेवेन्द्राद्याकृतिविशेषवाचकादिन्द्रादिशब्दादिन्द्रादेः प्रभवात्। न हि देवदत्तादिशब्दवदिन्द्रादिशब्दा व्यक्तिविशेषमात्रवाचकाः। अतः पूर्वेन्द्रादौ विनष्टेन्द्रादिनिष्ठ नित्याकृतिविशेषवाचकाद्वैदिकादिन्द्रादिशब्दादिन्द्राद्याकृतिविशेषं स्मृत्वा तादृशमपरमपरमिन्द्रादिकं सृजति प्रजापतिः। अतो वेदेष्वनित्यत्वव्यर्थत्वप्रसक्त्यभावादिन्द्राद्याकृतितद्वाचकेन्द्रादिशब्दयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वोपपत्तेर्न विरोधः।

उक्तार्थे प्रमाणाकाङ्क्षायामाह–प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति। प्रामाण्ये स्वातन्त्र्यात्प्रत्यक्षं श्रुतिः। श्रुत्यपेक्षप्रामाण्यकत्त्वाच्चानुमानं स्मृतिः। ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। ताभ्यां शब्दपूर्वा सृष्टिरवगम्यते। श्रुतयस्तावत् "वेदेन नामरूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः" "सूभूरिति व्याहरत्स भूमिमसृजत" (तै. ब्रा. २।२।४।२२) इत्याद्याः। तथैवान्या श्रुतिरपि—"एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभिसौभगे" त्येतन्मन्त्रस्थपदैः स्मारं स्मारं ब्रह्मा देवादीन् सृजत्। तथा चेयं श्रुतिः "एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतास

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄँस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजा" इति, तथा "स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्" (बृ. १।२।४) इति च। उपरि निर्दिष्टायाः श्रुतेरर्थस्तु, एत इत्यस्य पदस्यार्थाकारं स्मृत्वेन्द्रियाधिष्ठातृदेवानसृजत्। असृग्रशब्दार्थाकारं स्मृत्वाऽसृक्छब्दवाच्यरुधिरप्रधानदेहरमणान्मनुष्यानसृजदित्यादिरवगन्तव्यः। तथा स्मृतिरपि—

अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवर्तयः॥
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्॥
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥म. अ. १।२१॥
नामरूपञ्च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रवर्तनम्।
वेद शब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः। वि.पु. १।५।६३

अतो वैदिकशब्देभ्य एव देवादिसृष्टिकरणाद्देवादिसृष्टिहेतुत्वेन तेषां सार्थक्याद्देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽपि न वेदस्यानित्यत्वप्रयोजकः कश्चिच्छब्देऽपि विरोधः॥१।३।२७॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥१।३।२८॥

यतो वैदिकेभ्य इन्द्रादिशब्देभ्यस्तदाकृतिं प्रजापतिर्मनसि सम्प्रधार्य तत्तदर्थांश्च संस्मृत्य सृष्टिं करोति। अतो नित्याकृतेर्वैदिकेन्द्रादिशब्दार्थत्वाद्वेदस्य नित्यत्वं सिद्धमेव॥१।३।२८॥

नन्वेवमवान्तरप्रलये सतीन्द्रादिव्यक्तीर्वेदशब्देभ्य एव प्रजापतिस्संस्मृत्य तत्तदर्थांश्चावगम्य विरचयेत् तथा सृष्टौ वेदनित्यत्वमप्युपपद्यते परं प्राकृतप्रलये तु भूराद्यखिललोकतत्कारणीभूतमहदहङ्कारादीनां समेषां विनष्टत्वात्तदानीं स्रष्टुरप्यभावात्कथं वेदशब्देभ्यो जगद्रचनावैचित्र्यम्? कथन्तरां विनिष्टस्य वेदस्य नित्यत्वम्? तथा च कथं वेदशब्दपूर्वकत्वं सृष्टेः स्यादिति शङ्कायामाह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समाननामरूपत्वाच्चावृतावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ।१।३।२९॥

प्राकृतप्रलयावसाने पुनर्जगत्सृष्टथावृत्तावपि न कश्चिद्विरोधः। कुतः ? सृज्यानां पूर्वोक्तसमाननामरूपत्वात्। आदिसर्गेऽपि परमात्मा स्वस्मिल्लीनस्य जगतः पूर्वसंस्थानं स्मरन् "बहु स्याम् प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इति संकल्प्य स्वस्मिल्लीनंभोक्तृभोग्यजातं शक्तिमात्रावशेषं विभज्य महदादिब्रह्माण्डं चतुर्मुखपर्यन्तं यथापूर्वं सृष्ट्वा वेदांश्च पूर्वानुपूर्वीविशिष्टानाविष्कृत्य यथापूर्वं जगद्व्यवहारं निर्वाहयति। तदेवतत् दर्शनात्स्मृतेश्चेति। दर्शनं श्रुतिः। (तै. २।६।) "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे. ६। १८) इति श्रुतिर्ब्रह्माणमुत्पाद्य तस्मै वेदानुपदिशतीत्यर्थं स्पष्टमाह। तथा "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ. सं. १०।१९०। ३) इति श्रुतिर्यथा पूर्वं प्रलयात्पूर्वं सृष्टौ यथा सूर्यचन्द्रादि सर्वं जगदासीत्तथैवोत्तरसृष्टौ तत्सर्वमकल्पयद्ब्रह्मेत्यभिधत्ते। तथा—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
तस्य अयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

इत्याद्याः स्मृतयः।

एवं श्रीवाल्मीकीये—

"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः। वा. रा. उ. स. १०४।४
पद्मे दिव्यार्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्यमामपि।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम्। वा. रा. उ. स. १०४।७
सोहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम्।
रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान्। वा. रा. उ. स. १०४।८
ततस्त्वमपि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्। वा.रा.उ.स.१०४।९।
आदित्यां वीर्यवान् गर्भः भ्रातृणां हर्षवर्धनः ।
समुत्पन्नेषु कार्येषु तेषां साह्याय कल्पसे । वा. रा. उ. स. १०४।१०।
स त्वं वित्रास्यमानासु प्रजासु जगतां वर ।
रावणस्य वधाकांक्षी मानुषेषु मनो दधाः। वा. रा. उ. स. १०४।११।

इत्येवं महता प्रकरणेनोक्तम्। तदर्थश्च प्राकृतप्रलयान्त आदि सर्गार्थं त्वं महार्णवे शयानस्सन् नारायणसंज्ञामवाप्य नाभ्यां मामुत्पाद्य प्राजापत्यं सर्वं कर्म मयि निवेश्य ततस्त्वदुपासकेन मया प्रजारक्षणार्थं प्रार्थितो विष्ण्वादिरूपेणात्राविर्भूय तद्रूपेणावध्यस्य रावणस्य वधाकांक्षी त्वं मानुषेषु मनो दधाः। स्वेनैव सनातनेन रूपेणाविर्भूतोसीति श्रीरामं प्रति ब्रह्मणो वचनाच्च परमात्मनियोगपूर्वकमेव प्रजापतेर्व्यापारस्तत्कर्तृकञ्चेदमिन्द्रादिरूपं जगदित्यवगम्यते। एवमन्याः स्मृतयोऽपिचिन्तनीयाः ॥१।३।२९॥

(इति देवताधिकरणम्)

(अथमध्वधिकरणम् ।)

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः । १।३।३०॥

ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकार इति सामान्येन प्राक् चिन्तितम्। परं यत्र मध्वादिषु विद्यास्वेकस्या देवताया उपास्यत्वं तस्या एव चोपासकत्वमिति श्रूयते तत्र तासामनधिकार इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। कुतः? असम्भवात्। "असौ वा आदित्यो देवमधु" (छा० ३।१।१) इत्यादावादित्यादीनामेव देवमधुत्वादुपास्यत्वं तेषामेव च देवतात्वादुपासकत्वमित्येकस्यैवोभयरूपत्वं न सम्भवति। विरुद्धत्वात्। न हि प्राप्यस्य प्रापकत्वं क्वचिदपि

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दृष्टचरम् । मनुष्यादीनान्तूपासकत्वं फलावाप्तये सम्भवतीति मध्वादिविद्यासु नास्ति देवादीनामधिकार इति जैमिनेराचार्यस्य मतम्। मध्वादिष्वित्यादिपदेन यासु विद्यासु देवानामुपास्यत्वं प्रतीयते "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (छा० ३।११।१) इत्येवमाद्यासु ताः सर्वा गृह्यन्त इति । १।३।३०॥

ज्योतिषि भावाच्च । १।३।३१।

"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ० ६।४। १४) इति ज्योतिषां ज्योतिषि परस्मिन् ब्रह्मणि देवानामुपासनायाः सद्भावाच्च परब्रह्मोपासकानां सूर्याद्युपासनानुपपत्तेर्नास्ति देवानां मध्वादिविद्यास्वधिकार इति पूर्वोदितस्य जैमिनेर्मतम् ॥ १।३।३१॥

भावन्तु बादरायणोऽस्ति हि । १।३।३२।

तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । मध्वादिविद्यास्वपि तदुपासकानामादित्यवस्वादीनां देवानामधिकारभावं भगवान् बादरायणाचार्यो मन्यते । हि यस्मादादित्यवस्वादीनामपि स्वावस्थब्रह्मोपासनेन वस्वादित्यादिप्राप्तिपूर्वकब्रह्मपेप्सा । "स यावदादित्यः पुरस्तादेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्य ५ स्वाराज्यं पर्येता" (छा० ३।६।४) इति वस्वाद्याधिपत्यस्वाराज्यस्य सूर्योदयास्तप्रदेशपर्य्यन्तत्वश्रवणात् । वस्वादीनां भोग्यस्य परिमितत्वेन सातिशयत्वेन च ततोऽपि विरागपूर्वकं निरवधिकनिरतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तीच्छया तदुपासनेन कल्पान्तरे वस्वादित्यं प्राप्य तदन्ते परब्रह्मप्राप्त्यवगमात् । "अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य" (छा० ३।११।१) इत्यतः प्राक्तनेन कार्यविशेषवस्वाद्यवस्थस्य ब्रह्मण उपासनामुपदिश्यैतद्वाक्येन च कारणावस्थस्य ब्रह्मण एवोपास्यत्वमुपदिश्यते । तस्मादत्र कार्यकारणोभयावस्थब्रह्मोपासनमेव विधीयते । एवं "एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद" (छा० ३।११।३) इत्यनेन समम्राया मधुविद्याया ब्रह्मोपनिष-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्वश्रवणाद्ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्ततत्फलस्य श्रवणाच्चादित्यांशस्य विधीयमानमुपासनं ब्रह्मण एवेति निश्चीयते। तथा सति "तं देवा ज्योति"रित्यस्यापि सामञ्जस्यम्। तस्मादस्त्येव मध्वादिषु विद्यासु देवादीनामप्यधिकार इति सिद्धम्॥ १।३।३२॥

इति मध्वाधिकरणम्।

(*अथापशूद्राधिकरणम्।*)

उक्तं ह्येतन्मनुष्याणां देवादीनाञ्च ब्रह्मविद्यायामधिकार इति। इदानीं शूद्रस्यापि मनुष्यत्वाविशेषात्तस्याप्यधिकारः स्यान्न केवलं त्रैवर्णिकस्यैवेतीमां शंकामपाकर्तुमधिकरणमिदमारभ्यते।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि १।३।३३॥

यथा किलार्थित्वसामर्थ्ययोः सत्वात्त्रैवर्णिकानां मनुष्याणां देवादीनाञ्चाधिकारस्तथैव शूद्रस्याप्यधिकारो ब्रह्मविद्यायां स्यात्तस्यापि तत्सम्भवात्। किञ्च "तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" इति कर्मणि निषेधवत् "शूद्रो ब्रह्मविद्यायामनवक्लृप्तः" इति विशेषेण निषेधस्याश्रुतत्वात्। वेदाध्ययनसाध्याहवनीयाद्यभावेनाग्निसाध्यकर्मानधिकारेऽपि ब्रह्मोपासनस्य मनोमात्रनिर्वर्त्यत्वेन शूद्रस्यापि देवादिवदेवाधिकारस्य सम्भवात्। नचानधीतवेदान्तस्यानवगतोपासनक्रियाकलापस्य कथमुपासनेऽपि प्रवृत्तिरिति वाच्यम्। वेदान्ताद्यध्ययनाभावेऽपीतिहासपुराणश्रवणादिभिरप्युपासनावगतेस्तत्सामर्थ्यस्य सम्भवात्। इतिहासादिश्रवणन्तु शूद्रस्यापि सम्भवति। तथाच भारते "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" (शा..मो.) इति। अर्थित्वन्तु परमपुरुषार्थलक्षणनिरतिशयानन्दे

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मोक्षे कस्य नाम चेतनावतो न भवेत्। दृश्यतेऽपिचेतिहासपुराणेषु विदुरादीनां ब्रह्मनिष्ठत्वम्। एवं छान्दोग्यश्रुतावपि सवर्गविद्यायां ब्रह्मविद्याधिकारः शूद्रस्याप्यवगम्यते। "अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु" (छा० ४।२।३) इति जानश्रुतिं शूद्रशब्देनामन्त्र्य तम्प्रति ब्रह्मविद्योपदेशश्रवणाच्छूद्रस्यापि ब्रह्मविद्यायामधिकार इति प्राप्ते। अभिधीयते। न हि शूद्रस्योपनयनाभावेनानधीतवेदस्य वेदवाक्यविचारसाध्यब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति। उपासनस्य मनोमात्रनिर्वर्त्यत्वेऽप्यनधीतवेदस्य शूद्रस्य वेदवाक्यविचारैकलभ्यब्रह्मस्वरूपतदुपासनोपाययाथात्म्यज्ञानासम्भवेन शास्त्रीयसामर्थ्याभावात्। न चैवं सति देवानामप्यनधिकार इति वाच्यम्। तेषां स्वयं प्रभातवेदत्वान्न दोष इति ब्रूमः। ब्रह्मविद्यायाश्च "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३।९।२६) इत्युपनिषद्रूपवेदान्तभागैकगम्यत्वश्रवणात्। "नावेदविन्मनुते तम्बृहन्तम्" इत्याम्नायानधिगतवतो ब्रह्मयाथात्म्यज्ञाननिषेधाच्च। यत्तूक्तमितिहासपुराणश्रवणादिभिः सामर्थ्यं ब्रह्मविद्यायां भविष्यति शूद्राणाम्। तदपि न। इतिहासादेः श्रवणस्य केवलं दुरितनिवर्तकत्वेन ब्रह्मविषयकयथार्थज्ञानाजनकत्वात्। विदुरप्रभृतीनान्तु जन्मान्तरवासनया ज्ञानलाभाद्ब्रह्मनिष्ठत्वम्।

श्रीभगवद्गीताया ब्रह्मविद्यात्वेऽपि "इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यम्" (गी० १८।६७) इति तपोऽधिकाररहितं शूद्रम्प्रति तदुपदेशवर्जनात्।

य इदं परमं गुह्यं, मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैति न संशयः। गी० १८।६८।

इति भगवद्भक्तेषु तदभिधानत्वोपदेशाच्च। श्रुतावपि "अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु" आजहारेमाञ्शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः" (छा० ४।२।५) इतीदं गवादिरूपं धनं तवैवास्तु

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नापेक्षितमित्यर्थः। अनेनैव द्वारेण सेवनादिकमन्तरेण त्वद्वाञ्छितमिदं ब्रह्मोपदेशवाक्यमालापयिष्यसीतिभावः। अत्र शूद्रेत्यामन्त्रणमपि न चतुर्थवर्णाभिप्रायेण। किन्तु हंसोक्तात्मानादरश्रवणादस्य जानश्रुतेः शुग् संजाता। तदैव हंसकृतात्मानादरकाले रैक्मप्रत्याद्रवणात्। स च रैक्र्षिस्तस्याद्रवणं शोकेनाभूदिति स्वयोगबलेनावगम्य तदेव हेतूकृत्य स्वसर्वज्ञत्वज्ञापनाय शूद्रेत्यामन्त्रितवान् न चातुर्थिकवर्णतयेति स्पष्टमेवावगम्यते। तस्मै "वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति" (छा० ४।३।१) इत्यादिकमुपदिदेश। यतः शोकेन जानश्रुतीरैक्मप्रति दुद्राव तत एव शूद्रइति तेनोक्तं न चतुर्थवर्णापेक्षयेति ॥१।३।३३॥

क्षत्रियत्वावगतेश्च १।३।३४।

इतश्च न जानश्रुतिर्जातिशूद्रः। कुतः ? उपक्रमवाक्य एव क्षत्रियत्वावगतेः। "जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस" (छा. ४।१।१।) इत्युपक्रम एव श्रद्धादायित्वबहुपक्कान्नदायित्वबहुवासस्थानकारित्वसर्वदिग्भोजनप्रदत्वादिना क्षत्रियत्वावगमात्। 'दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्' (गी०) इति दानस्य स्वाभाविकक्षत्रियकर्मत्वस्मृतेः ॥१।३।३४॥

तत्रैव हेत्वन्तरमाह—

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥१।३।३५॥

जानश्रुतिः क्षत्रिय एव। कुतः ? उत्तरत्र संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथेन प्रसिद्धक्षत्रियेणाभिप्रतारिसंज्ञकेन सह समभिव्याहारात्सकलिङ्गात्। प्रायेण सहचारः सजातीयानामेव भवतीतिभावः। संवर्गविद्यावसाने श्रूयते—"अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे" (छ. ४।५।३।) इति। अत्राभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं कापेयसाहचर्य्यादवगम्यते।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कापेय योगश्चोपात्तवाक्येभिलक्ष्यत एव। एवं "एतेन वै चित्ररथ कापेया अयाजयन्" (ताण्ड्यब्रा. २०।१२।५) इत्यस्याञ्च श्रुतौ कापेयानां चित्ररथपुरोहितत्वं प्रसिद्धम्। एतेन द्विरात्रेणेत्यर्थः प्रायेण समानान्वया एव समानान्वयानां याजका भवन्तीति कापेयस्य चित्ररथपुरोहितस्य संयोगादभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वमवगम्यते भवत्वभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वेऽपि कथं क्षत्रियत्वमितिचेत्तदुच्यते "तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत" (शतपथ. ११।५।३।१३ इति श्रुतौ तत्क्षत्रियत्वस्य प्रसिद्धत्वात्। तदेवमभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वे निश्चिते तेन सह समानविद्यायां पठितत्वरूपलिङ्गाज्जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वमिति सिद्धम् ॥१।३।३५॥

इतोऽपि न जातिशूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामधिकार इत्याह—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।१।३।३६।

पूर्वत्रासामर्थ्यान्नाधिकारो ब्रह्मविद्यायामिति युक्त्यादिभिस्सिद्धमर्थितमिदानीन्तु ब्रह्मविद्याङ्गोपनयनाभावान्न तत्राधिकार इत्युच्यते "तं होपनिन्ये" (आ० श्रौ०) "उप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय" (छा० ४।४।५) इत्येवमादिषु विद्याङ्गोपनयनादि संस्कारपरामर्शात्। "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति" (मनु० १०।१२६) "शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हति" (गौत० १० अ० ९ सू०) इत्यादिना तदभावाभिलापाच्चोपनयनादि संस्काराभावाभिलापात्कथनाच्चेत्यर्थः। शूद्रे पातकं नास्ति। एकजातिरुपनयनरहिता। उपनीता द्विजातय उच्यन्ते ॥१।३।३६॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः १।३।३७।

तस्य शूद्रत्वस्याभावनिर्धारणे सत्येव जाबालम्प्रति गौतमस्य विद्योपदेशप्रवृत्तेश्च "नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहर

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पत्वा नेष्ये" (छा० ४।४।५) इति न शूद्रस्य विद्यायामधिकारः ॥१।३।३७॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ।१।३।३८।

शूद्रस्य वेदश्रवणतदध्ययनतदर्थज्ञानतदनुष्ठानप्रतिषेधान्नाधिकारः। तत्र श्रवणप्रतिषेधः—"अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः" (गौतमस्मृ० २।१२।३) इति। अध्ययनप्रतिषेधोऽपि "पद्भ्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यमि" ति। "न शूद्राय मतिं दद्यात्" "न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्" (मनुस्मृ० ४।८०) इत्यर्थज्ञानप्रतिषेधः। एवं "द्विजातीनामध्ययनमिज्यादान" मित्यनेन तदर्थानुष्ठानस्यापि प्रतिषेधात्। दानशब्दोत्र नित्यदानपरो नैमित्तिकदाने शूद्रस्याप्यधिकारः। विदुरधर्मव्याधादीनान्तु पूर्वजन्मानुष्ठितश्रवणादिना गर्भस्थवामदेववज्ज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञातव्या। तस्मान्नाधिकारो शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामिति सिद्धम् ॥ १।३।३८॥

(इत्यपशूद्राधिकरणम् ।)

(अथ कम्पनाधिकरणम् ।)

कम्पनात् ।१।३।३९।

एवं प्रासङ्गिकमधिकारविचारं परिसमाप्य प्रकृतमेव वाक्यार्थविचारं प्रवर्तयति। तत्र काठके श्रूयते—"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (का० २।३।२) इति। तत्र संशयः। किं प्राणशब्देन मुख्यः प्राण उच्यत आहोस्विज्जगत्कारणं ब्रह्मेति। किं युक्तम्? मुख्य प्राण एव। कुतः? प्राणश्रुतिबलात्। अत्राभिधीयते। अस्मि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न्वाक्ये परमात्माऽसाधारणलिङ्गानां सर्वचेष्टाहेतुत्वसर्वोत्पादकत्व
वाय्वादिभयजनकत्वमोक्षप्रदत्त्वादीनां श्रवणात्प्राणशब्दाभिहि
परमात्मैव । कुतः ? कम्पनात् । मुख्यप्राणादिसहितस्य कृत्स्नस्य
जगतः कम्पनात् । जीवनादिचेष्टाहेतुत्वात् । "यस्य प्राणः शरीरम्
(बृ० ३।७।१५) इति श्रुतिः शरीरिणः परमात्मन आयत्ताश्शरीर
रूपप्राणस्य स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीराह । तथा "प्राणस्य प्राणम्" (बृ
४।४।१८) श्रुतिर्मुख्यप्राणस्यापि प्राणम्ब्रह्मेति वदति । एवं "न
प्राणेन नाप्राणेन मर्त्यो जीवति कश्चनः । इतरेण तु जीवन्ति यस्मि
न्नेतावुपाश्रितौ" (का० २।४।५) इति प्राणापानयोः सर्वजगच्चेष्ट
हेतुत्वम्प्रतिषिध्य परमात्मन एव तदिति स्पष्टमभिहितम् । किञ्चास्
वाक्यस्य पूर्वं "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृत मुच्यते । तस्मिँल्लोका
श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत्" (का० २।६।१) इति
मन्त्रे ब्रह्मपदश्रवणादत्र प्राणपदाभिहितः परमात्मैव । उत्तरत्रापि
"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्यु
र्धावति पञ्चमः" (का० २।६।३) इति श्रूयते । अस्य ब्रह्मणो भया
दग्न्यादयः स्वस्वव्यापारे नियमेनानुवर्तन्ते राज्ञो भयाद्भृत्यादयो
यथा । तथा च कम्पनवाक्यपूर्वोत्तरवाक्ययोर्ब्रह्मपरत्त्वदर्शनात्तयो
र्मध्यगतस्यापि संदंशपतितन्यायेन ब्रह्मपरत्त्वमभ्युपेयम् । तस्मात्
तद्वाक्यं जगत्कारणोपास्यब्रह्मपरमिति सिद्धम् ॥१।३।३९॥

(इति कम्पनाधिकरणम् ।)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(अथ ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।)

ज्योतिर्दर्शनात् ।१।३।४०।

छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यायां श्रूयते–"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" (छा० ८।१२।३) इत्यादि । तत्र संशयः । किमत्र ज्योतिःशब्देन सूर्यादितेज उच्यत आहोस्विद्ब्रह्मेति । किं युक्तम् ? सूर्यादितेज एव प्रसिद्धत्वात् । अत्राभिधीयते । परमात्मैव ज्योतिःशब्दाभिहितः । कुतः ? दर्शनात् । उपक्रमवाक्ये "एष आत्माऽपहतपाप्मा" (छा० ८।७।१) इति ब्रह्मणःश्रवणात् । प्रकृतवाक्येऽपि "परं ज्योतिः" इति ज्योतिषः परत्वं "उत्तमः पुरुषः" इति च पुरुषोत्तमत्वं परमात्मन एव सम्भवति । "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (का० २।५।१५) इति श्रुत्या सूर्यचन्द्रादीनामपि स एव प्रकाशक इति तस्यैव परज्योतिःस्वरूपत्वम् । एवं "अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते" (छा० ३।१३।७) "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ० ६।४।१६) इत्येवमादिषु ब्रह्मण एव ज्योतिःशब्दवाच्यत्वदर्शनादिति । तस्मादत्र ज्योतिःपदेनाऽभिधेयस्ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥१।३।४०॥

(इति ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(*अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम्* ।)

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।१।३।४१।

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृ स आत्मा" (छा० ८।१०।१) इतिछान्दोग्ये समाम्नायते। त सन्देहः। किमत्राकाशपदाभिधेयो भूताकाश उत मुक्तात्मा, आहो स्वित्परमात्मेति। किं युक्तम् ? रूढ्या भूताकाशः। नामरूपयो निर्वहणमपि तस्यावकाशदानेन सम्भवत्येव। मुक्तात्मा वा स्यात् कुतः ? "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमु धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ८ १३।१) इति पूर्वं मुक्तात्मन एव प्रकृतत्वात्। तस्यैव च नामरू विनिर्मुक्तस्य "ते यदन्तरा" इत्यभिहितत्वात्। पूर्वावस्थायां नाम रूपनिर्वहणमपि तस्य सम्भवत्येवेति प्राप्तेऽभिधीयते। आकाशो ऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादिति । आकाशः परमात्मा । कुतः "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" (छा० ८।१४।१) "ते यद न्तरा" "तद्ब्रह्म" इत्यादि निर्देशादस्याकाशस्य नामरूपभिन्नत्वा न्तरत्वव्यपदेशात् । नामरूपभिन्नत्वेन ब्रह्मत्वव्यपदेशाच्च। नामरूपान्तःपातिनो भूताकाशस्य नामरूपार्थान्तरत्वमुपपद्यते तथा "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" (बृ० १।४।७) "अनेन जीवेन त्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।३) इत्यादिश्रु निर्दिष्टस्य परमात्मनिष्ठनामरूपनिर्वोढृत्वरूपस्य जगद्व्यापार "जगद्व्यापारवर्ज्ज" मिति मुक्तानां प्रतिषेधात्। बद्धानान्तु कर्मपरवशानां नामरूपभजमानत्वान्नात्राकाशपदबोद्धव्यं भू काशस्य, नापि बद्धमुक्तोभयावस्थस्य प्रत्यगात्मनस्सम्भवति। अ तु तन्निर्वोढृत्वं परमात्मन एव। यदुक्तं "अश्व इव रोमाणी श्रुत्यनन्तरमस्य वाक्यस्योक्तत्वादत्र मुक्तात्मैवाकाशपदग्राह्य इति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तन्न, ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीति ब्रह्मलोकपदवाच्यपरब्रह्मणोऽनन्तरमेवाभिहितत्वात्। आदिशब्देन "तद्ब्रह्म" "तदमृत" मित्याद्युक्तो ब्रह्मत्वादिव्यपदेशो ज्ञेय इति ॥१।३।४१॥

"नन्वयमात्मा ब्रह्म" "तत्वमसि" "नेह नानास्ति किञ्चने" त्येवमादिभिः श्रुतिभिर्जीवपरमात्मनोरैक्योपदेशान्नानात्वनिषेधेन द्वैतप्रतिषेधान्न जीवादर्थान्तरभूतः परमात्मेत्याशङ्क्याह—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।१।३।४२।

व्यपदेशादित्येकदेशोऽनुवर्तते। सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः प्रत्यगात्मनोर्भेदेनार्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशाद् भिन्न एव प्रत्यगात्मनः परमात्मा। तथा चाम्नायते "कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य "तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्" (बृ० ४।३।२१) इत्यनेन वाक्येन सुषुप्तौ प्रत्यगात्मनो भेदेनार्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात्। एवमुत्क्रान्तावपि श्रूयते "एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढमुत्सर्जन्याति" (बृ० ४।३।३५) इति। अत्रापि प्रत्यगात्मनो भेदेनार्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात्। तस्मात्प्रत्यगात्मनो भिन्नोऽर्थान्तरभूत एव परमात्मा ॥१।३।४२॥

पत्यादिशब्देभ्यः ।१।३।४३।

इतः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मा। यत उपसंहारवाक्ये "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः" (बृ० ४।४।२२) इति श्रूयते। एतेभ्यः पत्यादिशब्देभ्यश्चायं परमात्मा प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूत एव। न हि सर्वाधि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पतित्वादयः परमात्मासाधारणधर्मा मुक्तावस्थेऽपि प्रत्यगात्मनि सम्भवन्ति। अतो मुक्तात्मनोऽप्यर्थान्तरभूतः परमात्माकाश इति सिद्धम् ॥ १।३।४३ ॥

इत्यर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकविन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे प्रथमाध्यायस्य
तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

(अथानुमानिकाधिकरणम् ।)

एवं त्रैपादिकेन ग्रन्थेनाखिलहेयप्रत्यनीकं जगज्जन्मादिकारणमचिद्वस्तुनः प्रधानादेर्बद्धमुक्तादिरूपचेतनाच्च विलक्षणं सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसङ्कल्पं समस्तकल्याणगुणात्मकं सर्वान्तरात्मभूतं निरङ्कुशैश्वर्यं ब्रह्मैवोपेयं सत्तदनुभवलक्षणविलक्षणमोक्षोपायतयाभिहितम् ।

तत्र जगत्कारणत्वस्य प्रधानेतिव्याप्तिमाशङ्क्य निरस्तमीक्षतेर्नाशब्दमित्यनेन । इदानीं त्वशब्दत्वमवलम्ब्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते कासुचिच्छाखासु तत्परशब्दानामपि दर्शनादित्याशङ्क्य तेषां शब्दानामन्यपरत्वप्रतिपादनार्थमस्य पादस्यारम्भः ।

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।१।४।१ ।

आनुमानिकमनुमानगम्यं प्रधानमप्येकेषां कठानां शाखायां—"महतः परमव्यक्तम्" (का० १।३।११) इत्यव्यक्तशब्देनोच्यते । इति चेन्न । कुतः ? शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । पूर्ववाक्ये रथिरथसारथ्यादिरूपकत्वेन विन्यस्तेषु कल्पितेषु रथत्वेन विन्यस्तस्य कल्पितस्य शरीरस्यात्राव्यक्तशब्देन गृहीतेर्ग्रहणादित्यर्थः । शरीरमेव रूपकेण रथरूपेण विन्यस्तं शरीररूपकविन्यस्तं तस्य गृहीतेर्ग्रहणादित्यर्थः । कथमव्यक्तशब्दस्य रथरूपकशरीरपरत्वमवगम्यत इत्याशङ्क्याह—दर्शयति च ज्ञापयति च ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ का० १।३।१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥का०।१।३।११।
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । काठ० १।३।३।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः । का० १।३।४।
यस्तुविज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते । का० १।३।८।
विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् । का० १।३।९।

इति वचनैर्जितेन्द्रियस्य विष्णुपरमपदप्राप्तिमुक्त्वा तमेव जि
न्द्रियपुरुषप्राप्यभूतमिन्द्रियाद्यव्यक्तान्तेभ्यः परं सर्वान्तरात्मभू
विष्णुपरमपदशब्दाभिहितं पुरुषं दर्शयति । "इन्द्रियेभ्यः प
ह्यर्थाः" इत्यारभ्य "पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागति
रित्यन्तेन । आत्मानमित्यादेरर्थः । भोक्तृत्वेन प्राधान्यादात्म
रथित्वं रथस्वामित्वमुक्तं स्थूलशरीरस्य भोगस्थानतया गौणत्वे
रथसमत्वमुक्तं विवेकाविवेकवृत्तिभ्यां बुद्धिरेव शरीरेन्द्रियाद्य
भोक्तारमात्मानं सुखे दुःखे वोपनयतीति बुद्धेः सारथित्वम् । द
मनसा प्रग्रहेणाश्वरशनास्थानीयेन युक्तानि हयरूपाणीन्द्रियाणि
तेष्विति तेषामिन्द्रियाणां गोचरान् शब्दादिविषयान्प्रतिधावति
तदन्ते मनोऽपि तान्धावति । "इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु
विधीयते । तदस्य हरतिप्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि" (गी. २।६
इति स्मृतेः । एवमजितेन्द्रियस्य संसरणं "यस्त्वविज्ञानवान्भवती
त्यभिधाय जितेन्द्रियस्य वैष्णवपदप्राप्तिर्विज्ञानसारथिर्यस्त्वित्यु
नाभिहिता । तथाभूतस्य वैष्णवपदस्य सर्वोत्कृष्टत्वद्योतनायै "हि

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

येभ्यः परा ह्यर्था" इति च प्रोच्यते। तत्र यद्यप्यन्तरङ्गत्वादिन्द्रियाणामर्थापेक्षया परत्वं तथापीन्द्रियाणां ग्रहत्वं शब्दाद्यर्थानान्त्वतिग्रहत्वं बृहदारण्यके याज्ञवल्क्यार्तभागसंवादेऽभिहितम्। तस्मादतिग्रहत्त्वेनार्थानां प्राधान्यमुच्यते "परा ह्यर्था" इति। मनसः सर्वेन्द्रियार्थव्यवहारमूलत्वादर्थेभ्यः परत्वम्। यतो निश्चयात्मकबुद्धिद्वारा विषया भोक्तुरुपकुर्वन्ति न तु संशयात्मकमनो द्वारा। तस्मान्मनसः बुद्धेः परत्त्वम्। तथा पूर्वं रथित्वेन भोक्तृत्वेन चोक्तस्यात्मनश्च भोगोपकरणभूताया बुद्धेः परत्वं भोगोपकरणस्य भोक्तृपारतन्त्र्याद्बुद्धयादेः स्वामित्वाच्चात्मन एव परत्वमुक्तम्। बुद्धयादेरव्यक्षत्वादेवात्मनो महत्वमुक्तम्। मह्यते पूज्यते बुद्धयादिभिः शब्दादिविषयप्रापणद्वारेति महानात्मा। नतु महत्परिमाणाश्रयतयेति बोद्धयम्। एवमात्मनोऽपि भोगसम्पादनाय भोगायतनस्याव्यक्तपदाभिधेयस्य शरीरस्य प्रयोजनमस्त्येवेति ततोऽपि परतया रथरूपितं शरीरमुक्तम्। ततोऽपि च सर्वान्तर्यामितया सर्वनियन्तृत्वेन मुमुक्षूपायोपेयस्वरूपत्वेन चाध्वनः पारभूतस्य परमपुरुषस्य परत्वम्। एवञ्च परमपुरुषसङ्कल्पायत्तस्थितिप्रवृत्तित्त्वात्समस्तस्य यथोक्तस्येन्द्रियाद्यव्यक्तान्तस्येति तदपेक्षयाऽकिञ्चित्करत्वम्। अतः "सा काष्ठा सा परागति" रित्युक्तम्। परमात्मन एव परत्त्वं श्रुत्यन्तरेऽप्यभिहितम्। "तमः परे देव एकीभवन्ति" (सुबाल) इति। प्रलये तस्मिन्नेवपरस्मिँल्लय उक्तः। तथा सर्गादौ जगत्सिसृक्षया "तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इति संकल्प्य "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।२) इति च पुनः संकल्प्य सर्वस्य नामरूपे व्याकृत्य स एव सर्वान्पालयति संहरति चेत्यतः सृष्टिस्थितिप्रलयान्तर्गतस्य सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां परमपुरुषाधीनत्वावगमात्। तथा च मुमुक्षुः सर्वेन्द्रि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

याणि संयम्य तमेवैकं स्वान्तर्यामिणं परमपुरुषं चिन्तयन्नक्षर पारं विष्णुपरमपदपदाभिधेयं प्राप्नोतीत्यभिधीयते "सोध्वन पारमाप्नोती" त्यन्तैर्वाक्यैरिति। दर्शयति च तदनन्तरम्—

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (का. १।३।१२ इति विशुद्धया सूक्ष्मया बुद्धया तस्य दृश्यत्वमुपदिश्य बुद्धेः सूक्ष्म त्वोपायभूतमिन्द्रियवशीकरणप्रकारमाह—

"यच्छेद्वाङ्मनसोप्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि"। का १।३।१३।

इत्यादिना। वाक्छब्दे द्वितीयायाः सुपां सुलुगिति लुक्। मनसीति सप्तम्यैकवचनम्। दीर्घश्छान्दसः। तथा चायमर्थः। वाक् छब्दोपलक्षितानि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च मनसि नियच्छेत् तन्मनो बुद्धौ। ज्ञानञ्चात्र बुद्धिः। "बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि" इति पूर्वं बुद्धेः सारथित्वमुक्त्वा "विज्ञानसारथिर्यस्तु" इतिबुद्धेरेवविज्ञा नपदेनोक्तत्वात्। ज्ञानं बुद्धिकर्तरि महत्यात्मनि नियच्छेत् तदिति लिङ्गव्यत्ययेन, तत्कर्तारं महान्तमात्मानं शान्त आत्मनि परस्मिन्पु रुष प्रकरणोपात्त एव नियच्छेत्। एवं भूतया सारथिरूपया सूक्ष्मया बुद्धया वैष्णवं परमपदं पुरुषमन्तर्यामिणं गोचरीकृत्य तम्प्राप्नुयादिति भावः। तथा चात्र कपिलकल्पितं प्रधानं न प्रतिपाद्यते पूर्वापरस न्दर्भविरुद्धत्वादिति ॥१।४।१॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्। १।४।२।

अव्यक्तपदेन प्रत्यक्षतोऽतिव्यक्तस्य शरीरस्य कथं ग्रहणमित्यत्र आह सूक्ष्मन्विति। तुशब्दः शंकानिवर्तकः। स्थूलशरीरारम्भक भूतकारणं भूतसूक्ष्ममव्याकृतमेव शरीरावस्थमव्यक्तशब्देनाभिधीय यते ॥१।४।२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तदधीनत्वादर्थवत् ।१।४।३।

नन्वव्याकृतस्यैव सांख्यैः प्रधानत्वाङ्गीकारादव्यक्तशब्देन तस्यैव स्वीकारे प्रधानकारणत्वापत्तिः। "अव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चिदि"ति पुरुषायत्तमव्यक्तस्येति कथं सङ्गच्छेतेतिचेत्। नैवम्। "यस्य पृथिवी शरीरम्" "यस्य विज्ञानं शरीरम्" (बृ. ३।७।३।२२) "यस्याव्यक्तं शरीरम्" (सुबाल० ७ खं.) इत्येवमाद्याभिः श्रुतिभिरव्यक्तादेः सर्वचराचरस्य जगतः परमपुरुषपरमकारणान्तर्यामिशरीरत्वतन्नियम्यत्वाभिधानात्। न परपरिकल्पितस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वम्। "तदैक्षत बहुस्यामि" ति तदीक्षयैवाकाशादिजगदुत्पत्तेः श्रवणात्परमपुरुषशरीरत्वेन च तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तयः प्रधानादयस्तदिच्छानुसारेणैव तत्तत्कार्यं कुर्वन्तीति न प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वम्। अतस्तस्य स्वतन्त्रकारणत्वानुपपत्तेर्न सांख्याभीष्टप्रधानस्वतन्त्रकारणत्ववादापत्तिः। परमपुरुषायत्ताव्यक्तात्तु जगदुत्पत्तिरिष्यत एव। तथा च श्रुतिस्मृतयः।

"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्"।
मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत। गी० १४।३।
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। गी० ७।४।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। गी० ७।६।
मत्तः परतरं नास्ति किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। गी० ७।७।

इत्यादिवचनैः परमात्मानमेवाभिन्ननिमित्तोपादनकारणत्वमाहुः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अव्यक्तादीनां परमपुरुषाधीनत्वादेव जगत्कारणत्वेनार्थवत्त्वमिति १।४।३ ॥

इतश्च नानुमानिकं प्रधानमव्यक्तशब्देनाभिधीयते ।

ज्ञेयत्वावचनाच्च । १।४।४ ।

"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानाद्धि कैवल्यमिति सांख्यमतम् । सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमन्तरेण न पुरुषस्य कैवल्यं शक्यं विज्ञातुमिति ज्ञेयत्वं तेषां सिद्ध्यति । अस्मिन् प्रकरणे तु ज्ञेयत्वमव्यक्तस्य नोक्तम् अव्यक्तशब्दमात्रमत्र पठ्यते । तस्मान्न तान्त्रिकस्याव्यक्तस्य ग्रहणमिति ॥ १।४।४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् । १।४।५ ।

ननु कापिलमेवाव्यक्तमत्र ज्ञेयत्वेन श्रुतिर्वदति "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (का० १।३।१५) इति अत्र शब्दादिहीनमेव प्रधानं निचाय्यतया निरूपितं तथाचात्रैव ज्ञेयत्वेन कथनमिति चेन्न । प्राज्ञः परमपुरुषो ह्येवात्र निचाय्यतया नाभिधीयते । कुतः ? प्रकरणात् । प्राज्ञस्य परमात्मन एवेदं प्रकरणम् "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" (का० १।३।९) "पुरुषान्न परं किञ्चित्" (का० १।३।११) इति परमात्मनः परत्वमुपपाद्य "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते" (का० १।३।१२) इति पूर्वार्धेन दुर्ज्ञेयत्वं विनिर्दिश्य "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि" रित्युत्तरार्धेन प्रकृतस्य तस्यैव सूक्ष्मधीवेद्यत्वं प्रतिपादितम् । परमात्मनोऽपि "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" (मु० १।६) इत्यन्यत्राहृश्यत्वादयोधर्मा अभीक्ष्णोपासनादिना मलीकृतान्तःकरणेन दृश्यतया प्रतिपादिता इति सर्वं समञ्जसम् १।४।५ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च । १।४।६ ।

इतोऽपि न सांख्यतन्त्राभिमतं प्रधानमत्राव्यक्तशब्देन प्रतिपाद्यते । यस्मादत्र प्रकरणे पितृसुमनस्कत्वोपायोपेयानां त्रयाणामेवोपन्यास ज्ञेयत्वेन श्रूयते तद्विषयकः प्रश्नश्च । न प्रधानविषयकः । अतो न प्रधानमव्यक्तशब्दवाच्यं सांख्यमतसिद्धम् ।

तत्र नचिकेता मृत्योः प्राप्तव्ये वरत्रये प्रथमवरेणात्मनः पुरुषार्थयोग्यतां पितुः सुमनस्कत्वादिरूपां द्वितीयेन मोक्षसाधनीभूतामग्निविद्यां तृतीयेन च मोक्षस्वरूपमुद्दिश्योपेयोपायस्वरूपं ययाचे । तथा हि—नचिकेता नामर्षिकुमारोतिथिरूपेणानश्नन्नेव तिस्रो रात्रीर्यावन्मृत्युगृहेऽवात्सीत् । ततस्तुष्टो मृत्युस्तमाह—"त्रीन्वरान् वृणीष्वे" ति । ततः "शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे" (का० १।१।१०) इति पितुः परितोषणं प्रथमं वृत्त्वा द्वितीयेन वरेण मोक्षसाधनभूतां नाचिकेताग्निविद्यां वव्रे । "स्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण" (का० १।१।१३) इति । अत्र "स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं जरया बिभेति" (का० १।१।१२) इति स्वर्गस्थस्य भयजराशनापिपासरहितत्वविगतशोकत्वादिश्रवणात् स्वर्गशब्देन परमपुरुषार्थो मोक्षोभिधीयते । "अमृतत्वं भजन्त" इति तत्र स्थितस्यामृतत्वश्रवणाच्च । अस्यैव च प्रतिवचनम् "त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू" (का० १।१।१७) इत्यादिना कृतम् । "शान्तिमत्यन्तमेती" त्यन्तशान्तिश्च मोक्षावस्थायामेवेति निश्चयः ।

एवं तृतीयेन वरेण मोक्षस्वरूपावगमपूर्वकमुपेयस्वरूपमुपायस्वरूपं तद्भटकोपासनास्वरूपञ्च वृतम् "येयं प्रेते विचिकित्सा मनु-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वरा
णामेष वरस्तृतीयः" (का० १।१।२०) इति मोक्षस्वरूपे पृष्टे तद्वि
ज्ञासायां तस्य दार्ढ्यमवगत्यात एव तम्प्रशंस्योपदिदेश। "तं दुर्दृ
गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमे
देवं मत्त्वा धीरो हर्षशोको जहाति" (का० १।२।१२) इत्येवं नचि
केता धीर उपासक आत्मानमधिकृत्य वर्तते यो योगः स अध्यात्म
योगः परमात्मैकचिन्तनरूपस्तदधिगमेन तल्लाभेनेत्युपासनमुक्तं तेन
देवमुपास्यं प्राप्यं मत्त्वा हर्षशोकौ जहाति हर्षशोकरहितत्वेन मुक्त
भवतीत्यर्थः। तदेवं नचिकेता उपास्यमुपेयं देवं तत्प्राप्त्युपा
तदुपासनञ्च सामान्येन श्रुत्त्वा विशेषतस्तज्ज्ञानाय भूयः पृ
"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूत
भव्याच्च यत्तत्पश्यति तद्वद" (का० १।२।१४) इति। एवं भूतमि
ष्यत्साध्यसाधनादिविलक्षणे पृष्टे प्रागुपायस्वरूपमेव पुनः कथ
मास "सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ती" त्यारभ्य "एतदालम्बनं ज्ञात्वा
ब्रह्मलोके महीयते" (का० १।२।१७) इत्यन्तेन श्लोकद्वयेन प्रणवोपा
सनस्योपायत्वात्तम्प्रशंस्यानन्तरमुपासकस्य प्रत्यगात्मनःस्वरूप
"न जायते म्रियते वा विपश्चिदि" त्यादि श्लोकद्वयेनोपदिष्टम्। इदञ्च
श्लोकद्वयं जीवस्वरूपपरमेव "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इति तत्
हन्यमानप्राकृतशरीरसम्बन्धित्वनिर्देशात्। "उभौ तौ न विजानीत
इति तस्याज्ञत्वोक्तेश्च। अनन्तरं "अणोरणीयान्महतो महीयानि
त्यारभ्य "क इत्था वेद यत्र स" इत्यन्तेन प्राप्यस्य परस्य ब्रह्मण
परमपुरुषस्य स्वरूपमुपदिशन् तदनन्यभक्त्यैवेदृशं स्वरूपं सुम
ध्यमिति तस्या अनन्योपायताप्रदर्शनार्थं मध्य एवोपासनापरपर्या
यभक्तेः स्वरूपमाह। ततश्च "आत्मानं रथिनं विद्धी" त्यारभ्य "दुर्ग
पथस्तत्कवयो वदन्ती" त्यन्तेनोपासनप्रकारमभिदधत् "निचाय्य
तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (का० १।३।१५) इत्यन्तवाक्येन फलनिर्देश

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पूर्वकमुपसञ्जहार । एवञ्चास्मिन् प्रकरणे त्रयाणामेव ज्ञेयत्वेनोपन्यासः प्रश्नश्चोपलभ्यते । न ह्यत्र सांख्यतन्त्राभिमतस्याव्यक्तस्य ग्रहणम् ॥१।४।६॥

महद्वच्च ॥१।४।७॥

अत्र सांख्यसिद्धं बुद्धितत्त्वम्पृथक्कृत्य ततोप्यात्मनः परत्त्वमभिहितम् "बुद्धेरात्मा महान्परः" (का० १।३।१०) इत्यनेन तथा "ज्ञानमात्मनि महति" (का० १।३।१३) इत्यनेनापि ज्ञानपदाभिधेयबुद्धेरात्मनो महतः पृथङ्निर्देशः । तथा चेह श्रुतस्य महच्छब्दस्यात्मशब्दसामानाधिकरण्यादात्मपरत्वमेवेष्टव्यम् । न तान्त्रिकमहत्तत्त्वपरम् । तथाऽव्यक्तमपि नाऽप्रसङ्गिकप्रधानपरमपि तु रथरूपकशरीरपरमेवेति नानुमानिकप्रधानस्य जगत्कारणत्वं किन्तु परमपुरुषस्यैव तदिति सिद्धम् ॥१।४।७॥

इत्यानुमानिकाधिकरणम् । १ ।

(अथ चमसाधिकरणम् ।)

चमसवदविशेषात् ॥१।४।८॥

श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णांबह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वे० ४।५) इति । तत्र संशयः । किमत्राप्यजाशब्देन सांख्योक्तं स्वातन्त्र्येण प्रधानमुच्यत आहोस्विद् ब्रह्मात्मकमिति । किं युक्तम् ? सांख्याभिमतं केवलं प्रधानम् । कुतः ? अजामिति तस्याजाततयानित्यत्वेनान्यकार्यत्वाऽनुपपत्तेः । लोहितशुक्लकृष्णामिति रजःसत्वतमोगुणात्मकस्य तस्य सरूपाः समानरूपा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रजःसत्त्वतमोरूपाः प्रजाः सृजमानामितिस्वातन्त्र्येण स्वसमानसर्वप्रजास्रष्टृत्वश्रवणाच्चेत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते ।

चमसवदविशेषादिति । यथा "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न (बृ० ४।२।३) इति मन्त्रोक्तश्चमसशब्दः कस्य पदार्थविशेषस्य वाचक इति न निश्चयो भवति । यथा "इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" (बृ० ४।२।३) इति वाक्यशेषाच्चमसशब्दः शिरो वाचक इति निर्णयो भवति । तथा न जायत इत्यजेति यौगिकत्वेनाजेतिसामान्यशब्दः सांख्याभिमतं प्रधानं वदति ब्रह्मात्मनाम्प्रकृतिं वेति न निश्चीयते । परन्तु "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वे० ६।३) इत्युपक्रमवाक्यात् "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" (श्वे० ४।९) इत्यादिवाक्यशेषाच्चाजाशब्देन ब्रह्मशक्तिभूता ब्रह्मात्मिका प्रकृतिरभिधीयते इत्येतच्च प्रकरणादिभ्य एवावगम्यते । तस्मादत्र मन्त्रेऽजाशब्देन सांख्यमतसिद्धं प्रधानमभिधीयते ॥ १।४।८ ॥

परमात्मशरीरभूता प्रकृतिरेव प्रकृतेऽजाशब्देन गृह्यत इत्यन्तरेणापि द्रढयति—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥१।४।९॥

तु शब्दोऽवधारणार्थकः । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) इत्यत्र सच्छब्दवाच्यं ज्योतिः स्वप्रकाशं ब्रह्मैव "तेषां ज्योतिः" (बृ० ६।४।१६) "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" (छा० ३।१३।७) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः । तदेव चोपादिकारणं यस्या लोहितशुक्लकृष्णरूपाया अजायाः सा ज्योतिरुपक्रमा ब्रह्मशक्तिभूता "देवात्मशक्ति"मिति श्रुतेर्ब्रह्मकारिणी लोहितादिरूपैवेहाजा निर्द्धारणीया न सांख्याभिमतं स्वतन्त्रं प्रधानम् । तथा ह्यधीयत एके । हि यस्मादेके छन्दोगा यथाऽस्या लोहितशुक्लकृष्णरूपत्वादिकं प्रकृते "अजामेकामि"ति मन्त्रेऽधीयते

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तथा लोहितादिरूपत्वादिकं तस्या ब्रह्मकारणिकाया मायाया अधीयन्ते। मायिना सदाख्येन ब्रह्मणा च तस्याः सकाशादेव सृष्टिर्वितन्यत इत्यपि। तथा हि—"तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेय" इत्युपक्रम्य तेजोऽबन्नानां कारणभूतायास्तस्या लोहितादिरूपाया भौतिककार्यप्रकृतिभूतायाः स्फुटमधीयते। "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" (छा० ६।४।१) इत्यत्र कार्येषु लोहितादिरूपावाग्निः कारणावस्थायास्तथात्व एवेति ब्रह्मात्मिका शक्तिरेवात्र प्रतिपाद्यते। तथा प्रकृतेऽपि "किं कारणं ब्रह्म" (श्वे० १।१) इत्युपक्रम्य "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वे० १।३) इति जगदुत्पत्तौ किमुपकरणवद्ब्रह्मेति विमृश्य ते ब्रह्मवादिनो ध्यानाख्येन योगेनानुगताः परमात्मानमनुप्रविष्टास्सन्तस्तस्यैव देवस्यात्मभूतामैक्येन स्थितां मायाशक्तिं सत्व रजस्तमोगुणत्रयवतीं परमात्मनो जगन्निर्माणे सहकारिणीमपश्यन्निति परमात्मशक्तेरजाशब्दाभिहिताया जगत्कारणत्वेनोक्ताया परमात्मशक्तित्वेन तदात्मकत्वं तदधीनतत्स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकत्वञ्च निर्दिश्य वाक्यशेषे "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" (श्वे० ४।९) "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" (श्वे० ४।१०) इति परमात्मनो मायित्वेन मायाशीलत्वावगमात्। एवञ्च तस्या एव मायायाः प्रकृतिशब्दाभिहिताया परमात्मशक्तेः "अजामेकामि" ति मन्त्रेणाभिधानात्। न हि परमन्त्रसिद्धं केवलं प्रधानमत्र जगत्कारणतया प्रतिपाद्यते ॥१।४।९॥

नन्वजाया ज्योतिरुपक्रमात्वे ब्रह्मकार्यत्वात्तस्या ह्यजात्वमेव स्यादित्याह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१।४।१०॥

चशब्दः शङ्कापरिहारार्थः। परमात्मायत्तप्रकृतेर्ज्योतिरुपक्रमाऽप्यजात्वमस्त्येव। कुतः ? कल्पनोपदेशात्। कल्पनस्य सर्ग-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्योपदेशात्। "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" (शु० य०) "सू
भगवान् धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादौ कल्पयतेः सृ
प्रयोगदर्शनात्। सर्गः सृष्टिः। तथाच "अस्मान्मायी सृजते वि
मेतत्" (श्वे० ४।९) इत्यादिषु जगत्सर्ग उपदिश्यते। एतदु
वति। परमपुरुषाधिष्ठिताया: प्रकृतेः कार्यकारणरूपेणावस्
वेदान्तेषूपदिश्यते। तत्र स्वाविभक्तनामरूपादस्मादव्याकृता
रणावस्थात्कारणान्मायी परमेश्वरो विश्वमुत्पादयति। तदन्
मुपचितसत्वरजस्तमोगुणतया सैवाव्यक्तशब्दवाच्या कार्यक
म्प्राप्य विभक्तनामरूपतया तेजोबन्नादिलक्षणपरिणतिमवाप्य
तशुक्लकृष्णाकारा सम्पद्यते। एवञ्चास्या भगवदधिष्ठितप्रकृतेः
णावस्थाया अजात्वेन व्यपदेशः कार्यावस्थायाश्च ज्योतिरुपक
नेति न कश्चिद्विरोधः। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—मध्वादिवदि
यथा "असौ वा आदित्योदेव मधु" (छा. ३।१।१) "इत्यादा
त्यादेः कारणावस्थायां मध्वादिव्यपदेशानर्हत्यन्तसूक्ष्मा
स्थितस्य कार्यावस्थायां वस्वादिभोग्यरसाधारत्वेन मधुत्वं
त्वञ्च न विरोधावहम्। एवमेकस्या एव प्रकृतेरवस्थाभेदादवि
तस्मादस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मकारणिकैवाजाभिधीयते न तन्नि
सिद्धम् ॥१।४।१०॥

इति चमसाधिकरणम्। २।

(अथ संख्योपसंग्रहाधिकरणम्।)

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥१।४।११॥

बृहदारण्यके "तदेवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽ
इत्यस्यानन्तरं श्रूयते "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्" (बृ० ४।४।१७) "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४।४।१८) इति। तत्र संशयः। किमत्र पञ्च पञ्चजना इति सांख्यप्रसिद्धानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ग्राह्याणि, आहोस्विद्वाक्यशेषे श्रुता वेदान्ताभिमताः प्राणादय इति। किं युक्तम्? तान्त्रिकाणि पञ्चविंशतितत्त्वानीति। कुतः? पञ्चानां पञ्चेति पञ्चविंशतिः। पञ्च पञ्च च ते जनाश्चेति पञ्चपञ्चजना इति पञ्चपञ्चजनशब्दस्य पञ्चविंशतितत्त्वबोधकत्वोपपत्तेः। कापिलाश्च "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याःप्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः;" (सांख्यका० ३) इति तत्त्वानां परिगणनं स्वरूपञ्चाहुः। तत्राकार्यत्वे सति कारणत्वं प्रकृतित्वम्। कार्यत्वे सति कारणत्वं प्रकृतिविकृतित्वम्। प्रकृतिविकृत्योः साक्षात्कार्यत्वं विकृतित्वम्। अकार्यत्वे सत्यकारणत्वञ्च। पुरुषत्वमिति तल्लक्षणानि विनिर्दिश्य मूलप्रकृतिरेका प्रकृतिविकृतयः सप्त। कारिकायां तु शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च तथा च विकृतय एव षोडश पुरुषश्चैक इति विभज्य पञ्चविंशतितत्त्वान्यभिदधुः। ततश्चोक्तरीत्या सांख्योक्ततत्त्वानि ग्राह्याणीति प्राप्तेऽभिधीयते। न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्चेति।

अत्र पञ्च पञ्चजना इत्यनेन सांख्यतन्त्रानुसारेण पञ्चविंशति संख्योपसंग्रहादपि न तत्तन्त्राभिमततत्त्वानि प्रतीयन्त अपि तु प्राणादय एव। कुतः? नानाभावात्। कापिलतन्त्राभिमतेभ्यस्तत्त्वेभ्य एषां पञ्चविशेषितपञ्चजनानां पृथग्भावात्। तथा हि—"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेवमन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्" इत्यत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् यस्मिन् पञ्च पञ्चजना प्रतिष्ठिता इति यच्छब्दावगतब्रह्माधारतयोक्तानां तेषां ब्रह्मात्मकत्वं निश्चीयते। "तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मो" ति यच्छब्दपरामर्शेन यच्छब्दावगतं ब्रह्मैव। सांख्यमते तेषां ब्रह्मा-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

धारत्वाऽनङ्गीकारेण तदभिमततत्त्वानुपपत्तेः। एवं सर्वाधारत्व काशयोः पञ्चविंशतितत्त्वभिन्नत्वेनाभिहितयोः पञ्चविंशतिसंख्य तिरेकाच्च न तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतिपादकत्वं तेषाम्।

एतदुक्तम्भवति। ब्रह्माधारतयोक्तानां पञ्चानां पञ्चजनानां ब्र धेयत्वेन तदाश्रितत्वात्तत्परतन्त्राणां प्रकृत्यादीनां सांख्यैरनङ्गी रेणापसिद्धान्तात्। पुरुषशब्दाभिहितस्यात्मन आकाशस्य च क्थनवैयर्थ्याच्च। तयोरपि पञ्चविंशतितत्त्वान्तर्गतत्वेनाभ्युपगमा नास्मिन् मन्त्रे सांख्यतत्त्वप्रतिपादनमपि तूत्तरवाक्ये श्रूयमाण णादीनामेव। यस्मिन्नित्युक्ते ब्रह्मण्यात्मनि प्राणादीनां सम्बन्ध सम्भवात्। "प्राणस्य प्राणम्" इत्यादि वाक्यैः परमात्मनः प्रा दिनियामकत्वाभिधानात् प्राणेश्वरयोर्नियम्यनियामकभावाद्ध धारत्वं तेषां सुतरां सम्पद्यत इति।

न संख्योपसंग्रहादपीत्यपिशब्देन वस्तुतोत्र पञ्चविंशतिसंख्य प्रतीतिरेव नास्तीतिसूचितस्यार्थस्य स्फुटीकरणार्थं हेतुमाह—न भावादिति। पञ्च पञ्चजनशब्दस्य सामान्यशब्दत्वेन नानाभा दनेकार्थवाचकत्वात्। सामान्यशब्दानां तु प्रकरणादिना विशे र्थस्य निश्चयात्। अत्र तु परमात्मप्रकरणेन परमात्मनः पञ्चप जनानां प्राणादीनां चाधारत्वनियामकत्वावगमेन पञ्चपञ्चजनशब्दा परमात्माधेयनियम्यवस्तुपरत्त्वावगमात्। "सन्दिग्धं तु वाक्य षात्" इति जैमिनिसूत्रेण सन्दिग्धपदार्थनिर्णयस्य वाक्यशेषाधी त्वोक्तेः। वाक्यशेषे परमात्माधेयनियम्यानां प्राणादीनां दर्शन षामेव पञ्चपञ्चजनपदवाच्यत्वनिश्चयान्न कथंचिदपि तच्छब्द सांख्योक्तं पञ्चविंशतितत्वार्थकत्वमुपपद्यते। पञ्चविंशतितत्त्वव हेत्वन्तरमाह—अतिरेकाच्चेति। यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाश प्रतिष्ठित इति सांख्याङ्गीकृतेभ्यः पञ्चविंशतिस्तत्वेभ्य आका शब्दयोरतिरेकश्रवणात्। सप्तविंशतितत्त्वस्वीकारे सांख्यानाम

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्धान्तापत्तेः सप्तविंशतितत्त्वानङ्गीकारे श्रुतिविरोधापत्तेश्चेत्युभयतः पाशारज्जुग्रस्तत्वान्न कथमपि सांख्या अत्र पञ्चपञ्चजनशब्दस्य स्वाभिमततत्त्वपरत्वोपपादने शक्ताः "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति सूत्रेण पञ्चजन इत्यत्र संज्ञाविषय समासः ॥१।४।११॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१।४।१२॥

पञ्च पञ्चजना इत्यत्र समाहारविषयः समासो नोपपद्यते लिङ्ग-व्यत्यय दोषग्रस्तत्वादपितु "दिक्संख्ये संज्ञायामिति" संज्ञाविषयक एव समासस्तेन पञ्चपञ्चजना इत्यस्य पञ्चजनसंज्ञकाः पञ्च इत्यर्थ उपपद्यते। ते के पञ्चजनसंज्ञिताः पञ्चेत्यपेक्षायामाह प्राणादय इति। पञ्चजनसंज्ञिताः पञ्च पदार्थाः प्राणादयः एव। कुत इदमव-गम्यते ? वाक्यशेषात्। संदिग्धार्थनिर्णयस्य वाक्यशेषाधीनत्वात्। सच वाक्यशेषस्तावत्। प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुतश्रोत्रस्य श्रोत्रम् (बृ० ४।४।१८) इति वाक्यशेषे ब्रह्माधारतया ब्रह्मनियम्य-तया श्रुताः प्राणादयः पञ्च पञ्चजनशब्दस्यार्थो ज्ञेयः। नान्यः। माध्यन्दिनशाखायां पञ्च पञ्चजनमन्त्रा नन्तरमन्त्रे "प्राणस्य प्राण-मुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः" (बृ० ४।४।१८) इति वाक्यशेषे श्रूयमाणानि प्राणचक्षु श्रोत्रान्नमनां-सीतीमानि पञ्चैव पञ्चजनशब्देनोक्तानि। तत्राद्यतेऽनेनेत्यन्नमि-त्यन्नशब्देन रसनेन्द्रियमुच्यते ॥ १।४।१२ ॥

ननु काण्वानां माध्यन्दिनानां च शाखायां "यस्मिन्पञ्च पञ्च-जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः इत्ययं मन्त्रः समानः श्रूयते। काण्वानां वाक्यशेषे त्वन्नस्य पाठो न श्रूयतेऽतस्तेषां पक्षे चतुर्णां प्राणादीनां पञ्चजनशब्दवाच्यत्वं नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१।४।१३॥

एकेषां काण्वानां वाक्यशेषेऽसत्यन्ने शब्दे वाक्योपक्रमगतेन

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति ज्योतिषा पञ्च संख्या पूरणीयेति । तत्र वाय्वात्मकप्राणवाचकेन प्राणशब्देन वायुसम्बन्धिस्पर्शेन्द्रियमन्नशब्दाभिहितपृथिवीसम्बन्धित्वाद् घ्राणस्यान्नशब्देन घ्राणेन्द्रियं गृह्यते । तन्त्रेण तु रसनेन्द्रियमद्यतेऽनेनेत्यन्नमित्यन्नशब्देन रसनेन्द्रियग्राह्यत्वोपपत्तेः । तदेवं स्पर्शेन्द्रियग्रहणेन घ्राणरसनयोरन्यतरस्य च प्राणान्नयोरन्तर्गतत्वग्रहणेन प्राणचक्षुःश्रोत्रमनांसीमानि वाक्यशेषे श्रूयमाणानि पञ्चजनसंज्ञितानि पञ्च ज्ञेयानीति "प्राणादयः वाक्यशेषादि"ति सूत्रेण दृढीकृतत्वात् तन्त्रसिद्धपञ्चविंशतितत्त्वप्रसङ्गाभावेन न सांख्योक्ततत्त्ववचनाकाश इति सिद्धम् ॥ १।४।१३ ॥

इति संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ।

(अथ कारणत्वाधिकरणम् ।)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१।४।१४॥

अत्र कारणविषयाणां वेदान्तवाक्यानां प्रधानपरत्वनिरासेन ब्रह्मणि समन्वयप्रदर्शनद्वारैकस्यैव ब्रह्मणः सर्वजगन्मूलकारणत्वमुपपादितम् । तन्न सम्भवति । कुतः ? तेषां वेदान्तवाक्यानामनेकवस्तुकारणत्वबोधकत्वेन परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनपरतया ब्रह्मणि समन्वयाऽनुपपत्यैकस्यैव ब्रह्मणो जगन्मूलकारणत्वानुपपत्तेः । तथा हि—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः" (तै० २।१) इत्यत्रात्मनो जगत्सृष्ट्यादिकारणत्वं श्रूयते । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३) इत्यत्र सच्छब्दवाच्यस्य जगत्कारणत्वं श्रूयते । "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" (बृ० १।४।११) इत्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मणः कारणत्वं श्रूयते। "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै० २।७) इत्यत्रासतः कारणत्वं श्रूयते। एवं क्वचिदाकाशाज्जगतः सृष्टिरभिधीयते क्वचित्प्राणात्। तथा "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" (बृ० १।४।७) इत्यत्र चाव्याकृतस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वं श्रूयते। अव्याकृतमव्यक्तमेव। नामरूपाभ्यां न व्याक्रियते न व्यज्यत इत्यव्याकृतम्। तस्मिँश्च "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदि" ति जगतः प्रलयमभिधाय 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इति तस्मादेव सृष्टिरभिधीयते। इत्येवं तत्तत्कारणवाक्यगतस्य तस्य तस्य च शब्दस्य स्वस्ववाच्यजगत्कारणत्वप्रतिपादकस्य स्वस्ववाच्ये समन्वयादेकस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वेषां कारणवाक्यगतानां शब्दानां समन्वयस्यासम्भवान्न ब्रह्मणो मूलकारणत्वमुपपद्यत इति प्राप्त आह कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेरिति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्त" इत्यारभ्य तद्ब्रह्मेत्येवमादिभिः श्रुतिभिर्जगत्कारणत्वेन प्रतिपादितस्य ब्रह्मणो जगत्कारणपरेष्वाकाशादिवाक्येषु सृष्ट्याद्यसाधारणलिङ्गदर्शनेनाकाशप्राणादिशब्दानां ब्रह्मपरत्वं निश्चित्याकाशप्राणादिशब्दैस्तस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेन व्यपदिष्टत्ववदात्मसदादिकारणपरवाक्येष्वपि जगत्सृष्ट्यादिब्रह्मासाधारणलिङ्गदर्शनात्तद्गतात्मसदादिशब्दानामपि ब्रह्मपरत्वनिश्चयेन तेन तेन च शब्देन जगत्कारणत्वेन ब्रह्मणो व्यपदिष्टत्वोक्तेः। ब्रह्मणो व्यपदेशादित्यर्थः। तथा च सर्वेषां कारणपरशब्दानां ब्रह्मणि समन्वये ब्रह्मण एवादिकारणत्वमुपपद्यत इति तत्त्वम्।

एतदुक्तम्भवति। सर्वेषां कारणवाक्यानामेकवाक्यतासत्त्वात्कारणवाक्यगतकारणवाचकशब्दानां सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनैकस्मिन्परमकारणे पर्य्यवसानत्वस्योचितत्वात्सर्वेऽपि कारणवाक्यगताः सदात्माकाशप्राणादिशब्दा एकस्मिन्नादिकारणे ब्रह्मणि पर्यवस्य तस्यैव जगत्सृष्ट्यादि कारणत्वमभिदधते। तथा च समेषां सदात्माकाश-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राणादिशब्दानां परस्मिन्ब्रह्मण्येव समन्वयस्य सत्वादादिकारणत्वमेकस्यैव ब्रह्मण इति निर्णयः ।

यद्वा "आकाशादिवाक्येषु सृष्ट्यादिकारणत्वेन व्यपदिष्टोक्ते आकाशादिवाक्यश्रुतसृष्ट्यादिब्रह्मासाधारणलिङ्गबलेन यथाकाशादयः शब्दा ब्रह्मपरत्वेन नीतास्तथा सदादिवाक्येष्वपि सृष्ट्यादिब्रह्मासाधारणलिङ्गदर्शनात्तद्बलेन सदादिशब्दानामपि ब्रह्मपरत्वेनयनात्सर्वेषां कारणवाक्यगतानां ब्रह्मणि समन्वयत्वोपपत्या तस्यैव सदादिशब्दवाच्यत्वनिष्पत्तेः । तथा चैकस्य ब्रह्मण एव निखिलकारणवाक्यप्रतिपाद्यत्वेन सर्वजगदादिकारणत्वं तस्य सम्यगुपपद्यते। तथा च श्रुतिः । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (का० २।१।१५) इति। "तद्विष्णोः परमं पदम्" (का० १।३।९) इति च ।

एवं "मननान्त्राणनान्मन्त्रः सर्ववाच्यस्य वाचक" (रामता० १।१२) इति श्रुतिरपि श्रीरामाख्यस्य परस्य ब्रह्मणः सर्वशब्दवाच्यत्वाभिधानेन तस्मिन्सर्वेषां शब्दानां समन्वयत्वं ज्ञापयति । तथैव "विश्वरूपस्य ते राम विश्वे शब्दा हि वाचकाः । तथापि रामनामेदं सर्वेषां बीजमक्षयम् ।" इति स्मृतिरपि श्रीरामस्यैव सर्वशब्दवाच्यत्वमभिधत्ते । किञ्च रामनान्नः सर्वशब्दकारणत्वाभिधानेन तद्वाच्यस्य श्रीरामाख्यस्य ब्रह्मणोऽन्यनिखिलशब्दवाच्यानां सर्वेषां बीजत्वोपपादनद्वारा तस्य सर्वशब्दवाच्यादिकारणत्वं बोधितम् ।

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासी" दित्यादिकारणवाक्यप्रतिपाद्यं ब्रह्मणः कथमुपपद्यत इति चेदित्थम् । "अव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः" इति । तथा "महानन्तमलीयते, अक्षरं तमसिलीयते, तमः परे देव एकी भवन्ति" (सुबा० इत्येवमादिषु पुरुषस्याव्यक्तात्परत्वश्रवणात् । महदव्यक्ताक्षरतमःपरे देवे परस्मिन्ब्रह्मणि लयत्वाभिधानात्प्रलयावसाने च ततः पुनस्तदुत्पत्तावस्यैव ब्रह्मणस्तदुत्पादकत्वोपपत्तेः । एवं "सत्यं ज्ञानमनन्त

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै० २।१) इत्युपक्रम्य "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१) इत्येवमादिषु तस्यैव ब्रह्मणः सर्वस्रष्टृत्वश्रवणात्। अत एव "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) इत्यादि श्रुतिभिः स्वोत्पन्नस्वशेषभूताव्यक्तादिद्वारा ब्रह्मणश्चराचरजगदुत्पादकत्वमभिधीयते।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ गी०॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनि रहं बीजप्रदः पिता॥ गी०॥

इत्यादि स्मृतयोऽपि ब्रह्मणोऽव्यक्ताद्युत्पादकत्वेन तद्द्वारा चराचरजगदुत्पादकत्वमित्यव्यक्तादिकारणतयाऽव्यक्तादिपरवाक्यप्रतिपाद्यत्वं परब्रह्मण एवेति॥१।४।१४॥

तर्ह्यसदादिशब्दानां कथं ब्रह्मण्यन्वय इत्याशङ्क्यायामाह—

समाकर्षात्॥१।४।१५॥

"असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्" (तै० २।६) इत्यसद्वादं विनिन्द्य "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः" (तै० २।६) इत्यङ्गीकृतं सद्वादमुपवर्ण्य "सोकामयत बहु स्यां प्रजायेय" "इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्" (तै० २।६) इति सतो ब्रह्मणः सकाशादेव सृष्टिरभिहिता। "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै० २।७) इत्यत्रापि सृष्टिकर्तुस्सत्पदवाच्यस्य ब्रह्मण एव समाकर्षादिति। कुतः? उक्त श्लोकस्यानन्तरं "तदात्मानं स्वयमकुरुते" त्यारभ्य "सैषाऽनन्दस्य मीमांसा भवति" (तै० २।८) इत्युत्तरस्थेन परमात्मपरानन्दशब्देन सत एव समाकर्षात्। तथा च पूर्वोत्तरपरमात्मपर

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वाक्यानां मध्ये पतितस्य "असद्वा इदमग्र आसी" दिति श्लोकस्य संदंशन्यायेन परमात्मपरत्वमुपपद्यते ॥१।४।१६॥

इति कारणत्वाधिकरणम् ।

(अथ जगद्वाचित्वाधिकरणम् ।)

जगद्वाचित्वात् ॥१।४।१६॥

कौषीतकिब्राह्मणे समाम्नायते–"यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" (कौ० ब्रा० ४।१८।) इति। अत्र संशयः। किं वेदितव्यत्वेनोपदिष्टः सांख्यतन्त्रसिद्धः पुरुषः प्रधानमाहोस्वित्परमात्मेति। किं युक्तम् ? पुरुषः। यस्य वैतत्कर्मेति पुण्यपापरूपकर्मकर्तृत्वस्य पुरुषनिष्ठत्वात्। कर्मपदस्य जगद्वाचित्वपक्षे प्रधानं वेदितव्यत्वेनोक्तं तस्य जगत्कारणत्वादिति प्राप्त आह जगद्वाचित्वादिति। कर्मपदस्य जगद्वाचित्वात्। सांख्यैश्च पुरुषस्य कार्यकारणत्वास्वीकारादस्मिन् वाक्ये यस्यैतत्कर्मेतिवेदितव्यस्य जगत्कर्तृत्वेन तत्कारणत्वाभिधानादस्य वाक्यस्य पुरुषस्य कार्यकारणत्वानभ्युपगच्छत्सांख्यतन्त्रविरोधित्वान्न तत्तन्त्राभिमतपुरुषस्यात्र वेदितव्यत्वं निष्पद्यते। न च प्रधानस्यापि। कुतः ? अत्र यः कर्ता स वेदितव्य इत्युभयत्र पुल्लिङ्गत्वदर्शनात् प्रधानप्रकृतिप्रतिपादकानां शब्दानां पुल्लिङ्गत्वादर्शनात्। एवमचेतनस्य प्रधानस्य चेतनधर्मजगत्कर्तृत्वाऽसम्भवाच्च। कारणवादिषु वेदान्तवाक्येषु प्रधानस्य वेदितव्यत्वाश्रवणादसकृत्तस्य पूर्वं जगत्कारणत्वानिर्वचनाच्च न प्रधानस्यापि वेदितव्यत्वमुपपद्यते। परमात्मनस्तु सर्वज्ञत्वात्कर्तृत्वस्य तदन्तर्गतसर्वपुरुषकर्तृत्वस्य तद्वेदितव्यत्वस्य चानेकवाक्येषु प्रसिद्धत्वात्। तस्य "यः कर्त्ता स वेदितव्य" इति पुल्लिङ्गत्वेन निर्दिष्टयोर्यत्तच्छब्दयोर्वाच्यत्वोपपत्तेश्च परमपुरुषः परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेनोक्तो नान्यः ॥१।४।१६॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१।४।१७॥

ननु "यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्य" इत्यस्य वाक्यशेषे "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा श्रेष्ठिनं स्वा" (कौ० ब्रा० ८।२०) एवमभिहितम्। अत्र भोक्तृत्वरूपजीवलिङ्गात् "अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति" (कौ० ब्रा० ४।) इति प्राणशब्दश्रवणाच्च "यस्य चैतत्कर्म" इति वाक्यस्य न परमात्मपरत्वमुपपद्यत इति चेत्तद्व्याख्यातम्। एतच्च प्रतर्दनाधिकरण "उपासा त्रैविध्यादाश्रितत्त्वादिह तद्योगा" दित्यत्र जीवमुख्यप्राणलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वं व्याख्यातम्।

अयमभिप्रायः। यत्रोपक्रमाभ्यासादिलिङ्गैर्वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं निश्चीयते तत्रान्यलिङ्गानि ब्रह्मपरवाक्यानुरोधेन ब्रह्मपरत्वेन नेतव्यानि। प्रकृते तु "ब्रह्म ते ब्रवाणि" (कौ० ब्रा० ४।१) इति ब्रह्मपदेनोपक्रमात् "एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता" इति मध्येऽपि सर्वजगत्कारणत्वेन ब्रह्मणोऽभ्यासात्। तथा "स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येति य एवं वेद" इति ब्रह्मविदस्तदुपासकस्य स्वाराज्यप्राप्तिरूपफलत्वेनोपसंहाराच्चास्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वनिश्चयात्। तस्मादत्र "अस्मिन्प्राण एव एकधा भवतीति सामानाधिकरण्यादस्मिन् शब्दस्य प्राणशब्दस्य चैकवस्तुपरत्वनिश्चयेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वावगमात्। प्राणशरीरब्रह्मोपासनार्थमत्र प्राणपदेन निर्देश उपपद्यते ॥१।४।१७॥

अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपिचैवमेके ॥१।४।१८॥

तु शब्दः शङ्काव्यावर्तकः। अस्मिन्प्रकरणे जीवपरामर्शोन्यार्थं जीवातिरिक्तजीवाधारभूतब्रह्मस्वरूपज्ञापनार्थमिति प्रश्नव्याख्यानाभ्यां जैमिनिराचार्यो मन्यते। ततो जीवातिरिक्तब्रह्मपरमेवेदं वाक्यम् "तौ ह सुप्तपुरुषमीयतुः" (कौ० ब्रा० ४।१८) इत्यादिना प्रश्नः। बालाक्यजातशत्रू सुप्तपुरुषसमीपं गत्वा हे सोमराजन्निति सम्बोधनं कृत्वा तदश्रवणेन प्राणादीनामभोक्तृत्वम्प्रतिपाद्य यष्टिघातेन प्राणा-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दिव्यतिरिक्तं जीवम्प्रतिबोध्य पुनर्जीवव्यतिरिक्ततदाधारभूतब्रह्मसम्बन्धिप्रश्नव्याख्याने चक्रतुः। तत्र प्रश्नः "कैष एतद्बालाकेपुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत वा एतदागात्" इति। एतत्प्रश्नत्रयोत्तरानभिज्ञं बालाकिं ज्ञात्वा स्वयमेवोत्तरमाह "यथा सुप्तःस्वप्नं न कञ्चन पश्यति" इत्यादिभिः। अत्र शयनभवनयोधारत्वेनोत्थानापादानत्वेन च निर्दिष्टः प्राणशब्दाभिहितः परमात्मैवेत्युत्तरवाक्यार्थः। सुषुप्त्यवस्थायां जीवस्य परमात्मना परिष्वक्तत्वमाह श्रुतिः "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः" इति। तस्मात्सुषुप्तौ जीवस्याधारतया निर्दिष्टः प्राज्ञः परमात्मा जीवादर्थान्तरभूत एवेति।

अपि चैवमेके वाजसनेयिनो बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टमेवंविज्ञानमयाज्जीवाद्भेदेन तदाश्रयभूतं परमात्मानमामनन्ति "य एषविज्ञानमयः पुरुषः कैष तदाभूत्कुत एतदागात्" (बृ० २।१।१६) इति प्रश्नस्योत्तरं "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेत" इति। आकाशस्य "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इति दहरविद्यायां परमात्मपरत्वेन निर्णीतत्वादाकाशः परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेनोक्तः। जीवसंकीर्तनन्त्वत्र जीवस्य प्राणशब्दाभिहितपरमात्मनोऽर्थान्तरत्वख्यापनार्थमिति नात्र सांख्योक्तपुरुषादिप्रतिपादनम्। परमात्मनो जगत्कारणभूतस्यैवात्र वेदितव्यत्वमिति सिद्धम् ॥१।४।१८॥

इति जगद्वाचित्वाधिकरणम्।

(अथ वाक्यान्वयाधिकरणम्।)

वाक्यान्वयात् ॥१।४।१९॥

मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते—"सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यांकिमहं तेन कुर्याम्" (बृ० २।४।३।) स होवाच न वा अरे पत्युः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (बृ० २।४।५) इत्युपक्रम्य आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० २।४।५) इति। अत्र संशयः। किं प्रत्यगात्माऽत्र द्रष्टव्यत्वादिनोपदिष्ट आहोस्वित्परमात्मेति। किं युक्तम्? जीवात्मा। कुतः? परमात्मा द्रष्टव्य इत्यश्रवणात्। आत्मेति द्रष्टव्य इति श्रवणाच्च। लोक आत्मपदस्य जीवपरत्वप्रसिद्धेः। पतिजायापुत्रपशुवित्तानां जीवभोग्यानां भोगोपकरणानाञ्चोपक्रमेण तद्भोक्तुर्जीवस्योपक्रमान्मध्येऽपि इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" (बृ० २।४।८) इति प्रकृतस्य जीवस्य विज्ञानघनस्य भूतेभ्यः समुत्थानं तदनु विनाशञ्च वदन् तस्यैव द्रष्टव्यत्वं बोधयति "आत्मा वारे द्रष्टव्य" इति। एवं प्राप्तेऽभिधीयते वाक्यान्वयादिति। परमात्मैवास्मिन् वाक्ये द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टो भवति। कुतः? उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वतेत्यादिभिः शास्त्रतात्पर्यनिर्णायकैर्लिङ्गैरस्य वाक्यस्य ब्रह्मण्येव समन्वयदर्शनात्। तथा हि—उपक्रमे तावद् "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेने"ति याज्ञवल्क्यवचनं श्रुत्वा मैत्रेयी मोक्षसाधनं पृष्टवती "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्यमृतसाधनमेव मे ब्रूहीति यावत्। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्य आत्मदर्शनस्यामृतसाधनत्वमुपदिष्टवान् "आत्मा वारे द्रष्टव्य"इति। अत्र परमात्मदर्शनस्यैवामृतसाधनत्वमभिहितम्। एवं "आत्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञाननेदं सर्वं विदितम्" (बृ. २।४।५) इत्यात्मदर्शनेन सर्वज्ञानं वदन् कारणविज्ञानेन तत्कार्यस्य सर्वस्य विज्ञेयत्वम्बोधयन्नात्मन एवाखिलकारणत्वं बोधयति। न हि परिच्छिन्नस्य जीवस्य दर्शनेन सर्वपदार्थस्य ज्ञानं सम्भवति। तदेवास्य सर्वकारणत्वं दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैः स्पष्टीकृतम्। तथा "अरे अस्य महतो निःश्वसितमेतद्यद्ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः"।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(बृ. २।४।) इत्यात्मन ऋग्वेदाद्युत्पत्तिकथनद्वारा सर्वचराचरज
दुत्पत्तिं बोधयन्नस्य सर्वकारणत्वेन परमात्मत्वं तेन द्रष्टव्यत्वं च
बोधयन् सर्वकारणस्यास्य परमात्मनो विज्ञानेन तत्कार्यभूतस
सर्वस्य विज्ञातत्वं द्रढयामास । तस्मादत्रात्मशब्देन परमात्मै
गृह्यते स एव द्रष्टव्यत्वेनोक्त इति । एवं "येनेदं सर्वं विजानाति
केन विजानीयाद्विज्ञातरमरे केन विजानीयात्" (बृ. २।४।१४
इत्युपसंहारवाक्येऽपि परमात्मन एव द्रष्टव्यत्वं निष्पद्यते । एवमु
क्रमादिभिरस्य प्रकरणस्य परमात्मपरत्वमेवेति निर्णयः ॥१।४।१९॥

ननु पतिजायादिभोग्यजातस्य "विज्ञानघन एतेभ्यो भूतेभ्य
समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" इत्यस्य च जीवलिङ्गस्य का गति
रित्यत आह—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥१।४।२०॥

मैत्रेय्यात्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं स
विदितम्" (बृ. २।४।५) इत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा
जीवस्य परमात्मकार्यत्वेन तदनन्यत्वोपपत्त्या कारणविज्ञानेन
तत्कार्यविज्ञानात्सिद्धेर्जीवस्य परमात्मकार्यत्वेन तदधीनस्वरू
स्थितिप्रवृत्तित्वज्ञापनार्थं जीवलिङ्गं निर्दिष्टमित्याश्मरथ्य आचार्
मन्यते ॥१।४।२०॥

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥१।४।२१॥

"न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमी" ति मुक्तजीवस्य संसाररहि
त्वोपदेशात् "तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमु
दिव्यम्" इति श्रुत्या मुक्तस्य नामरूपाद्विमुक्तत्वावगमात्तन्मोक्ष
साधनत्वेन श्रवणमननपूर्वकपरमात्मनिदिध्यासनस्योपदेशाच्च "
सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रू
णाभिनिष्पद्यते" (छा० ३।१२।३) इति शरीरादुत्क्रमिष्यतो जीवस

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परज्योतीरूपसम्पत्त्यनन्तरमपहतपाप्मत्वाद्यष्टगुणविशिष्टसच्चिदानन्द-स्वरूपाविर्भावरूपेण ब्रह्मभावाद्ब्रह्मणो यो भावोऽपहतपाप्मत्वादि-रूपस्तेनैव भावेन मुक्तस्य स्थितिश्रवणाज्जीवस्तच्छ्रवणमननपूर्वकं तन्निदिध्यासनेन परमात्मानमुपसम्पद्याविर्भावस्वरूपः सन् ब्रह्मभावं प्राप्नुयादित्येतदर्थं तत्र जीवलिङ्गनिर्देश इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥१।४।२१॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥१।४।२२॥

"य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरं य आत्मान मन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।२२) इत्येवमादिषु जीवस्यात्मभावेन परमात्मनोऽवस्थितेः 'शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानत्वाज्जीववाचकस्य शब्दस्य तच्छरीरिणि परमात्मनि पर्यवसानात्तत्र जीवशब्देनपरमात्मैवाभिहित इति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते ॥ १।४।२२॥

(इति वाक्यान्वयाधिकरणम् ।)

(अथ प्रकृत्याधिकरणम्)

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥१।४।२३॥

प्राग् "जन्माद्यस्य यत" इति ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमभिहितम् । तत्किन्तस्य निमित्तकारणत्वमुक्तमाहोस्विदुपादानत्वमपीति संशयः। तत्र निमित्तत्वमेवोक्तम् । कुतः ? "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छा०६।२।२) इतीक्षणमात्रेण जगत्कर्तृत्वश्रवणात्सत्यसंकल्पस्य ब्रह्मणः संकल्पमात्रेण जगत्सृष्टिकर्तृत्वोपपत्तेरिति प्राप्तेऽभिधीयते प्रकृतिश्चेति । ब्रह्म जगत्प्रकृतिरुपादानकारणं चकारान्निमित्तकारण-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मप्युक्तम्। कुतः ? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। "येनाश्रुतं श्रु
भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञा
प्रतिज्ञायाः "यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञ
स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा०६।१
इति मृद्ज्ञानेन मृण्मयज्ञानस्य दृष्टान्तस्य चानुरोधाद् ब्रह्मणो ज
दुपादानत्वमप्युपपद्यते। यत्सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं कारणावस्थं ब्र
तदेव सृष्टिकाले स्थूलचिदचिद्विशिष्टं भवतीत्युपादानत्वं निष्प
तरम्। तत्र प्रकृतिजीवयोर्जगदुपादानत्वे सत्यपि तत्र ब्रह्मणः प्र
नत्वाद् "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" (ब्र० सू०२।४।१९) इति न्या
द्ब्रह्मोपादानं जगदिति वचनमुपपद्यते। न च मृण्मात्रज्ञानेन मृण्म
घटादिज्ञानदृष्टान्तासङ्गतिः। तत्रापि मृदो मृण्मयस्य च का
त्रिवृत्कृतत्वेन त्रिभूतात्मकत्वे सत्यपि मृदः प्राधान्यान्मृण्मयमि
वचनमुपपद्यते। यथाऽत्र त्रिवृत्कृते पृथिव्याः प्राधान्यं तत्पृथि
त्युच्यते। यत्र जलस्य प्राधान्यं तज्जलमित्युच्यते। तथैव चि
चिद्ब्रह्मोपादानकत्वेऽपि जगतस्तत्र ब्रह्मणः प्राधान्याद्ब्रह्मोपा
जगदित्युच्यते। विकारः कार्यं जगच्चराचरं तन्नामधेयञ्च वा
म्भणं वागालम्बनमात्रं चिदचिद्ब्रह्मैव सत्यमिति दृष्टान्तदार्ष्टा
समानत्वान्मृण्मयस्य सर्वस्य मृदुपादानकत्ववत्सर्वस्य जगतो ब्र
पादानकत्वं निष्पन्नतरमेव ॥ १।४।२३॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥१।४।२४॥

"सोऽकामयत" (तै० २।६।) इति ध्यानोपदेशाद्ब्रह्मणो
त्कर्तृत्वं "बहु स्यां प्रजायेय" इति जगदाकारेण बहुभवनचिन्
पदेशाच्च तस्य जगदुपादानत्वञ्चेति निमित्तत्वमुपादानत्वञ्च
ब्रह्मणो निष्पद्यते ॥१।४।२४॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥१।४।२५॥

"ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्" "ब्रह्माद्य तिष्ठद्भुवनानि धारयन्" इति साक्षाद्ब्रह्मणो जगदुपादाननिमित्तत्वयोरुभयोराम्नानादुभयं चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैव ॥१।४।२५॥

आत्मकृतेः ॥१।४।२६॥

"तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै० २।७) इति प्रलये सूक्ष्मचिदचिच्छरीरत्वेनावस्थितमात्मानं तदन्ते स्थूलचिदचिच्छरीरकं स्वयमकुरुत जीवानां भुक्तिमुक्त्यर्थमित्युपादाननिमित्तत्वमुभयमेकस्यैव ब्रह्मणः स्पष्टमुक्तम्। यन्तु विशुद्धं ब्रह्मैवात्मानं स्वयमकुरुत सुखदुःखादिभागभवदित्याहुस्तन्नोपपद्यते। ब्रह्मणि विकारित्वाद्यनेकदोषापत्तेस्तदपाकरणार्थं मायाशबलितस्यैव जगद्रूपत्वमङ्गीकरिष्यते चेदुपादानताभङ्गप्रसङ्गः। न च कल्पितत्वं जगत इत्युक्तावपि निस्तारः। केन किमर्थं कल्पितमिति प्रश्नस्योत्तरानुपपत्तेः। तस्मात्सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य कारणवस्थस्यैव ब्रह्मणः कर्तृत्वकर्मत्वस्रष्टृत्वादिव्यपदेशादुपादानत्वंनिमित्तत्वंचोभयमपिसङ्गतम् ॥१।४।२६॥

इतश्च जगत्प्रकृति ब्रह्मैव।

परिणामात् ॥१।४।२७॥

"निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् यदिदं किञ्च, तत्सत्यमित्याचक्षते" (तै० २।६) इत्यविभक्तनामरूपातिसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकस्य कारणवस्थस्य ब्रह्मणो विभक्तनामरूपस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन परिणामाज्जगदुपादानं निमित्तञ्च ब्रह्मैव। सूक्ष्मावस्थस्य स्थूलावस्थस्य च सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनो ब्रह्मशरीरत्वं ब्रह्मणस्तदात्मत्वञ्च "यस्य पृथिवीशरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्त-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

र्याम्यमृतः" "यस्यात्मा शरीरम्" य आत्मानमन्तरो यमयत्येष आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७।२२) इत्येवमादिभिः श्रुतिभि सिद्धमेव ॥१।४।२७॥

योनिश्च हि गीयते ॥१।४।२८॥

"तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (मु० १।१।६) "कर्त्ता रमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" (मु० ३।१।३) इति ब्रह्मैव सर्वभूत योनित्वेन गीयते । हि यस्मात्तस्मात्सर्वभूतयोनित्वाज्जगदुपादा निमित्तञ्च ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १।४।२८ ॥

इति प्रकृत्यधिकरणम् ।

(अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ।)

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥१।४।२९॥

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति सर्वज्ञसर्वशक्ति परमपुरुषपरत्वेनोपक्रमान्मध्येऽपि जगत्कारणपरवाक्यानामभ्य सात् "तद्भूतयोनिम्" इत्यादिना ब्रह्मादिसर्वचराचरभूतकार परमात्मपरत्वेनोपसंहाराच्च सर्वेषां वेदान्तानां जगत्कारणे पर पुरुषे समन्वयत्वसिद्धेः । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (क० १।२।१५) इति समेषां वेदान्तानां तत्रैव ब्रह्मणि समन्वय श्रुतत्वात् "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) इत्यारभ्य "शास्त्रयो हि गीयते" (ब्र० सू० १।४।२८) इत्यन्तेनोक्तेन न्यायकलापे सर्वे वेदान्ताः सर्वज्ञसर्वशक्त्याद्यनवधिकातिशयानन्तकल्याणगु णविशिष्टस्वानन्यचिन्तकभक्तोपायोपेयभूतजगदुत्पादकरक्षकपरम पुरुषपरब्रह्मपरत्वेन व्याख्याताः । पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्ति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्ञापनार्थः। अत्रानेन सूत्रेणैतदध्यायगतसूत्रश्रुतीनामर्थान् सम्यगवगत्यावशिष्टानि वेदान्तवाक्यान्येतदानुगुण्येनैव ज्ञेयानीत्यपि ज्ञापितम्भवतीति ॥१।४।२९॥

इति सर्वव्याख्यानाधिकरणम्।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य संक्षिप्तसारे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीतस्य शारीरकमीमांसायां श्रीजानकी-
कृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

(*अथ स्मृत्यधिकरणम्* ।)

व्याख्याते समन्वयाख्ये प्रथमेऽध्याये समेषां वेदान्तानां
खिलकल्याणगुणसागरे परमपुरुषे ब्रह्मणि समन्वयमभिधाय तन्
भिमतप्रधानादेः स्वातन्त्र्येण कारणस्यावैदिकत्वेनाप्रामाण्यमि-
हितम् । इदानीमस्मिन्नविरोधाख्ये द्वितीयेऽध्याये स्मृत्यादिविरो
माशङ्क्य परिह्रियते । तत्र प्रथमे पादे सांख्यस्मृतिविरोधमाश
श्रुतिमूलकस्मृतिविरोधेन वेदार्थप्रतिकूलतया सांख्यस्मृतेर्न
कार्थनियमने प्रामाण्यमित्युच्यते—

**स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदो
प्रसङ्गात् ॥२।१।१॥**

अत्रायं संशयः । किं वेदान्तानां योऽयं ब्रह्मणि समन्व
सम्पाद्यते तस्य च सांख्यादिस्मृतयो बाधिका आहोस्विन्नी
किंयुक्तम् ? बाधिका इति । कुतः ? अबाधकत्वे स्मृत्यनवकाश
प्रसङ्गात् । प्रमाणान्तरावेद्यस्य, शब्दमात्रैकगम्यस्य निरतिश
नन्दलक्षणमोक्षस्य साधने प्रवृत्तानां तासामनवकाशता स्यात्
दोषः । सांख्यादिस्मृत्यसम्मतवेदार्थोपबृंहणे तथैव च मोक्ष
रूपप्रमेयस्वीकारे तासां नैरर्थक्यं स्पष्टमेव । उभयोरेकार्थप्रति
कत्वादेकस्या निरवकाशत्वमेव समापन्नमिति । तच्चायुक्त
"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानञ्च पश्ये
(श्वे० ।६।२।) इति श्रुत्या सर्वज्ञतयोक्तस्य कपिलर्षेः प्रणीत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तासां प्रामाणिकत्वात् । तस्मान्न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमास्थेयम् । कपिलर्षिप्रणीतप्रधानकारणवादिस्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गादिति चेन्न । अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । अन्यासां श्रुतिमूलकस्मृतीनां तथा सत्यनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् । तथा हि– "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" (श्वे० ४।१०) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (श्वे ९।१६) "सकारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः" (श्वे० ६।९) इत्यादिश्रुतिमूलानां परमात्मकारणवादिनीना–

"अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ॥
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ॥
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।"

मित्यादीनां चेतनब्रह्मकारणवादिनीनां स्मृतीनां तथा "अव्यक्तमक्षरे विलीयते अक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति" (सुबा० २) इति श्रुतिनिर्दिष्टस्य प्रलये परे देवे लीनस्याव्यक्तस्य प्रलयान्ते तस्मादुत्पत्त्युपपत्तेस्तन्मूलिकायाः "तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम" (भा० शा० मो०) "अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्म निष्कले सम्प्रलीयते" (भा० शा० मो०) इति भारतस्मृतेश्चानवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

तदेवं परस्परविरोधे श्रुत्यविरुद्धाः स्मृतिः प्रमाणमित्याह जैमिनिः "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" (जै० सू० १।३।३) प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सति स्मृतिवाक्यमुपेक्ष्यमनादरणीयमसति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रुतिविरोधे स्मृतिमूलभूतं श्रुतिवाक्यमनुमेयमिति तदर्थः । एवञ्च पक्षीणसांख्यस्मृतिर्हेयैव श्रुतिविरुद्धत्वात् "ऋषिं प्रसूत" मित्यादिः श्रुतिर्हि सांख्यकर्तृकपिलान्यकपिलर्षिविषयाऽवगन्तव्येति न काचिदनुपपत्तिः । श्रुतिप्रतिपादितस्य भगवतः कपिलस्य श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेरिति सर्वं समञ्जसम् ॥२।१।१॥

ननु योगेन साक्षात्कृततत्वस्वरूपैः कपिलादिभिर्योऽर्थो व्यवस्थापितः स एवार्थोऽन्यैर्मन्वादिभिरप्यङ्गीक्रियत इति कथं मन्वादिस्मृतीनामेव वेदानुसारित्वमित्याशङ्कायामाह—

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ॥२।१।२॥

इतरेषां वेदार्थयाथात्म्यविदां "यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्" (तै० सं० २।२।१०।२) इत्यादिश्रुत्या भेषजवज्जगद्धिताय प्रवचनकर्तृणां मन्वादीनां प्रधानकारणवादित्वाऽनुपलब्धेः । अतः श्रुतिविरुद्धत्वात्तदनुसारिमन्वादिस्मृतिविरुद्धत्वाच्च कपिलादिस्मृतेर्भ्रान्तिमूलकत्वनिश्चयेनाप्रामाण्यान्न तया वेदान्तसमन्वयः शक्यो बाधयितुमिति ॥२।१।२॥

इति स्मृत्यधिकरणम् ।

अथ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥२।१।३॥

योगस्मृतिः किं वेदान्तानामुपबृंहणभूताऽहोस्विन्नेति संशयः । उपबृंहणभूतेति पूर्वः पक्षः । उपबृंहणं हि तत्समानार्थकपदैर्वाक्यैर्वा तदर्थप्रकाशनम् । श्रुतिसिद्धार्थस्य विशदीकरणं वेति वैदिकसिद्धान्तस्यैव योगशास्त्रेऽपि दर्शनात् । वेदान्तप्रवर्तकहिरण्यगर्भप्रणीतत्वात्सेश्वरत्वाच्च योगस्य वेदान्तोपबृंहणत्वं न्याय्यम् । तथा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

च तत्स्मृते प्रधानपरत्वेन वेदान्तानामपि प्रधानोपादानप्रतिपादकत्वमेष्टव्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते ।

एतेन योगः प्रत्युक्त इत्यतिदेशः । एतेन प्रधानकारणत्ववादिकपिलस्मृतिनिराकरणेन प्रधानपरा योगस्मृतिरपि प्रत्युक्ता निराकृता वेदितव्येत्यर्थः । अतिदेशस्तु वैदिकहिरण्यगर्भप्रणीतत्वेन सेश्वरत्वेन प्रमाणत्वशङ्कानिराकरणाय कृतः । योगस्मृतावीश्वरस्वीकारेऽपि तस्यनिमित्तकारणत्वम् । उपादानत्वन्तु प्रधानस्यैवेति न तस्या वेदान्तोपबृंहणत्वं न्याय्यम् ॥२।१।३॥

इति योगप्रत्युक्त्याधिकरणम् ।

अथ विलक्षणत्वाधिकरणम् ।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ॥२।१।४॥

स्मृतिविरोधे परिहृतेऽपि तर्कमाश्रित्य पुनराक्षेपः क्रियते । यदुक्तं सर्वैर्वेदान्तैर्ब्रह्मण उपादानत्वञ्जगतश्चोपादेयत्वमभिधीयत इति तन्नोपपद्यते । चित्स्वरूपान्निरतिशयानन्दादखिलहेयप्रत्यनीकात्स्वाभाविकनित्यनिरतिशयनिरवधिकासंख्येयकल्याणगुणविशिष्टाद्ब्रह्मणोऽज्ञत्वेन दुःखभोक्तृत्वेन जन्ममरणादिभाक्त्वादिना दृश्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य जगतो विलक्षणत्वाद्ब्रह्मोपादानकत्वाऽसम्भवात् । यद्यस्माद्विलक्षणं न तत्तत्कार्यमिति नियमः । यथा मृद्विलक्षणस्य पटस्य न मृत्कार्यत्वं यथा वा गोधूमविलक्षणस्य कोद्रवस्य न गोधूमकार्य्यत्वम् ।

एतद्वैलक्षण्यञ्च कुतोऽवगतमित्यत आह तथात्वञ्च शब्दादिति । न केवलं प्रत्यक्षादिना वैलक्षण्यमवगम्यते किन्तु शब्दादप्यवगम्यते । तथा हि "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।" (मु० ३।१।१) "अस्मान्मायी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) "विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च" (तै०२।६।३) "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्त्वा" (श्वे० १।१२) इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यस्तयोर्वैलक्षण्यस्य स्पष्टमवगमात् ॥२।१।४॥

नन्वचेतनत्वेनावगतानामिन्द्रियादीनामपि चैतन्यमुपवर्ण्यते तेह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति (बृ० १।३।२) "ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्माणं जग्मुः" "तं ह पृथिव्यब्रवीत्" (बृ० ५।५।२) "आपोऽब्रुवन्" (शत० प० ब्रा० ६।१।३।२।४) इत्यादौ पृथिव्यादिविशेषपदार्थानामपि चैतन्यं श्रूयते इत्यत आह—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥२।१।५॥

तुशब्दः शङ्कानिवर्तकः। न पृथिव्यादिमात्रस्यायं व्यपदेशः अपि तु पृथिव्याद्यभिमानिदेवतानाम्। कुत इदमवगम्यते ? विशेषानुगतिभ्याम्। विशेषो विशेषणम्। "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" (छा० ६।३।१) इति देवतापदस्य पृथिव्यादिविशेषणस्य श्रवणात्। छान्दोग्ये बृहदारण्यके च प्राणानां विवादः श्रूयते कौषीतकिब्राह्मणे तु "एता ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमाना" (कौ० ब्रा०) इति प्राणानां देवतापदेन विशेषितत्वात्। एवं "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" (ऐ० १।२।४) "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" (ऐ० १।२।४) इत्यादावग्न्यादित्यादीनां मुखादिष्वनुगतानुप्रवेशस्य श्रवणाच्च। "पृथिव्यब्रवी"दित्यादेस्तदभिमानिनी देवताब्रवीदित्यर्थस्तथा च जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वमेवेति प्रधानकार्यत्वेन वेदान्तनियतमिति ॥२।१।५॥

एवमातर्किते समाधानमाह—

दृश्यते तु ॥२।१।६॥

तुना पक्षो व्यावर्त्यते। चेतनप्रसिद्धपुरुषाच्च विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिरचेतनाद्ध्यादेश्च। कृम्यादीनामुत्पत्तिर्गोमयादेः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नस्य वृश्चिकस्योत्पत्तिर्दृश्यते । तस्मान्नायं नियमो यस्य यत्कार्यं तत्तस्मादविलक्षणमिति । विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावदर्शनात् । "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (का० १।२।९) इति श्रुत्या च तर्कस्याप्रतिष्ठानोक्तेर्ब्रह्मविलक्षणस्य जगतस्तत्कार्यत्वं निष्पद्यते । तस्माद्ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतोब्रह्मकार्यत्वमुपपन्नतरम् ॥२।१।६॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥२।१।७॥

ननु पुरुषात्तदुत्पन्नकेशनखादीनां विलक्षणत्ववत् गोमयाद्योत्पन्नस्य वृश्चिकादेर्वैलक्षण्यवत्कारणाद्ब्रह्मणः कार्यभूतं जगद्विलक्षणं चेत्तर्हि कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वेन कारणे ब्रह्मणि कार्यस्य जगतोऽविद्यमानत्वेनासत एव जगत उत्पत्तिः प्रसज्येतेति चेन्न । निरुक्तदृष्टान्तानां कार्यकारणयोः सालक्षण्यनियममात्रस्य प्रतिषेधः कृतो । न तु तयोरनन्यत्वस्य सालक्षण्यस्य वा । मृद्घटसुवर्णकुण्डलादीनां कारणकार्य्याणां सालक्षण्यदर्शनात् ।

अयम्भावः । यथा मृत्सुवर्णादीनां त्रिवृत्कृतत्वेन त्रिभूतात्मकत्वेऽपि मृदादीनामेव तत्र प्राधान्यात्तत्सर्वमेकेन मृच्छब्देनोच्यते । एवं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य कारणावस्थस्य ब्रह्मणस्तत्त्वत्रयात्मकत्वेऽपि तत्र ब्रह्मणः प्रधानत्वात् तत्त्वत्रयमप्येकेन ब्रह्मशब्देनोच्यते "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" (बृ० १।४।१०) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) इत्येवमादिभिः । यथा च तत्र घट इति नामधेयं विकारो रचनाविशेषो वाचारम्भणं वागालम्बनमात्रं मृत्तिकैव सत्यम् तथा जगदिति नामधेयं जगदाकारो विकारो रचनाविशेषो वाचारम्भणं वागालम्बनमात्रं वस्तुतश्चिदचिच्छरीरकं ब्रह्मैव सत्यमिति सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैव कारणम् । तदेव स्थूलचिदचिच्छरीरं कार्यमिति कारणकार्यावस्थञ्च सर्वं ब्रह्मैवेतीममेवार्थं "सर्वं ह्येतद्ब्रह्म" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्व-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मसि" "सदा रामोहमित्येतत्तत्त्वतः प्रवदन्ति ये । न ते संसारि
नूनं राम एव न संशयः" इत्येवमाद्याः श्रुतयो ज्ञापयन्ति । तद
ब्रह्मतत्कार्ययोः सालक्षण्यादेव ब्रह्मणः सर्वजगत्कारणत्वम् । तज्ज
नेन सर्वजगज्ज्ञानञ्चोपपद्यते न तयोर्वैलक्षण्येन । तथा स्वीय
कारणज्ञानेन तत्कार्यज्ञानानुपपत्तेः । "आत्मनि खल्वरे दृष्टे
मते विज्ञाते सर्वमिदं विदितं भवति" इत्येकज्ञानेन सर्वज्ञानप्रति
ज्ञायाः "यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेनेत्यादिदृष्टान्तानाञ्च वैय
स्यात् । एवञ्चासत्कार्यवादस्य न ब्रह्मकारणवादे प्रसरो वेदान्त
सत्कार्यवादस्यैवाभ्युपगमात् । तथा च नासदुत्पत्तिरिति ॥२।१।७॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥२।१।८॥

पुनराशङ्कते । ननु ज्ञानशक्त्यादिगुणकं ब्रह्मैव स्वस्माद्विलक्षण
जगदाकारेण परिणमते तेन तदेव चोपादानमस्य जगत इति यदु
तदसमञ्जसम् । कुतः ? अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गात् । अपीतिः प्रल
सृष्ट्यादेरुपलक्षकः । जगतो ब्रह्मणि प्रलये तत उत्पत्तावपि जगत
दज्ञत्वकर्मपरवशत्वदुःखित्वादिजगद्धर्माणां ब्रह्मणि प्रसङ्गात् ॥२।१।८

अत्र समाधानमाह—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥२।१।९॥

तु शब्दोवधारणे । उक्तमसमञ्जसं नास्त्येव । कुतः ? दृष्टान्त
भावात् । एकस्यैवावस्थाद्वयेन्वय इत्यवस्थागुणदोषसम्बन्धाभा
दृष्टान्तसद्भावात् ।

अयमभिप्रायः । "यथा सर्वगतः सौक्ष्म्यादाकाशो नोपलि
प्यते । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय तथात्मा नोपलिप्यते" (गी०) इति
स्मृतेः । यथा बालत्वयुवत्वस्थाविरादयः शरीरस्यावस्थाविशेषा
स्तच्छरीरिण्यात्मनि न सम्बद्धयन्ते । ज्ञानसुखादयश्चात्मधर्मा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शरीरे। एवं ब्रह्मशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगताः कर्मवश्यत्वाज्ञत्वादयो धर्माश्चिदचिच्छरीरिणि कार्यकारणोभयावस्थान्वयिनि परस्मिन्ब्रह्मणि न सम्बद्धयन्ते। ब्रह्मगताश्चापहतपाप्मत्वादयो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजस्त्वादयो धर्मा न तच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुनीति सुगमः पन्थाः। सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनः परमात्मशरीरत्वं परमात्मनस्तदात्मत्वञ्चासकृच्छ्रुतिषूपदिष्टम्। "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३।७।३) इत्यारभ्य "यो विज्ञाने तिष्ठन्, यस्य विज्ञानं शरीरं, य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" (बृ० ३।७।२२) इत्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणादिषु प्रसिद्धम्। एवं च सर्वस्य चिदचिन्मयस्य जगतः परब्रह्मशरीरत्वश्रवणान्नोक्तदोषावकाशः ॥ २।१।९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥२।१।१०॥

सांख्यैरुद्भावितानां दोषाणामदोषत्वान्न वेदान्तमते काचिदनुपपत्तिः। सांख्यमत एव तेषां दुष्परिहरत्वम्। तथा हि, न ह्यचेतनात्प्रधानाच्चिदचिन्मिश्रस्य जगत उत्पत्तिरुपपद्यते। अचेतनस्य प्रधानस्य तत्तज्जीवकृतपूर्वकर्मज्ञानाभावेनानेकप्रकारजगदुत्पादकत्वानुपपत्तेः। अन्यथा प्रधाने वैषम्यनैर्घृण्यदोषापत्तेश्च। न ह्यचेतनस्य गोमयस्य तत्पूर्वकर्मज्ञानरहितस्य वृश्चिकोत्पादकत्वमुपपद्यतेपि तु तदन्तर्गतस्य सर्वव्यापकस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मण एव प्रधानाद् वृश्चिकोत्पादकत्वम् ॥२।१।१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादपि ॥२।१।११॥

तर्कस्याप्रतिष्ठानादप्रतिष्ठितत्वाच्च न समन्वयविरोधगन्धोपीत्यर्थः। कथं तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वमिति चेत्। इत्थम्। एकेन तार्किकेणानुमितस्यार्थस्य तदधिकबुद्धिमतान्यथानयनात्तेनानुमितार्थस्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ततोप्यधिकबुद्धिमतान्यथानयनादेवं कपिलपतञ्जल्यादितर्काणा-
मन्योन्यविरोधिनामन्ताभावेनानवस्थादोषग्रस्तत्वात्, अनुमेयवस्त-
निश्चायकत्वाच्च । एतेन श्रुत्यनुकूलस्तर्क एव प्रमाणं तत्प्रतिकूलश्च-
प्रमाणमित्यायातम् । एवं च श्रुतिसमन्वयस्य विरोधिनः कपिलादि-
तर्कस्याप्रमाणत्वान्न तेन समन्वयविरोधः शङ्कनीयः ॥२।१।११॥

अन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥२।१।१२॥

धूमज्ञानानन्तरं वह्न्यर्थिनः प्रवृत्तिदर्शनात्तस्य वह्निप्राप्तिदर्श-
नाच्च पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यस्यानुमानस्य प्रतिष्ठितत्वनिश्च-
यादीदृशेनाप्रतिष्ठिततर्कादन्यथान्यप्रकारेण प्रतिष्ठिततर्केणासमन्वय-
विरोधादिकमनुमेयमिति चेदिति शङ्कां परिहरति—एवमप्यविमोक्ष-
प्रसङ्ग इति । अनुमानस्य प्रत्यक्षसापेक्षत्वान्महानसादौ वह्निधूमयो-
र्व्याप्तिं दृष्ट्वा धूमस्य वह्निलिङ्गनिश्चयानन्तरं पर्वतादौ धूमलिङ्गं दृष्ट्वा
तेन वह्नेरनुमेयत्वावगमात् । प्रकृतेतु ब्रह्मतल्लिङ्गयोरप्रत्यक्षत्वेन
तद्व्याप्तिज्ञानाभावाल्लिङ्गज्ञानं विना लिङ्गिब्रह्मानुमानासंभवान्न ब्रह्म-
णस्तर्कैगम्यत्वमुपपद्यते । अपि चान्यत्र प्रतिष्ठितस्यापि श्रुतिविरोधि
तर्कस्य प्रकृते ब्रह्मण्यप्रतिष्ठानादीदृशस्यापि तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वदो-
षादविमोक्षप्रसङ्गः । तस्माद्वेदविरोधितर्कस्याप्रमाणत्वान्न तेन सम-
न्वयविरोधः ॥२।१।१२॥

(इति विलक्षणत्वाधिकरणम् ।)

(अथ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ।)

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥२।१।१३॥

एतेन तर्कमूलकपिलस्मृतिनिराकरणेन शिष्टैर्न परिगृह्यन्त इति
शिष्टापरिग्रहाः शिष्टैरपरिग्रहीताः पतञ्जलिकणादगोतमादिस्मृ-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

योऽपि व्याख्याता निरस्ता इत्यर्थः। वेदविरुद्धार्थपराणां सर्वेषां तर्काणां वेदबाधितत्त्वेनाप्रमाणत्वादिति भावः ॥२।१।१३॥

(*इति शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्* ।)

(*अथ भोक्त्रापत्त्याधिकरणम्* ।)

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥२।१।१४॥

पुनरपि ब्रह्मकारणवादी यौक्तिकमतमास्थाय सांख्यैराक्षिप्यते। यदुक्तं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकम्ब्रह्म कारणावस्थमुपादानं तदेव च स्थूलचिदचिच्छरीरं सदुपादेयमिति तन्नोपपद्यते। स शरीरत्वे तस्य जीवस्येव शरीरप्रयुक्तसुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेः। ततश्च प्रत्यगात्मनोऽविभागो विभागाभावाद्ब्रह्मणोऽपि जीवभावापत्तिस्स्यात्। ननूक्तमेव बालत्वस्थाविरादयः शरीरधर्मा न प्रत्यगात्मनि न वाङ्मत्वादयस्तद्धर्माः परमात्मनि सम्बद्ध्यन्त इति चेत्सत्यम्। शरीरगतबालत्वादिविकाराणामात्मन्यसम्भवेऽपि शरीरधातुसाम्यवैषम्यहेतुकस्यात्मनि सुखदुःखसंयोगस्यावश्यम्भावात्।

तथा चोक्तम्।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुःप्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।

इति। तथा "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" (छा० ८।१२।१।) इति च। तथा च परमात्मनोऽपि शरीरसामान्यात्तस्यापि जीवस्येव सुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेर्जीवेश्वरयोरविभागापत्तिः स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते—स्याल्लोकवत्—कर्मपरवशतया

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भोक्तुर्जीवाद्दिव्यकल्याणगुणसागरस्य परमात्मनो विभागः स्यादेव। न हि शरीरसंयोगहेतुकः सुखदुःखोपभोगोऽपितु पुण्यपापरूपकर्महेतुक इति न शरीरसंयोगनिबन्धनः सुखदुःखयोस्संसर्गः। अतश्चैकस्मिञ्छरीरे वसतोरपि जीवेश्वरयोः कर्मफलभोक्तृत्वेन स्वरूपस्वभावयोर्विभागः "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति" (मुण्ड ३।१।१) इति। यथा लोके समानाधिकरणयोरपि भृत्ययोः स्वस्वामिनोर्मध्य एको दरिद्रश्चापरस्तु धनी इति स्पष्टमेव तयोर्विभागः। एवञ्च ब्रह्मणो जगदुपादानत्वेऽपि न विकारित्वाज्ञत्वादिदोषापत्तिः। चिदचिच्छरीरकस्यैव तस्य जगदुपादानत्वस्वीकारात्। "विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्" इति प्रामाण्याद्विकारित्वादीनां ब्रह्मशरीरभूताचित्पदार्थे पर्यवसानात्। अज्ञत्वसुखदुःखभोक्तृत्वादीनान्तु तच्छरीरभूतचित्पदार्थे जीवे पर्य्यवसानाद्ब्रह्मणः सर्वान्तर्यामितयाकाशादिवदव्यापकत्वेऽपि तत्तत्संश्लेषरहितस्य तस्य प्रकृतिजीवगतानां विकारित्वाज्ञत्वादिदोषाणां सम्बन्धस्यानुपपत्तिः।

तर्हि "ब्रह्म वा इदमग्र आसी" दिति श्रुतिसिद्धं ब्रह्मोपादानं जगदिति वचनं कथमुपपद्यताम्। प्रकृतिजीवपरमात्मनां त्रयाणामपि जगदुपादानत्वादिति चेदुच्यते। यथा पृथिव्यास्त्रिवृत्कृतत्वेन त्रिभूतात्मत्वेऽपि तत्र पृथिव्या एव प्राधान्यात्सर्वं त्रिभूतात्मकमपि पृथिवीशब्देनोच्यते। तथा जगदुपादानत्वस्य तत्त्वत्रयनिष्ठत्वेऽपि तत्र ब्रह्मण एव प्राधान्यात्तत्त्वत्रयमपि ब्रह्मशब्देनैवोच्यते। यथा च "तासांत्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा० ६।३।२।) इतिश्रुत्या पृथिव्यप्तेजसां त्रिवृत्करणत्वनिश्चयात् दृष्टान्तभूतस्य "यथा सोम्यैकेनमृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यस्यापेजोविशिष्टं मृण्मयमस्तीति विज्ञातं स्यादित्यर्थस्य निष्पन्नत्वात्। तथा दार्ष्टान्तस्यापि चिदचिद्विशिष्टस्य कारणस्य ब्रह्मणो विज्ञानेन सर्वं तत्कार

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जगत् चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयमितिराद्धान्त इति सर्वमनवद्यम् ॥ २।१।१४ ॥

इति भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ।

(अथारम्भणाधिकरणम् ।)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥२।१।१५॥

किं कारणाद्ब्रह्मणस्तत्कार्यं जगदन्यदाहोस्विदनन्यदिति संशये कारणभूताद् ब्रह्मणोऽन्यदेव जगत् । कुतः ? ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्यादिविरवधिकनिरतिशयासंख्येयकल्याणगुणविशिष्टादानन्दमयाद्ब्रह्मणोऽज्ञत्वानीशत्वकर्मवश्यत्वदुःखित्वादिधर्मवतो जगतोऽन्यत्वावगमात् । कार्यकारणबुद्धेरेकरूपत्वाऽनुपपत्त्याऽनेकरूपत्वनिष्पत्तेः । न हि मृच्छब्देन घट उच्यते घटशब्देन मृद्वा तथा न जगच्छब्देन ब्रह्मोच्यते ब्रह्मशब्देन जगद्वेति । वाच्यवाचकशब्दभेदादपि कार्यकारणयोर्भिन्नत्वमेव तस्मान्न ब्रह्मणोऽनन्यत्वं जगत इति प्राप्त आह तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इति । तयोः कार्यकारणयोर्जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वमेव । यद्वा तस्मात्कारणाद् ब्रह्मणस्तत्कार्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्त्वमेव कुतोऽवगम्यते तत्राह । आरम्भणशब्दादिभ्य इति । आरम्भणशब्द आदिर्येषां वाक्यानां तेभ्य इति विग्रहः । "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० ६।१।४) "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (छा० ६।८।४) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।८।७) इत्यादिभ्यो वाक्येभ्यः परस्माद् ब्रह्मणो जगतोऽनन्यत्वमवगम्यते । यथैकेन मृत्पिण्डेन समारब्धा घट-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शरावादयः कारणभूतात्तस्मान्मृत्पिण्डाद् द्रव्यान्तरत्वेन नाति रिच्यन्ते ।

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य" मित्रा रभ्यते—आलभ्यते स्पृश्यत इत्यारम्भणम् । बाहुलकात्कर्म ल्युट् । वाचा–वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः । उदकाहरण दिव्यवहारार्थं मृदेव नामधेयान्तरसंस्थानान्तरभाग्भवति । तत देवोक्तं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । मृदेव प्रमाणेनोपलभ्यते । न द्रव्यान्तरम् । यथैकस्मिन्नेव देवदत्तेवस्थाभेदैर्बालो युवा स्थविर वुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यन्ते । तथैव प्रकृतेऽ ज्ञेयम् । अतो न कार्यकारणविषयाया वुद्धेरेकरूपत्वानुपपत्त्यो रूपत्वसिद्धिः । अत एव न वाच्यवाचकशब्दभेदोऽपि ।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१ इत्यत्र सदेवासीदिति सृष्टिप्राक्काले ब्रह्माभेदप्रतिपादनमुखेन सत् यँवादमुत्त्वा तद्विरोध्यसत्कार्यवादं नैयायिकाभिमतं वाचारम्भणा त्यादिना प्रतिक्षिप्तमपि कण्ठतः प्रतिक्षेप्तुं तन्मतं "तद्धैक आहु देवेदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) इत्यादिनोपन्यस्य "कथमस सज्जायत" (छा० १।२।२) इत्यादिना निराकृतम् । तदेतत्कार्य स्थस्य कारणावस्थस्य च चिदचिद्वस्तुनः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च ब्रह्मशरीरत्वम् । परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वमन्तर्यामिब्राह्मणा सिद्धं स्मारितम् । अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयावस्थिते रूपव्याकरणवचनाच्चिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यम् । वेदमग्र एकमेवासीदित्यादिसर्वमुपपन्नतरम् । शरीरभूतचि द्वस्तुगतास्सर्वे विकाराश्चापुरुषार्था इति ब्रह्मणो निरवद्यत्वं कल्य गुणाकरत्वञ्च सुस्थितम् ।

अत्रेदं तत्वम् । चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वशब्दाभिधेयम् । तत्कदाचित्स्वस्मात्स्वशरीरतयाऽपि पृथग्भू

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम् । तत्कारणावस्थं ब्रह्म । कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम् । तच्च कार्यावस्थमिति कारणात्परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्च कारणावस्थायां कार्यावस्थायाञ्च श्रुतिशतसिद्धया स्वभावव्यवस्थया च गुणदोषव्यवस्था "न तु दृष्टान्तभावात्" (ब्र० सू०) इत्यत्रोक्ता बोध्येति सर्वमवदातम् ।

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयणेन वर्णयन्ति न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिद्ध्यति । सत्यमिथ्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेः । तथा सति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वं वा स्यात् । तस्मादस्मदुपवर्णितप्रकारेणैवानन्यत्वं जगद्ब्रह्मणोरिति सिद्धम् ॥२।१।१५॥

भावे चोपलब्धेः ॥२।१।१६॥

कार्यकारणयोर्भावे सद्भावे सति तयोः कार्यकारणत्वोपलब्धेः कार्यस्य कारणानन्यत्वमुपपद्यते, न तु रज्जौ सर्पस्याभावात्तयोरन्यतरस्याभावे । अथवा भावे विद्यमाने मृदादौ घटादीनां सद्भावत्वोपलब्धेर्घटादीनां मृत्परिणामत्वमृद्विकारत्वोपलब्धेः । यद् यस्मिन्न विद्यते तत्तस्मान्नोत्पद्यते । यथा गोधूमाद्गोधूमा एवोत्पद्यन्ते न चणकादयः । चकाराद् भावे विद्यमाने घटादौ मृद उपलब्धेश्च मृदो घटादावन्वयात्तदधिकत्वेन तद्व्यतिरिक्तत्वाच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां घटादिकारणत्वनिष्पत्तेः । यथा कार्याणां घटादीनां तदनन्यत्वं निष्पद्यते तथैव सृष्टेः पूर्वं भावे चिदचिच्छरीरके ब्रह्मणि जगतः सूक्ष्मरूपेण विद्यमानस्य श्रुतिभ्य उपलब्धेः । भावे विद्यमाने जगति चिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो विद्यमानत्वस्य प्रत्यक्षतः शास्त्रतश्चोपलब्धेः ॥२।१।१६॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्त्वाच्चावरस्य ॥२।१।१७॥

अवरस्य कार्यस्य घटादेर्घटाद्युत्पत्तेः प्राङ्मृदादौ सत्वान्मृदो ऽनन्यत्वं यथोपलभ्यते तथा कार्यस्य जगतः सृष्टेः पूर्वं ब्रह्मणः सत्त्वाच्च ब्रह्मानन्यत्वं निष्पद्यते ॥२।१।१७॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद् युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥२।१।१८॥

यच्च कार्योत्पत्तेः प्राक् कारणे सद्भावः कार्यस्याभिहितस्तदुक्तं "असदेवेदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) "असद्वा इदमग्र आसीत्" (श० ब्रा० ६।१।१) इत्यादिनोत्पत्तेः प्रागसत्त्वव्यपदेशादिति चेन्न आसीदिति क्रियायास्तत्सत्त्वबोधकत्वेनासदिति पदस्य नामरूपाभिहितवस्तुपरत्वावगमात्। शिखाध्वस्ते 'शिखी ध्वस्त' इतिवन्नामरूपासत्त्वे वस्तुनोप्यसत्त्वव्यपदेशस्योपपत्तेः।

एतदेव स्फुटयति। धर्मान्तरेणेति। व्याकृतनामरूपधर्मापेक्षया ह्यव्याकृतनामरूपत्वस्य धर्मान्तरत्वात्। तेन धर्मान्तरेणाव्याकृतनामरूपत्वेनास्यासदिति व्यपदेशस्यासन्नामरूपवस्तुपरत्वोपपत्तेः। न ह्यसदितिशब्दस्यात्यन्तासत्त्वबोधकत्वमुपपद्यते। अपि त्वव्याकृतनामरूपवस्तुपरत्वमेव। कुत इदमवगम्यते ? वाक्यशेषात्। "तस्मादसतः सज्जायत" (छा० ६।२।१) "ततो वै सदजायत" "तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै० २।७।) इति वाक्यशेषेऽसच्छब्देनाभिहितस्य वस्तुन एव सच्छब्देनाभिधानात्। तत एव च सदभिधानात्। नह्यत्यन्तासतः सत्त्वं शक्यं वक्तुम्। नवाऽत्यन्तासतः सदसतः सृष्टिः सम्भवतीति प्रकृतेऽसत्पदेनाव्याकृतनामरूपात्मिका व्यपदेशानर्हा सूक्ष्मावस्थैवाभिधीयते।

युक्तिस्तावद् "तस्मादसतः सज्जायत" (छा० ६।१।१)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सच्छब्दोऽव्याकृतनामरूपवस्तुपरः सत एव सदुत्पत्तेर्दर्शनात्। असतः सदुत्पत्तौ कोद्रवादिभ्यो गोधूमचणकादीनामपि कदाचिदुत्पत्तिः स्यात्। सर्वेषु सर्वाभावस्य सत्त्वात्। तस्मादसत सदुत्पत्तेरसम्भवादसच्छब्दोऽसन्नामरूपसद्वस्तुपर एव। शब्दान्तराच्च "सदेव सोम्येदमग्र आसी"दिति सच्छब्देनोपक्रमाच्च सदेवासीत्। तत एव च जगदुत्पत्तेरिति ॥ २।१।१८ ॥

पटवच्च ॥२।१।१९॥

यथा कारणभूतास्तन्तव एव पट इत्यभिधां लभन्ते। तत्र नामरूपावस्थाविशेषस्यैव भेदो न तु वस्तुतो भेदः। एवं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरं ब्रह्मैव स्थूलचिदचिच्छरीरकं जगदित्युच्यते। अत्रापि नामरूपावस्थाविशेषस्यैव भेदो वस्तुतस्त्वभेद इति जगतो ब्रह्मानन्यत्वमेव ॥ २।१।१९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥२।१।२०॥

यथा वायुरिति त्रिवृत्कृतो वायुरेक एव स्थानविशेषमास्थाय प्राणापानादिसंज्ञां लभमानः कार्यान्तराणि विधत्ते। तथैव सूक्ष्मत्रिदचिच्छरीरं ब्रह्मापीह स्थूलचिदचिच्छरीरं भवज्जगदित्याख्यां लभत इति जगतो ब्रह्मानन्यत्वं सिद्धम् ॥ २।१।२० ॥

इत्यारम्भणाधिकरणम्।

(अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम्।)

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२।१।२१॥

इतरस्य जीवस्यारम्भणशब्देन "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसी"त्यादि"भिर्ब्रह्माभेदेन तदनन्यत्वव्यपदेशात्। ब्रह्मणश्च "यतो वा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इमानि" (तै० ।३।१।) इति नामरूपव्याकरणपूर्विकायाः सृष्टेः क्र
णात् । जगत्सर्गे जीवस्य दुःखित्वजरामरणादिब्रह्मधर्मैरहित
दर्शनाद्, ब्रह्मणि स्वानन्यस्य जीवस्य हिताकरणादि हित
वाञ्छितस्याकरणम् । आदिपदेनावाञ्छितस्यादुःखजरामरणा
करणं चेतिदोषस्य प्रसक्तिः स्यादतो ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं जग
स्तदनन्यत्वं च न सम्भवतीति ॥ २।१।२१ ॥

सिद्धान्तयति—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् ॥२।१।२२॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । जन्मजरामरणादिदुःखराहे
वादधिकमर्थान्तरभूतम्ब्रह्म । कस्मात् ? भेदनिर्देशात् । "ज्ञाज्ञौ
द्वावजावीशानीशौ" (श्वे० ६।९) "स कारणं करणाधिपाधि
(श्वे० ६।९) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (श्वे० ६।१) "पृथगात्मा
प्रेरितारञ्च मत्वा" "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचा
शीति" (मु० ३।१।१।) "यस्यात्मा शरीरम्" (बृ० ३।७।२
इत्येवमादिभिः सर्वज्ञत्वेशत्वतत्पतित्वतत्स्रष्टृत्वाकर्मवश्यत्वत
व्यत्वादिधर्मैरज्ञत्वादिधर्मवतः प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणो भेदेन नि
शात् । व्याप्यत्वेनाल्पदेशवर्तिनः प्रत्यगात्मनो व्यापकत्वेनाधि
देशवर्तिनः परमात्मन आधिक्यनिर्देशाच्च । तथा च तत्वमस्यादि
श्रुतयो जीवस्य ब्रह्मव्याप्यत्वेन तदपृथक्सिद्धेस्तदभिन्नसत्ताकत्वा
नन्यत्वं ज्ञापयन्ति । ज्ञाज्ञावित्येवमाद्याः श्रुतयो जीवब्रह्मणो स्व
भेदं बोधयन्ति । एवञ्च जीवपरयोर्भेदस्य श्रुतिशतसिद्धत्वा
वानां प्राक्तनकर्मानुगुण्येन ब्रह्म तद्विलक्षणां सृष्टिं करोति । त
विधकर्मानुसारेण सुखदुःखादिभाक्त्वं जीवानामिति न कश्च
ब्रह्मण्युक्तदोषप्रसक्तिः । न वा तस्य तदनन्यत्वविरोधो न च स्व
भेदबाधोऽपि सम्भवति ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परैर्भेदश्रुतीनामौपाधिकत्वमभेदवादिनीनान्तु पारमार्थिकत्वमित्युच्यते। तदयुक्तम्। तथा सति हिताकरणादिदोषस्यानिवार्यत्वं स्यात्। अभेदश्रुतीनां पारमार्थिकत्वं भेदश्रुतीनान्त्वौपाधिकत्वमित्युक्तौ प्रमाणाभावश्च।

एवञ्च "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" (ब्र. सू. २।१) इत्यनेन जगतो ब्रह्मोपादानत्वं तेन तदनन्यत्वमुपपाद्य तत्र केवलस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं चिदचिद्विशिष्टस्य वेत्याशङ्कानिवृत्तये केवलस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे जगद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिमभिधायाधिकन्तु भेदनिर्देशादिति चिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं स्फुटीकृतम्। ततश्च तत्वमस्यादिश्रुतीनां ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वबोधनेन साफल्याद् भेदश्रुतीनां केवलस्य तस्य जगत्कारणत्वे दोषनिदर्शनेन चिदचिद्विशिष्टस्यैव ब्रह्मणो जगदुपादानत्वस्फुटीकरणत्वेन सार्थक्यादुभयविधश्रुतीनां सार्थक्यं निष्पद्यते। जीवब्रह्मणोर्भेदस्य वास्तविकत्वेन लौकिकवैदिकव्यवहाराणां कर्मज्ञानभक्तियोगप्रतिपादकश्रुतीनामर्थपञ्चकबोधकानां सर्वेषां वेदान्तानां वेदोपबृंहणीभूतस्मृतीतिहासपुराणादीनाञ्च सर्वेषां सार्थक्यमुपपद्यतेतराम्। जीवस्वरूपस्य काल्पनिकत्वे तु सर्वमिदमसङ्गतं स्यात्। तत्माद्वेदैकप्रमाणैः सर्वेषां वेदान्तानां सार्थक्यनिष्पत्तयेऽवश्यं ब्रह्मणो भिन्नस्य जीवस्वरूपस्य वास्तवत्वमङ्गीकर्तव्यमिति॥ २।१।२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः॥२।१।२३॥

यथा पृथिवीविकाराणामश्मनां वज्रवैडूर्येन्द्रनीलपद्मरागादीनां पृथिव्यैक्यमुपपद्यते। यथा काष्ठभेदानां तृणादीनामचिद्विशेषाणामचिदैक्यञ्चोपपद्यते न तु निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणसागरब्रह्मस्वरूपेणैक्यम्। तथा चेतनस्यापि कर्मपरतन्त्रत्वाज्ञत्वानी-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शत्वनियम्यत्वादिधर्मकस्यापहतपाप्मत्वसर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनि-
यामकत्वादिधर्मविशिष्टेन ब्रह्मस्वरूपेणैक्यानुपपत्तिरवगन्तव्येति
"अयमात्मा ब्रह्म" तत्त्वमसीत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्देशस्तु "च
स्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतिभिर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वेन ब्रह्मप्रका
त्वावगमार्थ इति सर्वं समञ्जसम् ॥२।१।२३॥

इति सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ।

अथोपसंहारदर्शनाधिकरणम् ।

उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्धि ॥२।१।२४॥

लोके कुलालादेर्दण्डचक्राद्युपसंहारदर्शनादुपादानस्य मृदः त
भिन्नकुलालाद्युपसंहर्तृदर्शनाद्वाऽसहायस्य ब्रह्मणो न जगत्कर्तृत्वं तदु
पादानत्वञ्चोपपद्यत इतिप्राप्त आह "इति चेन्न, क्षीरवद्धी"ति । यथा
क्षीरमसहायं दध्याकारेण परिणमते तद्वच्चिदचिच्छरीरं ब्रह्म
जगदाकारेण परिणमते । दृष्टान्तभूतस्य क्षीरस्य त्रिगुणकत्वे
न्यात्मकत्वान्न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विरोधः । श्रुतिरपिजगत्सृष्टौ नि
पेक्षत्वमेव ब्रह्मणोऽभिधत्ते "स कारणं करणाधिपाधिपो न च
कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।९।) इति । अत्र यथाक्षीरं
दध्याकारेण परिणामेऽधिश्रयणादिसंस्कारादियोगोऽपेक्षितस्तथा ब्रह्म
प्रकृतियोगमाश्रित्य जगज्जनयतीति दृष्टान्तसाम्यम् ॥२।१।२४॥

देवादिवदपि लोके ॥२।१।२५॥

यथा देवादयः स्वे स्वे लोके स्वसंकल्पमात्रेणैव वस्तूनि सृज
न्ति । तथा परमात्मापि स्वसंकल्पमात्रेण सर्वं जगदुत्पादयतीति
२।१।२५॥

इत्युपसंहारदर्शनाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ कृत्स्नप्रसक्त्याधिकरणम् ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२।१।२६॥

ननु ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं न सम्भवति । कुतः ? तस्य सावयवत्वे कृत्स्नस्य दुग्धस्य दध्याकारेण परिणामवत्कृत्स्नस्य ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणामप्रसक्तेः । ततश्च तस्य कार्यातिरिक्तत्वानुपपत्तेः । चिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मणः कारणत्वकर्मत्वपक्षेऽपि शरीरंशस्यापि तस्य कार्यत्वप्रसङ्गः । तस्य निरवयवत्वपक्षे निष्कलमित्यादिनिरवयवत्वशब्दकोपप्रसक्तेरिति न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमिति पूर्वपक्षः ॥२।१।२६॥

सिद्धान्तयति—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२।१।२७॥

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । नैव कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति । कुतोऽवगम्यते ? श्रुतेः । "एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पूरुषः" (यजु०) "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" "स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्" (यजु०) इत्येवं कृत्स्नस्य जगतस्तत्पादमात्रत्वश्रवणात् । ब्रह्मणो जगद्व्यतिरिक्तत्रिपादत्वेनाधिक्यश्रवणाच्च । "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगदि" ति गीतास्मृतेश्च । ननु दुग्धदध्यादिन्यायेन श्रुतेर्बाधितत्वान्न तदुक्तमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह शब्दमूलत्वादिति । "नैषातर्केण मतिरापनेया" (का. १।२।९) इति श्रुतेस्तर्काप्रतिष्ठानादित्यादिन्यायाच्च "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३।९।२६) इति तस्योपनिषन्मात्रगम्यत्वस्यैवाभिधानात् । "नावेदविन्मनुते तम्बृहन्तम्" (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति च ब्रह्मणो वेदमनधिगतवतोऽज्ञेयत्वबोधनेन तस्य वैदिकप्र-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माणकत्वं निष्पद्यते । तथा ज सावयवनिरवयवत्ववादिभिर्वचनो न विरोधो ब्रह्मणो जगदुपादानत्वस्येति ॥२।१।२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२।१।२८॥

विचित्राश्च यथान्येकदेशस्यानेकप्रकारवस्तुकरणेनानेक शक्तिर्दृश्यते । यथा जलैकदेशस्यानेकप्रकारवस्तुपिण्डीकरणेनाने कधा शक्तिरवगम्यते । एवं ब्रह्मण्यपि विचित्रसृष्टिरचनाहेतुभू विचित्राः शक्तयः सन्ति । तथा च "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त ज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः । भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता" (वि० पु० अ० १ अ० ३।२ इति विष्णुपुराणवचनादवगम्यते । एवञ्च सूक्ष्मचिदचिच्छरीरक ब्रह्मणोऽपि विचित्रजगद्रचनोपपद्यते ॥२।१।२८॥

इतश्च ब्रह्मण एव जगत्कर्तृत्वम् ।

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २।१।२९ ॥

सांख्यपक्षेपि प्रधानस्य सावयवत्वे निरवयवत्वे च कृतत्वप्र क्तथादिदोषप्रसक्तेश्च ॥ २।१।२९ ॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥२।१।३०॥

पूर्वं परादेवता सर्वशक्तियुक्तेत्यभिहितम् । तस्याश्च सर्वशक्ति युक्तत्वमिदानीमनेन दर्शयति। सर्वोपेता सर्वशक्तियुक्ता परादेव कुतः ? तद्दर्शनात् । "सर्वकर्मा सर्वगन्धः" "पराऽस्य शक्तिर्विविध श्रूयते" (श्वे० ६।८।) इत्येवमादिश्रुतिषु तस्याः सर्वशक्तियो स्पष्टमभिधीयते ॥ २।१।३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥२।१।३१॥

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" (श्वे० ६।८) इति ब्रह्मणः करण रहितत्वश्रवणान्न जगत्कारणत्वमुपपद्यत इति चेत्तदुक्तम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्रोत्तरं वक्तव्यं तत्पूर्वमेवोक्तम् "विलक्षणत्वात्" "देवादिवदपि लोके" "श्रुतेश्च शब्दमूलत्वात्" इत्यादिषु। "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।९।) "प्रधानक्षेत्रज्ञनियामकस्य च 'स कारण' मिति सर्वकारणत्वश्रवणात्"। "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यत" इति तु विलक्षणविविधशक्तेस्तस्य करणाधीना जगद्रचना नास्तीति ज्ञाप्यते। अन्यथा "स कारणं कारणाधिपाधिप" इति श्रौतवाक्येन सम विरोधः स्यादेकस्याऽप्रामाण्यं वेति यथोक्तमेव मन्तव्यमिति ॥ २।१।३१ ॥

इति कृत्स्नप्रसक्त्याधिकरणम्।

(अथ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम्।)

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥२।१।३२॥

स्वत एवाप्तसमस्तकामस्य ब्रह्मणो जगत्सृष्ट्यादिव्यापारो न सम्भवति। कुतः? सृष्ट्यादिव्यापारस्य प्रयोजनवत्त्वात्। प्रयोजनमन्तरेण प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ॥ २।१।३२ ॥

सिद्धान्तमाह—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥२।१।३३॥

यथा राजादेर्लोके कन्दुकादिक्रीडाविशेषाः केवलं लीलारूपा एवोपलभ्यन्ते तथाऽवाप्तसमस्तकामस्यापि ब्रह्मणो जगत्सृष्ट्यादयो व्यापारा लीलाकैवल्यमेव। केवलमेव कैवल्यम्। लीलामात्रमिति भावः ॥ २।१।३३ ॥

ब्रह्मणो लीलार्थमपि जगत्सृष्ट्यादिकं न सम्भवति, देवमनुष्यपशुपक्षिकृमिकीटादिविषमसृष्ट्या तत्रैव वैषम्यप्रसक्तेः। सर्वसंहर्तृत्वेन च नैर्घृण्यप्रसक्तेरित्याशङ्क्याह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥२।१।३४॥

ब्रह्मणो विषमसृष्टिजगत्संहारप्रयोजके वैषम्यनैर्घृण्ये न स्त
ताम्। कुतः? सापेक्षत्वात्। जीवानां पूर्वकर्मसापेक्षत्वात्। परमेश्व
जीवकृतपूर्वशुभाशुभकर्मानुसारेण देवमनुष्यादिरूपां विषमां सृ
तत्संहारञ्च करोति। अतस्तत्तत्कर्मैव तत्तद्वैषम्ये तत्संहारे
हेतुर्न परमेश्वरः। तथा हि दर्शयति। पूर्वार्जितकर्मानुसारेण शुभ
मशुभाञ्च सृष्टिं दर्शयति श्रुतिः। "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भव
पापः पापेन" (बृ० ४।४।५) इति न चात्र कर्मैव देवमनुष्यादिसृ
र्हेतुश्चेत्तर्हि किमीश्वरेणेति वाच्यम्। बीजे सत्यपि पर्जन्यमन्तरे
ङ्कुरोत्पत्तिर्यथा न भवति तथा कर्मसु सत्स्वपि परमात्मानमन्तरे
न देवमनुष्याद्याकारा जगत्सृष्टिरुपपद्यत इति ॥२।१।३४॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥२।१।३५॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।
इत्यादिना सृष्टेः पूर्वं कर्माविभागनिश्चयान्न तदानीं कर्मास्तीत्य
स्तत्सापेक्षा विषमा सृष्टिर्नोपपद्यते। अथेश्वरस्यैव तत्तत्कर्मणोऽ
कर्तृत्वमभ्युपेयत इतिचेत्तत्तत्कर्मोत्पादनहेतुका तत्र वैषम्यनैर्घृण्य
पत्तिस्तदवस्थैवेति चेन्न, जीवानां कर्मणाञ्चानादित्वाद्बीजवृक्ष
कर्मणां देवमनुष्यादीनाञ्च हेतुहेतुमद्भावस्यानादित्वावगमात्। कुल
संसारस्यानादित्वमित्यत आह—उपपद्यते चाप्युपलभ्यते चेति
अकस्मादेव सृष्टिस्वीकारे पूर्वसृष्टिसादृश्यानुपपत्तिः। मुक्तस्य
पुनः सृष्टिप्रसङ्गो दुर्निवारः। तस्माज्जगतोऽनादित्वमभ्युपेय
श्रुतिस्मृत्योरप्यस्यानादित्वमुपलभ्यते। "अजामेकां लोहितशुक्ल
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते"

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

४।५।) इति प्रकृतिपुरुषयोरजत्वश्रुतेः "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्युत्तरसृष्टेः पूर्वसृष्टिसादृश्यश्रवणाच्च जगतोऽनादित्वं सिद्धम् ।

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।" (गी०) इति प्रकृति-पुरुषयोस्तत्संसर्गरूपसंसारस्य चानादित्वस्मरणात् ॥२।१।३५॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥२।१।३६॥

प्रधानकारणतायां येषां धर्माणामनुपपत्तिरुक्ता तेषां कारणत्वोपपादकानां धर्माणां समेषामेव पूर्वोक्तानामनुक्तानामप्यनवधिकनिरतिशयासंख्येयज्ञानशक्त्यादिगुणविशिष्टे ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव जगत्कारणमितिनिरवद्यम् ॥२।१।३६॥

इति प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥ १ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ।

समतीतेन ग्रन्थेन सांख्यादिकल्पितानर्थनिरासेन वेदान्त क्यानां परमपुरुषे ब्रह्मणि समन्वयः प्रदर्शितः । अथ मुमुक्षु सम्यग्ब्रह्मस्वरूपावगमाय सांख्यादिमतदूषणप्रधानो द्वितीयप आरभ्यते—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥२।२।१॥

पूर्वं वेदान्तानां प्रधानपरत्वनिरासेन ब्रह्मपरत्वमेवदृढीकृतमि तु वेदविरुद्धानां प्रधानसाधकयुक्तीनां मृषात्वमुच्यत इति न पौन रुक्त्यम् । तत्र सांख्याभिमतः केवलमचेतनं प्रधानं जगतः कारण मिति वादः किं सद्युक्तिमूल आहोस्विदसद्युक्तिक इति संशयः । कि युक्तम् ? सद्युक्तिमूल इति । तथा हि गुणत्रयात्मकं जगत्प्रधानं पादानकमेव स्यात् । जगतः सुखदुःखमोहमयत्वात् । सुखादीनाम् सत्वादिगुणानां कार्यत्वात् । यद्यन्मयं तत्तदुपादानकमेव लोके दृष्टम् । यथा मृण्मयो घटो मृदुपादानक एवेति । एवञ्च सुखदुःख मोहात्मकत्वेन दृश्यमानं सर्वं जगत्सत्वादिगुणत्रयात्मकमेवेति सद्युक्तिकः प्रधानकारणवाद इति प्राप्त आह । रचनानुपपत्तेश्च नानु मानमिति । अनुमानमनुमानसिद्धं प्रधानं न जगतः कारणम् कुतः ? रचनानुपपतेः । अचेतनस्य प्रधानस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्ति त्वाभावेन स्रष्टव्यज्ञानतद्रचनाशक्त्यसिद्ध्या विचित्रजगद्रचनाव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पपत्तेः। चकारात्प्रधानस्याचेतनत्वेन जीवैर्जन्मान्तरानुष्ठितयोः पुण्यपापयोस्तद्व्रतबहुत्वाल्पत्वयोश्च ज्ञानमेव न स्यात्। तदभावे च सृष्टिवैषम्यमपिदुःशकम्। आकस्मिकविषमसृष्टौ च सम्पन्नयोर्वैषम्यनैर्घृण्ययोः प्रधान एवापत्तिः स्यात्। अतोचेतनस्य प्रधानस्य सर्वज्ञं ब्रह्मान्तरेण नोपपद्यते जगदुपादानत्वम् ॥२।२।१॥

* प्रवृत्तेश्च ॥२।२।२॥

अनुपपत्तेरित्यनुवर्तते। सत्त्वादीनां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते। तत्साम्यावस्थास्पन्दनानन्तरमेव गुण अङ्गाङ्गिभावमासाद्य कार्यं जनयन्तीति सांख्यसमयः प्रधानस्वतन्त्रकारणत्वे स चानुपपन्नः। लोके चेतनानधिष्ठितस्याचेतनस्य प्रवृत्त्यदर्शनात्, चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य विचित्रजगद्रचनानुरूपायाः साम्यावस्थास्पन्दनरूपायाः प्रवृत्तेरनुपपत्तेश्च न प्रधानं स्वातन्त्र्येण कारणम् ॥२।२।२॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥२।२।३॥

वत्सपानार्थं स्वयमेव क्षीरस्य प्रवृत्तिदर्शनाज्जलस्य स्वयमेव प्रस्रवणदर्शनाच्च प्रधानस्यापि स्वयमेव तद्वत्प्रवृत्तिरुपपद्यत इति चेत् परिहरति तत्रापीति। तत्रापि परमात्मन एव प्रेरकत्वश्रवणात्। "योऽप्सु तिष्ठन् यस्यापः शरीरम् योऽपोन्तरो यमयति" (बृ० ३।८।४।) "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।१५) इत्यादिश्रुतयः परमपुरुषस्यैव तत्र तत्र नियामकत्वमभिदधते ॥ २।२।३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥२।२।४॥

"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानादिति" सांख्यवचनात् "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति श्रुतेश्चाव्याकृतनाम-

* इदं सूत्रं श्रीभाष्ये नास्ति। विद्यते च निम्बार्कभाष्ये शाङ्करभाष्ये च।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूपस्य कृत्स्नस्य प्रधानस्य व्याकृतनामरूपात्मकव्यक्तशब्दवाच्यब्र
द्रूपत्वावगमात्स्वतन्त्रस्य प्रधानस्य कारणत्वे तस्य कार्यव्यतिरेकेण
नवस्थितेरवस्थितेरभावप्रसङ्गात्। ननु ज्ञशब्दवाच्यस्य पुरुषस्य ब्र
व्यतिरेकेण कारणतयाऽवस्थितिरस्त्वित्याशङ्क्याह "अनपेक्षत्वात्
"न प्रकृतिर्न विकृतिःपुरुषः" (सां० का०) इति सांख्यैः पुरुष
कारणत्वकार्यत्वयोरुभयोर्निषेधेन प्रधानस्य कार्यरचनायां चेतनस
कारित्वानपेक्षत्वादनभ्युपगमादित्यर्थः। तस्मान्न प्रधानस्य स्वा
न्त्र्येण जगत्कारणत्वमुपपद्यते। ब्रह्मणः कारणत्वे तु "पादोऽ
विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" "अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्" इत्
वमादिश्रुतिभ्यः "विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्
इति स्मृतेश्च ब्रह्मणः पादांशमात्रेण जगदुपादानत्वावगमादवशि
ष्टस्य कार्यव्यतिरेकेणावस्थितेर्नोक्तदोषावकाश इति ॥२।२।४॥

अन्यात्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥२।२।५॥

यथा धेन्वादिभक्षितं तृणादिकं स्वयमेव क्षीराकारेण परिणमत
तथा प्रधानमपि स्वयं जगदाकारेण परिणमते इति चेन्न। तत्र तृणादे
क्षीराकारपरिणामे परमेश्वरस्य हेतुत्वात्। अन्यथा बलीवर्द
दिभुक्तस्यापि तृणादेः क्षीराकारेण परिणामः स्यादित्याह अन्यत्र
भावाच्चेति। अन्यत्रानडुदादौ भुक्तस्य तृणादेः क्षीराकारेण परिण
माभावात् गोमयाद्याकारेण परिणामस्य दर्शनाच्च ॥२।२।५॥

अभ्युपगमेप्यर्थाभावात् ॥२।२।६॥

प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमेपि प्रयोजनाभावान्न तत्प्रवृत्ति
रुपपद्यत इत्यर्थः। तथा हि, प्रधानस्य प्रवृत्तिः स्वार्था वा पुरुष
भोगार्था वा तन्मोक्षार्था वा ? नाद्यः। प्रधानस्याचेतनत्वेनाप्रे
भावात्। न द्वितीयः। भोग्यानामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। न

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तृतीयः। भोगाभावप्रसङ्गात्। प्रधानस्याप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च। तदेवं प्रयोजनाभावात्तत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्न प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कारणत्वम् ॥२।२।६॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥२।२।७॥

अचेतनमपि प्रधानं चेतनःपुरुषो निष्क्रियोऽपि स्वसन्निधानमात्रेण सर्गादौ प्रवर्तयति यथा सचक्षुः पङ्गुः पुरुषोऽन्धमपङ्गुम्प्रवर्तयति। यथा वायस्कान्ताश्मा स्वसन्निधानमात्रेणायः प्रवर्तयति तद्वदिति चेत् परिहरति। तथापीति। तथापि दोषसद्भावात्। तथा हि प्रधानस्य पुरुषप्रवर्त्यत्वे तत्स्वातन्त्र्यहानिः। पुरुषस्य प्रवर्तकत्वे तस्यौदासीन्याकर्तृत्वयोर्भङ्गः। तस्य स्वव्यापारमन्तरेण प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। अयस्कान्तस्यायःसान्निध्यव्यापारस्तु कादाचित्कत्वेनानित्य इति दृष्टान्तासिद्धेः। प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यत्वेन तत्संसर्गस्यापि नित्यत्वात्सृष्टेः सार्वदिकत्वेन मोक्षाभावप्रसङ्गः ॥२।२।७॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥२।२।८॥

गुणत्रयसाम्यावस्था हि प्रकृतिः तस्याः कूटस्थत्वपक्षे गुणानामङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः सृष्टिप्रवृत्त्यभावः। कुतः? गुणानामचेतनत्वेन कूटस्थतयाऽन्योन्यनिरपेक्षत्वेन तत्साम्यावस्थाप्रच्युतेरभावात्। कथञ्चित् तेषां प्रच्युतिस्वीकारे कौटस्थ्यहानिः। प्रकृतेर्विकारित्वे तु स्वतः साम्यावस्थायाः प्रच्यवस्वीकारेण सर्वदा सृष्टिप्रसङ्गः। न च पुरुषसन्निधानादेव साम्यावस्थाभङ्ग इति वाच्यम्। तस्यौदासीन्यादकर्तृत्वाच्च। सन्निधिमात्रेण कार्यसत्वे तु प्रकृतिपुरुषयोरुभयोरपि नित्यत्वात्सर्वदा सान्निध्ये शश्वत्सृष्टिप्रसङ्गः। तस्मात्तत्प्रच्युत्यसिद्ध्यातदङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः सृष्ट्यभावाद्यनेकदोषापत्त्या न प्रधानस्य जगत्कारणत्वमुपपद्यते ॥२।२।८॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥२॥२॥९॥

इदं जगत्त्रिगुणात्मककारणकं भवितुमर्हति, त्रिगुणमयत्वात् यद् यन्मयं भवति तत् तस्य कार्यं भवति । यथा मृण्मयं घटादि मृदः कार्यं भवतीत्यन्यथानुमितौ जगत्सृष्टेर्गुणानामङ्गाङ्गिभावं वि नुपपत्त्या तदङ्गाङ्गिसंभवाज्जगदुत्पत्तिः संभवतीति चेन्न । ज्ञ ज्ञशक्तिवियोगात् । गुणानां ज्ञानशक्तिसंयोगरहितत्वात् । एवं म्भवति । गुणानां स्वतः साम्यावस्थातः प्रच्यवो निमित्तान्त वा । न तत्राद्यः । सर्वदा वैषम्यप्रसङ्गात् साम्यावस्थाया एवा प्रसङ्गात् । न द्वितीयः । निमित्तान्तरस्य तदानीमसत्वात् । त प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वम् ॥२।२।९॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥२।२।१०॥

सांख्या हि प्रकृतेः परार्थत्वेन पुरुषो द्रष्टाभोक्ताधिष्ठाता चेत्या पुनः पुरुषश्चैतन्यमात्रवपुर्नित्यो निर्विकारो न द्रष्टा न भोक्ता न क चाहुः । पुनस्तस्यैव चैतन्यमात्रवपुषो निष्क्रियस्य नित्यस्य वि कारस्येतरेतराध्यासकृतप्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तद्विवेकरूपो मो श्चेति तेषां परस्परविरुद्धभाषणात्, तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्र क्वचिच्चाहंकारात् तत्सर्गं क्वचिदेकादशेन्द्रियाणि क्वचित्त्वगि ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तर्भाव्यैकं त्वगिन्द्रियं पञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्च सप्तेन्द्रियाण्याहुरित्येवमन्योन्यप्रतिषेधात्तेषां दर्शनमसमञ्ज ॥ २।२।१० ॥

इति रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(अथ महद्दीर्घाधिकरणम् ।)

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥२।२।११॥

एवं प्राधानिकवादं समालोच्य परमाणुकारणवादः समालोच्यते । तत्रायं संशयः । किम्परमाणुकारणवादस्य सामञ्जस्यमाहोस्विदसामञ्जस्यम् ? तत्र सामञ्जस्यमिति पूर्वः पक्षः । कुतः ? अवयवेभ्योऽवयव्युत्पत्यङ्गीकारात् । सर्षपमेरुपर्वतादिवैषम्यस्याल्पावयवबह्ववयवकृतत्वदर्शनाच्चावयवाल्पत्वकाष्ठा परमाणुरिति परमाणुसिद्धिः । ते च परमाणवो द्व्यणुकाद्युत्पादनक्रमेणाखिलं ब्रह्माण्डं जनयन्तीतिप्राप्ते सिद्धान्तमाह महद्दीर्घवदिति । असमञ्जसमित्यनुवर्तते । वाशब्दश्चार्थकः । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घवत् त्र्यणुकद्व्यणुकोत्पत्तिवदन्यत्सर्वं च तदभ्युपगतमसमञ्जसम् । तत्र काणादा द्वयोः परमाण्वोः संयोगात् द्व्यणुकं जायते त्रयाणां द्व्यणुकानां संयोगात् त्र्यणुकमुत्पद्यते । एवं चतुरणुकादिकमपिज्ञेयम् । तत्र परिमण्डलात् द्व्यणुकमणु जायते परिमण्डलगतं पारिमाण्डल्यन्तु न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यपरिमाणञ्जनयति । किन्तु परमाणुसमवेतद्वित्वसंख्यैव द्व्यणुकेऽणुत्वमारभते । एवं द्व्यणुकगतह्रस्वाणुत्त्वे परिमाणे त्र्यणुके स्वसमानजातीये ह्रस्वत्वाणुत्वे मारभेते अपि तु द्व्यणुकगतत्रित्वसंख्यैव महत्त्वदीर्घत्व आरभत इति वदन्ति ।

तदेतदसमञ्जसम् । यथा कारणभूता अवयवाः संयुज्यमाना अवयविनं कार्यरूपं महान्तं जनयन्ति तथाऽवयवगते ह्रस्वत्वाणुत्वपरिमाणे संयुज्यमाना अवयविनि महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणे किन्न जनयतः । यथा वावयवानां बहुत्वे तदवयविकार्यं बृहज्जायते तथावयवपरिमाणबहुत्वेऽवयविपरिमाणमपि महद्दीर्घं वा जायताम् । त्रित्वसंख्यायाश्च्यणुकगतमहत्परिमाणकारणत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वाच्च ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किञ्च जगत्कारणत्वेन स्वीकृतानां परमाणूनामपि जडत्वेन चेतनाधिष्ठितिमन्तरेण कार्योत्पादकत्वानुपपत्तेः। परमाणुसमूहभूतानां पृथिव्यादीनाञ्च "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१) इत्येवमादिसृष्टिवाक्येषु परमात्मनः एवोत्पत्तेः श्रवणाच्च परमाणुकारणवादस्य स्पष्टमसामञ्जस्यं श्रुतिमूलकत्वञ्च ॥२।१।११॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥२।२।१२॥

सृष्टेः पूर्वं निश्चलयोः परमाण्वोः कर्मणान्योन्यसंयोगेन द्वयणुकाद्युत्पन्ति वदन्ति वैशेषिकाः। तत्कर्मादृष्टकारितम्। तदृष्टमणुगतं जीवगतं वा? नाद्यः पक्षः। अणोरचेतनत्वेन कर्मकर्तृत्वानुपपत्त्या दृष्टस्य तद्गतत्वानुपपत्तेः। द्वितीये, जीवगतादृष्टस्य तन्नामरूपव्याकृतिद्वारा तत्पुण्यपापकर्मफलसुखदुःखभोगहेतुत्व श्रवणाददृष्टपरमाण्वादिकर्मकारयितृत्वानुपपत्तेरित्युभयथापि न कर्म कर्माभावात्तदभावो द्वयणुकाद्युत्पत्तिक्रमेण जगत्सृष्टयभावः ॥२।२।१२॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥२।२।१३॥

तदभाव इत्यनुषज्यते। तस्य परमाणुकारणवादस्याभाव इत्यर्थः। असम्भव इति यावत्। कुतः? समवायस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाभावेभ्यः पृथक्पदार्थत्वेन वैशेषिकैरङ्गीकारात्। कार्यकारणयोः समवायसम्बन्धत्वस्वीकाराच्च। साम्यादनवस्थितेः। कारणकार्याभ्यां परमाणुद्व्यणुकाभ्यां समवायिभ्यामत्यन्तभिन्नः समवायः केन सम्बन्धेन समवायिभ्यां परमाणुद्व्यणुकाभ्यां सम्बध्येत। भिन्नत्वसामान्यात्। समवायिभ्यामसम्बद्धस्य सम्बन्धत्वानुपपत्तेः। ततश्च समवायस्यापि समवायिभ्यां भिन्नत्वसामान्यात् सम्बन्धान्तरेण तत्सम्बन्धत्वानुपपत्तेः। स समवायः समवायान्तरेण

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समवायिभ्यां सम्बध्यत इत्यवश्यं वक्तव्यं ततश्च सोपि समवाय केन सम्बध्यत इत्यपेक्षायां समवायान्तरेण सोपि समवायान्तरेणेत्यन्ताभावेनानवस्थारूपदोषप्रसक्तेः । कार्यकारणयोः स्वाभाविकस्वरूपसम्बन्धत्वाङ्गीकारे समवायस्य लोपप्रसङ्गात् । ततश्च समवायासिद्धया समवायित्वासिद्धेर्द्व्यणुकाद्युत्पत्यभावेन जगद्रचनासिद्धेः परमाणुकारणवादस्यासिद्धिः ॥२।२।१३॥

नित्यमेव च भावात् ॥२।२।१४॥

समवायो नित्य इतिचेत्तर्हि समवायिनोः परमाणुद्व्यणुकयोर्नित्यत्वं विना समवायस्य नित्यत्वानुपपत्तेः । समवायिनोः परमाणुद्व्यणुकयोर्द्वयोरपि नित्यमेव भावात्तयोः कार्यकारणभावासिद्धेः परमाणुकारणवादासिद्धिः ॥२।२।१४॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥२।२।१५॥

वैशेषिका हि परमाणूनामणुत्वं नित्यत्त्वं रूपस्पर्शादिमत्वञ्च मन्यन्ते । तेषाञ्च परस्परविरुद्धत्वात्तन्मतमसङ्गतम् । कुतः ? रूपस्पर्शादिमत्वविरोधेन परमाणूनामणुत्वनित्यत्वयोर्विपर्ययः । अणुत्वस्य नित्यत्वस्य विपर्ययः स्थूलत्वमनित्यत्वञ्चेति बोध्यम् । तथा हि जगत्कारणंतवेन स्वीकृतानां परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः स्थूलत्वमनित्यत्वञ्च भवितुमर्हति । तेषां रूपादिमत्वात् । यद्यद्रूपादिमत् तत्तत्स्थूलमनित्यञ्च लोके दृष्टम् । रूपादिमतः पटादेः स्थूलत्वानित्यत्वयोर्दर्शनात् । तस्मान्न परमाणुकारणवादस्य सामञ्जस्यम् । २।२।१५॥

उभयथा च दोषात् ॥२।२।१६॥

परमाणूनां रूपादिमत्त्वपक्षे तत्र स्थूलत्वानित्यत्वप्रसक्तिः । तेषां रूपादिरहितत्वपक्षे रूपादिमतां त्र्यणुकादीनां पृथिव्यादीनाञ्च

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तत्कार्यत्वासिद्धिः। अपरपरमाणुगुणानां रूपादीनां पृथिव्यादिषु दर्शनात्। कार्यगुणस्य कारणगुणपूर्वकत्वमिति हि तन्नयस्तथा चोभयथा दोषादनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥२।२।१६॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥२।२।१७॥

सांख्यतन्त्रस्य सत्कार्यत्वाद्यंशेन शिष्टैर्मन्वादिभिः परिगृहीतत्वात् परमाणुकारणवादस्य तु केनचिदप्यंशेन कैश्चिदपि शिष्टैरपरिगृहीतत्वादनुपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षा कार्या परमाणुकारणवादे मुमुक्षुभिरिति ॥२।२।१७॥

इति महद्दीर्घाधिकरणम्।

अथ समुदायाधिकरणम्।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥२।२।१८॥

वैशेषिका आत्मनः स्थायित्वं मन्यन्ते देहादेराशुतरविनाशित्वं चेत्यतोर्धवैनाशिकाः। सर्वक्षणिकत्ववादिनो बुद्धमुनिशिष्यास्तु वैभाषिक-सौत्रान्तिक-विज्ञानवादि-सर्वशून्यवाद्याख्याः पूर्णवैनाशिकाः। तत्र वैभाषिका ज्ञानं तद्भिन्नपदार्थाश्च सर्वे क्षणिकाः सत्याः प्रत्यक्षग्राह्याश्चेति मन्यन्ते। सौत्रान्तिकाः सर्वे पदार्थाः क्षणिका अनुमेयाश्चेति मन्यन्ते। विज्ञानवादिनः (योगाचाराः) सर्वे पदार्था विज्ञाने कल्पिता इति मन्यन्ते। शून्यवादिनः (माध्यमिकाः) सर्वं ❀ शून्यमिति मन्यन्ते। एते पूर्णवैनाशिका

❀ न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ इति वचनानुसारेण निर्वचनीयार्थकोहि शून्यशब्दः। परमतत्त्वस्य वाङ्मनसयोरगोचरतया तत्र शून्यशब्द व्यवहारः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्ष्यन्ते । अर्धवैनाशिकमतं निरस्य पूर्णवैनाशिकमतनिरासमुपक्रमते । सौगतमते पृथिव्यादिबाह्यसमुदायः परमाणुहेतुकः । आध्यात्मिकसमुदायः पञ्चस्कन्धहेतुकः । रूपवेदना संज्ञासंस्कारभेदेन स्कन्धाः पञ्च । तेषु विज्ञानस्कन्धचित्तमित्यात्मेत्युच्यते । अन्ये स्कन्धाश्चित्तप्रभवत्वाच्चैत्ता इत्युच्यन्ते । एवं च स्कन्धपञ्चकाज्जगज्जायते । उक्ताभ्यामुभाभ्यां समुदायाभ्यां जगदुत्पद्यते इति तन्मतनिष्कर्षः । तन्निराक्रियते "समुदाय उभयहेतुकेपि तदप्राप्तिः" इति । परमाणुहेतुके पृथिव्यादिभूतात्मके बाह्यसमुदाये, स्कन्धहेतुके शरीरेन्द्रियविषयरूपाध्यात्मिकसमुदाये चेत्युभयहेतुकेपि समुदाये तदप्राप्तिस्तस्य जगदात्मक समुदायस्याप्राप्तिः । परमाणूनां स्कन्धानां चाचेतनत्वेन चेतनपरमात्मप्रेरणां विना तत्समुदायत्वानुपपत्तेः । तत्समुदायकर्तुश्चेतनस्यानभ्युपगमाच्च । एवं च सर्वकारणानां परमाणूनामचेतनत्वेन परस्परसंहतिहेतुकव्यापारानुपपत्तेस्तेषां क्षणविनाशित्वेन संघातानुपपत्तेश्च न कथञ्चिदपि तेभ्यस्तत्समुदायात्मक जगदुत्पत्तिरुपपद्यते ॥२।२।१८॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघात-भावानिमित्तत्वात् ॥२।२।१९॥

कार्यं प्रत्ययते व्याप्नोतीति व्युत्पत्त्या प्रत्ययशब्दः कारणवाचकः । अविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदनेत्येवं जातीयकानामविद्यादीनामितरेतरप्रत्ययत्वादितरेतरकारणत्वाद् घटीयन्त्रवत् सततमावर्तमानानामविद्यादीनामर्थान्निमित्तत्वेन संघात उपपद्यते । एतदुक्तं भवति । क्षणिकेष्वपि सर्वेषु भावेषु, यैयमविद्याऽस्थिरेषु स्थिरत्वबुद्धिरूपा तया चैतदुपपन्नं भवादेवेति चेन्न, नह्यविद्यया समुदायः शक्यते समुत्पादयितुम् । तस्याः संघातभावस्यानिमित्तत्वात् । विपरीतार्थग्राहिकयाऽविद्यया

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहि वास्तविकं कार्यं शक्यते जनयितुम्। शुक्तिरजतादिषु तथाऽदर्शनात् ॥२।२।१९॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२।२।२०॥

घटादौ कार्ये कारणस्य मृदादेर्विद्यमानत्वं दृश्यते न तु तन्नाशः। तन्नाशे तस्य घटादिकारणत्वं नोपपद्येत। भवद्भिस्तूत्तरस्य कार्यस्योत्पादे उत्पत्तिकाले पूर्वस्य कारणस्य मृदादेर्निरोधान्नाशाङ्गीकारान्मृदाद्यभावे घटाद्युत्पत्यभावप्रसङ्गात्। कारणानां मृदादीनां विनाशक्षण एव तद्रूपाणां घटादीनां विनाशप्रसङ्गादित्यर्थः। कारणस्य पूर्वक्षणे विनाशात् तत्क्षण एव तद्विकारभूतस्य कार्यस्य नाशाच्च कार्यकारणयोरुभयोरभावे शून्यस्यैवावशेषाद्वृथैवाविद्यासंस्कारादिद्वारा जगदुत्पत्तिकल्पना ॥२।२।२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२।२।२१॥

असति कारणे कार्योत्पत्त्यङ्गीकारेविद्यासंस्कारादीनां कारणत्वकार्यत्वकल्पनारूपायाः प्रतिज्ञाया उपरोधः स्यात्। अन्यथा कार्योत्पत्तिकालपर्यन्तं कारणं तिष्ठतीत्यङ्गीकारे कार्यकारणयोर्यौगपद्यम् एकस्मिन्काले स्थितिप्रसङ्गश्च। कार्योत्पत्तिपूर्वक्षणे कारणस्य विद्यमानात्कार्योत्पादनकालस्य द्वित्रिक्षणत्वोपपत्तेः क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिः स्यादित्युभयतः पाशरज्जुः ॥२।२।२१॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२।२।२२॥

वैनाशिका भावानां बुद्धिपूर्वकमबुद्धिपूर्वकं विनाशाकाशं चेति त्रयमप्यवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यं निर्हेतुकं तुच्छं मन्यन्ते। तत्र सन्तं घटमसन्तं करोमीत्याकारिका बुद्धिः प्रतिसंख्येत्युच्यते। प्रतिकूला संख्या प्रतिसंख्या। संख्या ख्यातिः। तत्पूर्वको निरोधः पदार्थनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः। अतत्पूर्वको निरोधोऽप्रतिसंख्या-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निरोधः। आवरणाभावमात्रमाकाशमिति वदन्ति। तयोर्द्वयोर्निरोधयोः सन्तानिषु घटादिषु सन्ताने मृदादौ घटादिकारणे वाप्राप्तिः प्राप्त्यसंभवः। तयोः कार्यकारणयोर्निरन्वयविनाशासम्भवः। कुतः? अविच्छेदात्। उत्पत्तिविनाशधर्मभागिनो मृदादिद्रव्यस्याविच्छेदात्। किं च सन्तानिनां घटादीनां क्षणिकत्वाद् बुद्धिपूर्वको नाशो नोपपद्यते। तदभ्युपगतोबुद्धिपूर्वकोपि समूलनाशो नोपपद्यते। मूलस्य मृदादेः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। तस्मादुक्तनिरोधयोरसिद्धिः ॥२।२।२२॥

उभयथा च दोषात् ॥२।२।२३॥

बुद्धिपूर्वकमबुद्धिपूर्वकं च भावानां नाशस्यावस्तुत्वनिरुपाख्यत्वनिर्हेतुकत्वतुच्छत्वस्वीकारे घटादेर्वस्तुतस्तत्पूर्वकनाशासम्भवात्। भावविनाशस्यावस्तुत्वे तुच्छत्वे शशशृङ्गस्य कालत्रयेप्यभाववद्भावनाशस्यापि कालत्रये सत्यत्वानुपपत्त्या भावनाशाभाव प्रसङ्गात्। तत्पूर्वकभावनाशस्य वस्तुत्वादिस्वीकारे तदवस्तुत्वनिरुपाख्यत्वनिर्हेतुकत्वतुच्छत्ववादस्य हानिप्रसङ्गादित्युभयथापि दोषादसङ्गतं सौगतमतमित्यर्थः ॥२।२।२३॥

आकाशे चाविशेषात् ॥२।२।२४॥

आत्मन आकाशः संभूत इति श्रुतेराकाशस्याप्यात्मजन्यत्वेन तज्जन्यपृथिव्यादिवद् वस्तुत्वरूपादिमत्त्वाबाधितत्वप्रतीतेरविशेषान्न तस्यापि निरुपाख्यत्वं तुच्छत्वं चेत्यर्थः ॥२।२।२४॥

अनुस्मृतेश्च ॥२।२।२५॥

पुनः क्षणिकत्वनिराश एव युक्त्यन्तरं दर्शयति। अनु दर्शनादनन्तरं स्मृतिरनुस्मृतिस्तस्या अनुस्मृतेश्च बलात्स्मर्तुरात्मनः क्षणिकत्वं नोपपद्यते। अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणानुपपत्तेः ॥२।२।२५॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२।२।२६॥

पूर्वस्य क्षणिकत्वेन विनष्टत्वात्तदभावान्निरुपाख्यात्कार्योत्पत्तिर्न सम्भवति। कुतः? असतः शशविषाणादेः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वात्। अथवा दृष्टत्वादितिच्छेदः। सत एव मृदादेः घटादिकार्योत्पत्तेर्दृष्टत्वादित्यर्थः ॥२।२।२६॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२।२।२७॥

एवमसतोऽभावाद्भावोत्पत्त्यङ्गीकारे केषाञ्चिदुदासीनानां तूष्णीमुपविष्टानां लौकिकवैदिकव्यापारेषु कृषियज्ञादिषु प्रवृत्तिरहितानामपि स्वाभीष्टस्यैहिकामुष्मिकस्य सर्वार्थस्य सिद्धिः स्यात्तस्माद्बाह्यार्थस्य क्षणिकत्वानुमेयत्ववादिनोवैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतस्य भ्रान्त्यैकमूलत्वादसामञ्जस्यमिति ॥२।२।२७॥

इति समुदायाधिकरणम्।

अथोपलब्ध्यधिकरणम्।

नाभाव उपलब्धेः ॥२।२।२८॥

निरुक्तेनाधिकरणेन बाह्यार्थक्षणिकत्ववादिमतं निरस्य विज्ञानातिरिक्तं किञ्चिन्नास्तीतिविज्ञानवादिनो योगाचारस्य मतमपाक्रियते। तद्योगाचारमतं समीचीनयुक्तिमूलमाहोस्विद्भ्रान्तिमूलमिति संशये समीचीन युक्तिमूलमिति पूर्वः पक्षः। कुतः? बाह्यार्थास्तित्ववादिनापि तत्तद्ज्ञानेनैव विषयव्यवस्था तत्पार्थक्यञ्चाभ्युपेयम्। तथा चावश्यस्वीकरणीयविज्ञानेनैवेष्टसिद्धावर्थाङ्गीकारस्यायुक्तत्वात्। घटपटादयोऽर्थाश्च विज्ञानस्यैवाकारभेदाः। वासनावशाज्ज्ञानस्यैव तथा सन्तानः। नीलपीताद्याकाराणामपोहरूपत्वाद्विज्ञान एवाहि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्संस्कारत्वेनाखिलविषयकचित्तेरुपपत्तेस्तदतिरिक्तपदार्थसद्भावस्यानुपपत्तेः। इति प्राप्तेऽभिधीयते। नाभाव उपलब्धेरिति। विज्ञानातिरिक्तानामर्थानामभावो नोपपद्यते। कुतः? उपलब्धेः। घटपटादिकमहं जानामीति घटादिविषयकज्ञानकर्तृणां पुरुषाणां तज्ज्ञेयभूतानां घटपटादीनामर्थानां च विज्ञानात्करणभूतात्पृथक्तयोपलब्धेः। न च विज्ञानाकारेण पदार्थानां भानानुपपत्तिरिति वाच्यम्। घटादिसारुप्यं प्राप्तस्य विज्ञानस्य तत्स्वरूपाकारेणैव भासमानत्वात्। अन्यथा घटादिपदार्थसद्भावं विना तत्तदाकारेण तत्तद्भानानुपपत्तेः। किञ्च यदि विज्ञानातिरिक्तः कश्चित्पदार्थ एव न स्यात्तर्हि कस्य किमर्थं विज्ञानं नीलाद्याकारतामुपयातीति वक्तव्यम्। नहि विज्ञानमेव स्वयं स्वार्थं तत्तद्रूपतामुपैति। प्रयोजनाभावात् ॥२।२।२८॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२॥२॥२९॥

स्वप्नज्ञानदृष्टान्तेन जागरितज्ञानस्य निरालम्बनत्वं न शक्यते वक्तुम्। कुतः? वैधर्म्यात्। स्वप्नादिज्ञानस्य मनःकल्पनामात्रत्वेन बाधितविषयत्वाज्जागरितज्ञानस्य तु प्रत्यक्षप्रमाणजन्यत्वेनाबाधितविषयत्वादित्युभयोर्ज्ञानयोर्वैधर्म्यात्। चकारादृष्टान्तभूतस्वप्नप्रत्ययोऽपि न सर्वथा मिथ्याभूतः क्वचित्तस्यापि साफल्यदर्शनात् ॥२।२।२९॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥२।२।३०॥

बाह्यार्थानां घटादीनामभावे केवलस्यार्थविहीनस्य ज्ञानस्य भावो नोपपद्यते। कुतः? अनुपलब्धेः। प्रत्यक्षसिद्धस्य विषयस्याभावेऽप्रत्यक्षस्य विषयिणो ज्ञानस्याप्यनुपलब्धेः। विषयिणो विषयपदार्थनिरूपितत्वेनैकस्याभावेऽपरस्याप्यभावत्वनिष्पतेर्न ज्ञानोपलब्धिः स्यादिति ॥२।२।३०॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्षणिकत्वाच्च ॥२।२।३१॥

आलय विज्ञानस्यापि क्षणिकत्वाभ्युपगमात् क्षणान्तरे तस्यापि विनाशान्त तद्भावः। आलयविज्ञानस्य भावः स्थितिर्नास्तीत्यर्थो नोपपद्यत इत्यर्थः ॥२।२।३१॥

इत्युपलब्ध्यधिकरणम् ।

अथ सर्वथानुपपत्त्याधिकरणम् ।

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥२।२।३२॥

दर्शनमित्यस्य स्थाने 'पश्यना' स्थानमिति वक्तव्ये 'तिष्ठना' इति चापशब्दप्रयोगाद् ग्रन्थतोनुपपन्नमुक्तप्रकारेणार्थतोप्यनुपपन्नमिति सर्वथानुपपत्तेर्दूरतोनादरणीयमिदं सर्वथा वेदबाह्यं सौगतमतमिति ॥२।२।३२॥

इति सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ।

(अथैकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ।)

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥२।२।३३॥

सौगतसमयनिरासानन्तरं विवसनानामार्हतानां मतमपाक्रियते तत्र दिगम्बरमतं सद्युक्तिमूलमाहोस्विदसद्युक्तिकमिति संशये सद्युक्तिकमिति पूर्वः पक्षः। तथा हि जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबंधमोक्षाख्याः सप्त पदार्था आर्हतमतसिद्धाः। तत्र जीवः कायपरिमाणकश्चेतनो भोक्ता। अजीवो भोग्यवर्गः। विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः। संवृणोतीन्द्रियचापल्यमिति संवरो यमनियमादिः। निर्जर-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तप्तस्तम्भशिलारोहणादिरूपम्। बन्धपदेन तद्धेतुभूतं कर्मोच्यते। मोक्षः कर्मोच्छित्तिः। एवमणुव्यतिरिक्तद्रव्याणामस्तिकायपदेन ग्रहणम्। तेषां च पञ्चभेदाः जीवधर्माधर्मपुद्गलाकाशास्तिकाया इत्येतेषामवान्तरानन्तभेदा आर्हतदर्शने प्रदर्शिताः। तेषां सर्वेषां सप्तभङ्गीन्यायेन व्यवस्थितिः क्रियते। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यम्, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमिति तत्स्वरूपम्। एकस्यैव पदार्थस्य कथञ्चिदवस्थाभेदेन देशादिभेदेन च सत्वं तस्यैव च प्रकारान्तरेणासत्वम्। एवमेव सर्वत्रानैकान्त्येन पर्यवस्थानमिति। अत्रोच्यते—नैकस्मिन्नसम्भवादिति। न युक्तोऽनेकान्तवादो जैनानामिति। कुतः? एकस्मिन् वस्तुनि नित्यत्वानित्यत्वसत्त्वासत्त्ववक्तव्यत्वावक्तव्यत्वादीनां परस्परविरुद्धानां धर्माणामसम्भवात्। तस्मादसङ्गतमयुक्तञ्च जैनदर्शनम् ॥२।२।३३॥

एवं चात्माकात्स्न्यम् ॥२।२।३४॥

यथैषां मते विरुद्धधर्मावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि न सम्भवति। एवमात्मनोऽकात्स्न्यस्याप्यसम्भवः। आत्मनो देहपरिमाणत्वे कर्मवशान्मनुष्यात्मनो मशकादिक्षुद्रजन्तुशरीरे कृत्स्नस्य प्रवेशानुपपत्तेः। अकात्स्न्यमपरिपूर्णत्वं प्रसज्यते तदानीमल्पपरिमाणत्वात्। अल्पशरीरकमशकाद्यात्मनश्च गजादिकृत्स्नशरीरप्रवेशानुपपत्तेश्चासङ्गतमार्हतमतम् ॥२।२।३४॥

न च पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥२।२।३५॥

न चैवं पर्यायपदवाच्यसंकोचविकाराश्रयतयात्मनोऽवस्थाभेदाङ्गीकारेणापि विरोधपरिहारः। आत्मनः संकोचविकासधर्मवत्त्वे सति विकारित्वादिदोषप्रसङ्गात्। विकारित्वे सत्यनित्यत्वापत्त्या कृतप्रणाशाभ्युपगमस्य बाधात् ॥२।२।३५॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥२।२।३६॥

अन्त्यं मोक्षावस्थस्यात्मनो यत्परिमाणं, तस्यैव स्वाभाविकस्य नित्यस्य बद्धमोक्षावस्थायामप्यवस्थित्युपपत्तेरित्यात्मतत्परिमाणयोरुभयोरुभयावस्थायामपि नित्यत्वादविशेषान्न्यूनाधिकभावानुपपत्तेर्नात्मनः शरीरपरिमाणकत्वमुपपद्यते । तस्मादसमञ्जसमेव विवसनदर्शनम् ॥२।२।३६॥

इत्येकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ।

अथ पत्यधिकरणम् ।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥२।२।३७॥

'नैकस्मिन्नसंभवात्' इति सूत्रान्तेत्यनुवर्तते । पत्युः पशुपतेर्मतं नादरणीयम् । कुतः ? वेदविरुद्धाचारबोधकत्वेनासामञ्जस्यात् । वेदविरुद्धाचरणं तु निमित्तोपादानभेदाभिधानं पशुपतेर्निमित्तकारणत्वाभिधानं मुद्रिकाषट्कधारणं भगासनस्थात्मध्यानं कपालपात्रभोजनं शवभस्मस्नानं सुराकुम्भस्थापनं तदाधारदेवपूजादिकं ज्ञेयम् ॥२।२।३७॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥२।२।३८॥

कुतो वेदविरुद्धानि तद्वचनानीत्याह—सम्बन्धानुपपत्तेश्च । वेदवाक्यैः पशुपतिवाक्यानां सम्बन्धानुपपत्तेः ॥२।२।३८॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥२।२।३९॥

सशरीराणां कुलालादीनामधिष्ठानमवलम्ब्यानुमानादीश्वरस्य प्रधानाधिष्ठानत्वमुच्यते । न च पशुपतेर्निमित्तभूतस्य कुलालादिदृष्टान्तेन प्रधानाधिष्ठानत्वमुपपद्यते । कुलालस्य सशरीरत्वात्स-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दीयमतानुमितस्येश्वरस्याशरीरत्वाद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यात् ॥२।२।३९॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥२।२।४०॥

भोक्तुः क्षेत्रज्ञस्याशरीरस्यैव करणकलेवराद्यधिष्ठानत्ववदीश्वरस्याप्यशरीरस्य प्रधानाधिष्ठानत्वमुपपद्यत इति चेन्न, भोगादिभ्यः। न जीवदृष्टान्तेनेश्वरस्य प्रधानाधिष्ठितित्वमुपपद्यते। जीव इव पशुपतावपि पुण्यपापफलभोगापत्तेः। अदृष्टभोगार्थमेव करणकलेवराद्यधिष्ठानत्वं जीवस्य। त्वदीयमतसिद्धेश्वरस्यापि तथात्वापत्तेर्न प्रधानाधिष्ठानत्वमुपपद्यते ॥२।२।४०॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥२।२।४१॥

वाशब्दश्चार्थे। पशुपतेः पुण्यपापरूपादृष्टवशात्प्रधानाधिष्ठानत्वेऽङ्गीकारे जीववदन्तवत्वं सृष्टिसंहाराद्यास्पदत्वमसर्वज्ञता च स्यादित्यसमञ्जसमेवेदं मतम्। शैवागमे वेदाविरोधिनामपि कियतां धर्माणामुपलब्धिरस्ति तथापि निमित्तोपादानभेदश्वभस्मस्नानभगस्थात्मध्यानादीनां वेदविरुद्धानां धर्माणां तद्दर्शने बाहुल्यादसामञ्जस्यं प्रदर्शितमितिसिद्धम् ॥२।२।४१॥

इति पत्यधिकरणम्।

अथोत्पत्यसम्भवाधिकरणम्।

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥२।२।४२॥

कपिलादितन्त्राप्रमाणत्ववद्भगवत्प्रणीते पञ्चरात्रेऽप्यप्रामाण्यमाशङ्क्य निराकरोति। "वासुदेवात्परमात्मनः संकर्षणाख्यो जीव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उत्पद्यते, तस्मात्प्रद्युम्नाख्यं मनो जायते, तस्मादनिरुद्धाख्योहङ्कारो जायते" इति पञ्चरात्रप्रक्रिया। तत्र जीवस्योत्पत्तिरभिधीयते। तस्माज्जीवोत्पत्तेः 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादिजीवानादित्ववादिश्रुतिविरोधेनासम्भवात् ॥२।२।४२॥

न च कर्तुः करणम् ॥२।२।४३॥

लोके कर्तुर्देवदत्तादेः सकाशात्करणस्य कुठारादेरुत्पत्यदर्शनाज्जीवात्संकर्षणात्करणस्य मनस उत्पत्तिर्न संभवति। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति परमात्मन एव मनस उत्पत्तिश्रवणात्। तस्माच्छ्रुतिविरुद्धार्थे नैषां पाञ्चरात्रिकवचसां तात्पर्यं न वा तन्त्रस्याप्रामाण्यम् ॥२।२।४३॥

कुत्र तर्ह्येतेषां वाक्यानां तात्पर्यमित्यत्राह—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥२।२।४४॥

वाशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते। विज्ञानं च तदादि च विज्ञानादि परं ब्रह्म। संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां परब्रह्मभावे सति 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति श्रुतेः। "संकर्षणोहं प्रद्युम्नोनिरुद्धोहं सनातनः। एक एव चतुर्धागात्" इत्येवमादिगोपालतापिनीयोपनिषच्छ्रुतिभ्यश्च स्वेच्छावतारस्यैवात्राभिधानात्तदप्रतिषेधः। तत्प्रामाण्यस्य प्रतिषेधो नोपपद्यत इत्यर्थः ॥२।२।४४॥

विप्रतिषेधाच्च ॥२।२।४५॥

अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया।
त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते ॥
व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च।
स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः ॥

इत्यस्मिन्नपि तन्त्रे जीवोत्पत्तिप्रतिषेधात्। तुल्यबलवद्विरोधो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विप्रतिषेधः। विप्रतिषेधे परं कार्यमिति वचनाच्छ्रुतेः स्मृतितः प्रबलत्वात् पञ्चरात्रस्मृतेः श्रुत्यनुसारेण नेतव्यत्वात् संकर्षणादीनां खेच्छयैवाविर्भावत्वेनोत्पत्त्यसंभवाद्वेदाविरुद्धत्वेन प्रामाण्यमेवास्य मतस्येति ॥२।२।४५॥

इत्युत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथ वियदधिकरणम् ।

श्रुतिविरुद्धत्वेन परपक्षाणां भ्रममूलकत्वेनाप्रामाण्यमभिधाय श्रुतीनामपि परस्परविरुद्धत्वेनाप्रामाण्यशङ्का स्यादिति तदपाकरणार्थं पश्चात्तनं पादद्वयमारभ्यते । तत्रादौ सृष्टयादिवाक्यानामविरोधं प्रतिपादयितुमाकाशमधिकृत्य पूर्वपक्षयति पञ्चभिः सूत्रैः—

न वियदश्रुतेः ॥२।३।१॥

आकाश उत्पद्यते न वेति संशये नोत्पद्यत एवाकाशः । कुतः ? । अश्रुतेः । श्रुतावुत्पत्तेरश्रुतेः । "छान्दोग्ये-सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय" "तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३।) इति सृष्टिवाक्ये गगनस्योत्पत्तिर्न श्रूयते ॥२।३।१॥

अस्ति तु ॥२।३।२॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्त्तकः । अस्त्येवाकाशस्योत्पत्तिः । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै. २।१।) इति श्रुतेः । नचास्याः स्वरवेणोत्पत्तिमाकाशस्याभिदधत्याः श्रुतेरप्रामाण्यं शक्यमुपकल्पयितुम् । नह्यस्ति परस्परं विरोधो येनैकस्या अप्रामाण्यं स्यात् । छान्दोग्ये तु तेज आरभ्य सृष्टिरुपन्यस्यते । ततः प्रागाकाशस्य तैत्तिरीयश्रुतिसम्मता सृष्टिरवगन्तुं शक्यैवेति न कश्चिद्विरोधः ॥२।३।२॥

भूय आशङ्कते—

गौण्यसम्भवात् ॥२।३।३॥

यदुक्तं "तस्माद्वा एतस्मादात्मन" इति श्रुत्याकाशस्योत्पत्तिरवगम्यत इति तदयुक्तम् तस्याः श्रुतेर्गौणत्वात् । कुतः ? "तत्तेजोऽ-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सृजत" (छा. ६।२।३।) इत्यन्यत्र तेजस एव प्रथमसृष्टिः श्रूयते। तदानुगुण्येन वियदुत्पत्तिश्रुतिर्गौण्येव ॥२।३।३॥

शब्दाच्च ॥२।३।४॥

"वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" (बृ० ४।३।३) इति श्रुतिशब्दाच्चाकाशस्यामृतत्वमुच्यते। तस्मान्न वियदुत्पत्तिः सम्भवति ॥२।३।४॥

ननु "तस्माद्वा एतस्मादात्मन" इति श्रुतौ श्रूयमाणस्य सम्भूतपदस्यैकस्यैवाकाशे गौणत्वमन्यादौ च प्राधान्यमिति कथं संगच्छत इत्याशङ्कायामाह—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥२।३।५॥

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै. २।१) इत्यत्रैकस्यैवाकाशाद्वायुः वायोरग्निरिति सर्वत्रानुषक्तस्य सम्भूतपदस्याकाशे गौणत्वेऽपि वाय्वादौ मुख्यत्वं स्यादेव। ब्रह्मशब्दवत्। यथा ब्रह्मशब्दस्य "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै० ३।१) इत्यादिष्वन्नादिषु गौणत्वं "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै. ३।६।) इत्यत्र च मुख्यत्वम्। तथा प्रकृते सम्भूतपदस्यापि मुख्यत्वं गौणत्वञ्च सम्भवति ॥ २।३।५ ॥

सिद्धान्तयति—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥२।३।६॥

"येनाश्रुतं श्रुतम्भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति च्छान्दोग्यादिष्वेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा प्रतिपादिता। तस्याश्चाहानिराकाशस्य ब्रह्मकार्यत्वेनैव भवति। कारणभूतस्यैकस्य ब्रह्मण एव नित्यत्वेन तदव्यतिरेकात् ब्रह्मकार्यभूतानामाकाशादीनामिति। छान्दोग्याद्युपनिषत्सु वियदादीनामुत्पत्तिर्दृश्यते। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) इति सृष्टेः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रागेकत्वमभिधाय "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" (छा० ६।८।७) इत्यादि-शब्देभ्यश्च ब्रह्मात्मकत्वेनाव्यतिरेकः कार्यभूतेष्वाकाशादिषु प्रतीयते। तेजस उत्पत्तिर्नाकाशोत्पत्तिं प्रतिषेधति ॥ २।३।६ ॥

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ॥२।३।७॥

तु शब्दश्चार्थे। यद्यपि च्छान्दोग्ये "तत्तेजोऽसृजत" इत्यत्राकाशस्योत्पत्तिर्न स्पष्टमभिहिता तथापि "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (छा० ८।६) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्याकाशादेः सर्वस्य ब्रह्मविकारत्ववचनेन सर्वस्य ब्रह्मणो विभाग उत्पत्तिरभिहितैवेत्यवगन्तव्यम्। लोकवत्। यथा लोके मृदो विभागो मृद उत्पन्नस्तथा प्रकृतेऽपीति ॥ २।३।७ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ २।३।८ ॥

एतेन ब्रह्मणो वियदुत्पत्तिरिति व्याख्यानेन वायुरपि वियदन्तर्गतादाकाशभावमापन्नाद्ब्रह्मणः सम्भूत इति वायुरप्युत्पत्तिमत्तया व्याख्यातः। वायोर्लयप्रतिषेधस्तद्विषयकामृतत्ववचनञ्चापेक्षिकम्। वायोर्नित्यत्व एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया हानिः स्यात्। वायोः पृथग्व्याख्यानन्तूत्तरार्थम् ॥ २।३।८ ॥

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥२।३।९॥

तु शब्दोऽवधारणार्थकः। सतः सदा विद्यमानस्य परमकारणस्य परस्य ब्रह्मण उत्पत्त्यसम्भवः। कुतः ? अनुपपत्तेः। ब्रह्मणः कारणत्वान्वेषणे तस्यापि कारणमिति स्यादनवस्था। अपहतपाप्मत्वादिगुणकस्य तस्य जन्महेतुकपुण्यपापाभावेनोत्पत्त्यनुपपत्तेः। "न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।९) इति स्फुटंतज्जनकत्वनिषेधाच्चतज्जन्मानुपपत्तेरिति ॥ २।३।९ ॥

इति वियदधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(अथ तेजोऽधिकरणम् ।)

तेजोऽतस्तथाह्याह ॥२।३।१०॥

छान्दोग्ये ब्रह्मणस्तेजस उत्पत्तिः श्रूयते । तैत्तिरीये तु वायोस्तदुत्पत्तिरित्युभयोर्वाक्ययोरस्ति परस्परं विरोधो न वेति संशये न ह्येकेन पदार्थेन युगपद् द्वाभ्यां शक्यमुत्पत्तुमित्यस्ति विरोध इति प्राप्त आह—तेजोऽतस्तथा ह्याहेति । अतो वायोः सकाशात्तेज उत्पद्यते । तथा ह्याह श्रुतिः "वायोरग्निः" (तै० २।१) अचेतनाद्वायोस्तत्सजातीयस्याचेतनस्य तेजस उत्पत्तिः सम्भवति न तु विजातीयाच्चेतनाद्ब्रह्मणः । तस्माद्वायोस्तदुत्पत्तेर्मुख्यत्वाद्ब्रह्मणस्तदुत्पत्तेश्च गौणत्वान्नास्ति विरोध इति पूर्वपक्षाद्यसूत्रम् ॥ २।३।१० ॥

आपः ॥२।३।११॥

अतस्तथा ह्याहेत्यनुवर्तते । "तदपोऽसृजत" (छा. ६।२।३) इत्यादि छान्दोग्यवाक्यस्य "अग्नेराप" (तै. २।१) इति तैत्तिरीयवाक्येन विरोधोऽस्ति न वेति संशयः । पूर्वपक्षस्तु अतस्तेजस एवाप उत्पद्यन्ते हि यस्मात्तथा तेजसोऽपामुत्पत्तिमग्नेराप इति श्रुतिराहेति ॥२।३।११॥

पृथिवी ॥२।३।१२॥

अत्राप्यतस्तथाह्याहेत्यनुवर्तते । अतः अद्भ्यः पृथिवी जायते हि यस्मात्तथा पृथिव्या अद्भ्य उत्पत्ति "ता अन्नमसृजन्त"(छा.६।२।३) इति श्रुतिराहेति ॥२।३।१२॥

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥२।३।१३॥

पूर्वसूत्रमनुवर्तते । "ता अन्नमसृजन्त" (छा. ६।२।३) इत्यादिवाक्यशब्देन पृथिव्या ग्रहणं कुत इतिचेत्तदाह—अधिकारेत्यादि। तत्सूत्रम् पृथिव्येव । कुतः ? अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । "तत्तेजो-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऽसृजत" इति महाभूतसृष्ट्यधिकारात् "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इति रूपकथनादन्नशब्देनाग्नेजसोः सजातीयाया पृथिव्या एवाभिधानमुच्यते। तथा तैत्तिरीये समानप्रकरणे "अद्भ्यः पृथिवी" (तै. २।१) इत्यद्भ्यः पृथिव्या एवोत्पत्तिरभिधीयते। तथा चादनीयजातस्य पृथिवीविकारतया कार्यमभिदधानोऽयमन्नशब्दः कारणभूताम्भुवमेवाभिधत्त इति ॥२।३।१३॥

तदेवं केवलेभ्यस्तेज आदिभ्य एवाबादिसृष्टिरिति पूर्वपक्षिते सिद्धान्तयति—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥२।३।१५॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। तदभिध्यानकर्ता परमात्मैव तेजोबन्नादीनां सर्वेषां सृष्टिकर्त्ता। तदभिध्यानमीक्षणं बहुस्यामिति संकल्प एव। अयमाशयः "तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेय" (छा. ६।२।३) इति संकल्प्य "तत्तेजोऽसृजत" एवं "तत्तेज ऐक्षत बहु स्याम्प्रजायेयेति तदपोऽसृजत" "ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहि" (छा. ६।२।४) इत्यात्मनो बहुभवनसंकल्परूपेक्षणस्य तेजःप्रभृतिशरीरत्वेनात्मसृष्टिकरणसामर्थ्यस्य च परमात्मन एव सम्भवात्। तेजआदीनामचेतनानां तदसम्भवात्। तथा च तेजआदीनामबाद्युत्पादकत्वानुपपत्तिः। परमात्मनस्तु "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यारभ्य "य आकाशे तिष्ठन् यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।१२) इत्येवमाद्यन्तर्यामिश्रुतिसिद्धाकाशादिसर्वशरीरस्य सत्यसंकल्पस्य विचित्रसृष्टिरचनाशक्तिमतः सर्वज्ञस्याकाशवायुतेजोऽबाद्युत्पादकत्वोपपत्तेः। स एव परमात्माकाशादिशरीर ईक्षणपूर्वकमाकाशादीनामुत्पादक इति सिद्धम् ॥२।३।१४॥

इति तेजोऽधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ विपर्ययाधिकरणम् ।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥२।३।१५॥

तुशब्दोवधारणे । अव्यक्तमहदहङ्काराकाशवायुतेजआदिक्रमाद्विपर्ययेण 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥' इति यः सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मानन्तर्यरूपः क्रमः स तत्तद्रूपाद्ब्रह्मणस्तत्तत्कार्योत्पत्तेरेवोपपद्यते । ब्रह्मणः परम्परया सर्वकारणत्वे तु सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मानन्तर्यरूपः क्रम एतस्माज्जायते प्राण इत्यादिश्रुत्युक्त उपरुध्यते ॥२।३।१५॥

इति विपर्ययाधिकरणम् ।

अन्तराविज्ञानाधिकरणम् ।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥२।३।१६॥

"एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" (तै० २।१) इत्यात्मन आकाशादुत्पत्तिक्रमस्य "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मु० २।१।३) इत्युक्तेनात्मन इन्द्रियाद्युत्पत्तिक्रमेण विरोधोऽस्ति नवेति संशयेऽस्ति विरोध इत्याह—अन्तरेति । विज्ञायतेऽनेनेतिव्युत्पत्त्या विज्ञानशब्देन बुद्धीन्द्रियाणि गृहीतानि स्युः । सर्वेन्द्रियाणि चेतिश्रुत्यनुसारात् । संशयात्मकान्मनसो निश्चयात्मिकाया बुद्धेर्भेदाद्बुद्धेरपि ग्रहणम् ।

तत्रात्मन इन्द्रियाणामुत्पत्तिस्तदनन्तरमाकाशवायुज्योतिराद्युत्पत्तिरित्यात्मनो भूतानाञ्चान्तराल इन्द्रियाणामुत्पत्तौ "एतस्माज्जायते प्राणः" (मु० २।१।३) इतीदं वाक्यमेव लिङ्गं ज्ञापकम् । तस्माल्लि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ङ्गादात्मन इन्द्रियप्राणबुद्धिमनांसि समुत्पद्यन्ते । तेभ्यो भूतानीत्यनेन क्रमेणात्मन आकाशः सम्भूत इति साक्षादात्मन आकाशाद्युत्पत्तिक्रमस्य विरोधोस्तीति चेन्न । कुतः ? अविशेषात् "यस्य पृथिवी शरीरं" "यस्यापः शरीरम्" इत्याद्यन्तर्यामिश्रुतिभ्यः सर्वेषां भूतेन्द्रियादीनां परमात्मशरीरत्वावगमात् । शरीरवाचकशब्दानां शरीरिणि पर्य्यवसानमिति सिद्धान्तात् । एवञ्च भूतेन्द्रियादिपदानां भूतेन्द्रियादिशरीरकब्रह्माभिधायकत्वात्सर्वेषामपि साक्षाद्ब्रह्मण उत्पत्तेरविशेषात् । ब्रह्मणोऽन्यस्मादुत्पत्तिस्वीकारे तस्य ब्रह्मानन्यत्वानुपपत्त्या कारणात्कार्यस्य व्यतिरेकत्वनिष्पत्तेः कारणैकज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानप्रतिज्ञायाः हानिः स्यात् । तस्मादुक्त एवार्थोऽवगन्तव्यइति ॥२।३।१६॥

तत्तद्वस्तुवाचकत्वेन शब्दानां ब्रह्मणि कथं मुख्यवृत्त्यां प्रवृत्तिरित्याह—

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥२।३।१७॥

तुशब्दः शङ्काव्यावर्तकः । चराचरवस्तुव्यपाश्रयस्तद्व्यपदेशस्तद्वाचकः शब्दो ब्रह्मण्यभाक्तो मुख्य एव स्यात् । कुतः ? तद्भावभावित्वात् । चराचराणां तदन्तर्गतानां तेजःप्रभृतीनां ब्रह्मशरीरतया ब्रह्मभावेन भावितत्वात् । ब्रह्मणः शरीरितया मुख्यत्वात् । चराचरस्य तच्छरीरतया तदीयत्वेन गौणत्वात् । तथा च यस्य भावेन यो भावितो भवति स तस्माद् गौण एव भवति । यथा शिष्यं पुत्रत्वेन पश्यतीत्यत्र पुत्रभावेन भावितो दृष्टः शिष्यो गौण एव पुत्रस्तु मुख्यः । एवं चराचराणां ब्रह्मभावभावितत्वाद् ब्रह्मणि मुख्यत्वोपपत्तेः । चराचराणां गौणत्वम् । तथाचैकस्यैव शब्दस्य मुख्यया वृत्त्या

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्माभिधायकत्वम्। गौण्या च वृत्त्या चराचरबोधकत्वमिति न कश्चिद्विरोध इति ॥२।३।१७॥

इत्यन्तराविज्ञानाधिकरणम्।

अथात्माधिकरणम्।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥२।३।१८॥

आकाशस्योत्पत्तिरिव जीवस्यापि ब्रह्मण उत्पत्तिरस्ति न वा? किं युक्तम्? अस्तीत्येव। कुतः? 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।' (छा. ६।२।२) इति सृष्टेः प्राक्काल एकत्वनिश्चयात्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च तथा सत्येवोपपत्तेः। एवं प्राप्ते समाधीयते—नात्माऽश्रुतेः। न जीवात्मोत्पद्यते। कुतः? अश्रुतेः। तथाऽश्रवणात्। न तादृशी काचिदपि श्रुतिरस्ति यत्र जीवोत्पत्तिः श्रुता भवेत्। प्रत्युत श्रुतिभ्यो नित्यत्वमेवावगम्यते। तथाहि—"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते" (का. २।१८।) "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (का० २।१८) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" (श्वे० १।९) "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (श्वे० ६।१३) इत्याद्यनेकश्रुतिभ्य आत्मनो नित्यत्वमेवावगम्यते। यत्तु "एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" (बृ० ४।५।१३।) इत्यनया श्रुत्याऽत्मनो विनाशः श्रूयत इति। तन्न। उत्तरवाक्यशेषे "न प्रेत्य संज्ञास्ति" (बृ० ४।५।१३) इति संज्ञामात्रस्यैव विनाशोऽभिहितो न जीवस्वरूपस्य। अत एव "न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्म्मा" (बृ० ४।५।१४) इति श्रुत्या स्पष्टमेवात्मनोऽविनाशित्वमनुच्छित्तिधर्मत्वमभिहितम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तस्मान्नात्मन उत्पत्तिमत्त्वम्। कथं तर्ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाउपपत्तिरिति चेदुच्यते। आकाशादिवज्जीवस्यापि कार्यत्वात्कार्यस्य कारणव्यतिरेकत्वेन कारणानन्यत्वात्कारणज्ञानेन कार्यज्ञानमुपपद्यते। कार्यत्वं नाम कस्यचिद्द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिः। ज्ञानसंकोचविकासलक्षणं जीवस्यावस्थान्तरं भवत्येव ॥२।३।१८॥

इत्यात्माधिकरणम्।

अथ ज्ञाधिकरणम्।

ज्ञोऽत एव ॥२।३।१९॥

इदानीं जीवस्वरूपं निरूप्यते। किं कपिलाभिमतं चिन्मात्रमेवात्मनः स्वरूपमथवा कणादाभिमतं पाषाणकल्पमचित्स्वरूपमागन्तुकचैतन्यगुणमुत ज्ञातृत्वमेवास्य स्वरूपमिति संशये किं युक्तम्? चिन्मात्रस्वरूपमिति। कुतः? "यो विज्ञाने तिष्ठन् यस्य विज्ञानं शरीरम्" इत्यन्तर्यामिश्रुतेरात्मनो विज्ञानस्वरूपत्वावगमात्। अथवाचेतन मागन्तुक चैतन्यगुणमस्य स्वरूपम्। "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति मुक्तस्य चैतन्यप्रतिषेधात्। एवं प्राप्तेभिधीयते- "ज्ञोऽत एव" इति। ताभ्य इति पूर्वसूत्रादनुवर्तते। अयमात्मा जानातीति ज्ञः, ज्ञातृस्वरूप एव न ज्ञानमात्रस्वरूपो नापि जडस्वरूपस्ताभ्यः श्रुतिभ्यः। "अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" "मनसैवैतान् कामान् पश्यन् रमते।" "एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता" इत्यादिश्रुतिभ्यो बद्धमुक्तोभयावस्थात्मनो ज्ञातृत्वस्वरूपत्वावगमात्। "यो विज्ञाने तिष्ठन्" "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादौ ज्ञानमात्रव्यपदेशस्तु ज्ञानस्य प्रधानगुणत्वात्स्वरूपानुसम्बन्धित्वेव स्वरूपनिरूपकगुणत्वाद् ज्ञानवत्स्वयं प्रकाशकत्वाद्वोपपद्यते॥ ॥२।३।१९॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मनः सर्वगतत्वं निराकरोति—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥२।३।२०॥

ताभ्य इत्यनुवर्तते । नायमात्मा सर्वगतः किन्त्वणुरेव । उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । आत्मोत्क्रान्तितद्गतितदागतिश्रुतिभ्य इत्यर्थः । "एतेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" (बृ. ६।४।२ ।) "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौषी. १।२।) "तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" (बृ. ६।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्य आत्मनः सर्वगतत्वं नोपपद्यते किन्त्वणुत्वमेव । सर्वगतस्य विभोः गतिश्चागतिश्च नोपपद्यते । तस्मादात्मनोऽणुत्वमेव ॥२।३।२०॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२।३।२१॥

चाऽवधारणार्थः । देहस्यात्मसकाशादपाकरणरूपाया देहाद्विवियोगरूपाया उत्क्रान्तित्वस्वीकारे स्यात्कथञ्चिदियमुत्क्रान्तिः । यथा देहस्वामित्वनिवृत्तिरेवोत्क्रान्तिः । सा च विभुत्वेऽप्यात्मनः सम्भवति । उत्तरयोर्गत्यागत्योस्तु न कथञ्चिदपि सम्भवः । स्वात्मना सम्बन्धात्वादणुरेवात्मा ॥२।३।२१॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२।३।२२॥

"स वा एष महानज आत्मा" (बृ. ६।४।२५) इति महत्त्वश्रुतेर्न जीवोऽणुरिति चेन्न, इतराधिकारात् । जीवादितरस्य परमेश्वरस्य तत्राधिकारात् । उपक्रमे प्रस्तुतेपि जीवे "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा" (बृ. ६।४।१२) इति मध्ये परमात्मप्रस्तावात् तस्यैवेदं महत्त्वमुपदिश्यते । न जीवात्मनः ॥२।३।२२॥

स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ॥२।३।२३॥

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संविवेश" (मु० ३।१।९।) स्वस्याणुत्वस्य वाचको योऽणुशब्द आत्मपदसामानाधिकरण्येन निर्दिष्टस्तस्मादुन्मानाच्च सर्वेभ्यः स्थूलपरिमाणेभ्य उद्धृत्य मानमुन्मानमत्यन्तापकृष्टपरिमाणमितियावत्तस्मात्। "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" (श्वे० ५।९।) "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" (श्वे० ५।८।) इत्याराग्रमात्रोन्मानाच्च जीवोऽणुरेव ॥ २।३।२३॥

नन्वात्मनोऽणुत्वे देहव्यापिसुखाद्यनुभवविरोध इत्याशङ्कां मतान्तरेण परिहरति—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२।३।२४॥

यथा चन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशस्थः शरीरव्यापि सुखं जनयति तथाऽणुर्जीवोऽपि देहव्यापि सुखादिकमनुभवतीत्यविरोधः॥२।३।२४॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥२।३।२५॥

ननु चन्दनबिन्दोर्देशविशेषेऽवस्थितिर्दृश्यते। आत्मनस्त्वणुत्वेन क्वाप्यवस्थितिर्नोपलभ्यत इति चेन्न। अभ्युपगमात्। जीवाणुत्वस्य श्रुत्याभ्युपगमात्। "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदयन्तर्ज्योतिः" (बृ० ६।३।७) "हृदि ह्ययमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम्" (प्र० ३।६।) इत्यल्पपरिमाणे हृदि जीवस्यावस्थित्यभ्युपगमवचनेनाणुत्वमिति ॥ २।३।२५ ॥

इदानीं स्वमतमाह—

गुणाद्वाऽलोकवत् ॥२।३।२६॥

वाशब्देन मतान्तरं व्यवच्छिद्यते। स्वमते तु जीवात्माऽणुर्हृत्स्थोऽपि स्वगुणेन ज्ञानेन कृत्स्नं देहं व्याप्यावस्थितः। आलोकवत्। व्यापिप्रभागुणकप्रदीपवत्। यथाल्पोऽपि गृहैकदेशस्थो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दीपः प्रभात्मकेन व्यापकेन स्वगुणेन कृत्स्नं गृहं प्रकाशयति। तद्वदात्माऽपि ज्ञानेन कृत्स्नं देहं व्याप्य तद्वेदनादिकं जानाति। २।३।२६॥

ननु गुणस्य गुणिव्यतिरिक्तदेशेऽवस्थानादर्शनाद्विज्ञानं यज्ञं तनुत इत्यादौ च ज्ञानस्यैवात्मस्वरूपत्वश्रवणात् कथं ज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तगुणत्वं कथं वा देशान्तरे व्याप्यावस्थानमित्याशङ्क्याहः—

व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति ॥२।३।२७॥

पुष्पपेटिकातो दूरस्थस्यापि पुंसः पुष्पात्मकपृथिवीगुणस्य गन्धस्य व्यतिरेकेण देशान्तर उपलम्भदर्शनाज्ज्ञानस्यापि तद्गुण्यात्मव्यतिरेकत्वं निष्पद्यते। ननु "विज्ञानं यज्ञं तनुते" (तै० २।५।१) इतिश्रुतिविरोधेनोक्तयुक्त्या ज्ञानस्यात्मव्यतिरेकत्वं नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह—"तथा च दर्शयति"। आत्मनो हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वञ्चाभिधाय "आ लोमभ्य आ नखेभ्य" इति ज्ञानगुणेनात्मनः सर्वदेहव्यापित्वं दर्शयति श्रुतिस्तस्मान्न श्रुतिविरोधः। २।३।२७॥

पृथगुपदेशात् ॥२।३।२८॥

"न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० ६।३।३०) इति विज्ञातुरात्मनो विज्ञातेर्ज्ञानगुणस्य विपरिलोपो विनाशो न विद्यते। इति ज्ञातुरात्मनस्तद्गुणभूतस्य ज्ञानस्य पृथक्व्यपदेशात्। तथा च "प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" (कौषी० ३।६।) इत्यात्मनः प्रज्ञात्वेन ज्ञानस्य करणत्वेन च पृथगुपदेशाद् व्यापिज्ञानगुणद्वारास्य तस्य शरीरव्याप्तिरवगम्यते ॥२।३।२८॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तर्हि "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति विज्ञानस्वरूप आत्मेत्युपदेशः कथमुपपद्यतामित्यत्राह—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२।३।२९॥

तुशब्दः पक्षव्यावर्तकः । आत्मनो विज्ञानगुणसारत्वाद्विज्ञानमितिव्यपदेशः। विज्ञानमेवास्य सारभूतो गुण इति। प्राज्ञवत्। "यःसर्वज्ञः ससर्ववित्" (मु० १।१।९।) इति सर्वज्ञातृत्वेन श्रुतःप्राज्ञो ज्ञानगुणसारत्वात् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इतिज्ञानशब्देन व्यपदिश्यते। यथा च "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै०।२।९।) "स एको ब्रह्मण आनन्दः" इत्यानन्दगुणकत्वेन श्रुतस्य प्राज्ञस्यानन्दगुणसारत्वादानन्दादिपदेन व्यपदेशस्तद्वदिति॥२।३।२९॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥२।३।३०॥

विज्ञानस्य यावदात्मस्वरूपभावित्वेन तत्स्वरूपनिरूपणधर्मत्वाद्विज्ञानशब्देनात्मव्यपदेशे न दोषः। खण्डादिषु तथा दर्शनात्। खण्डादयो यावत्स्वरूपभाविगोत्वादिधर्मवत्त्वेन गौरितिशब्देन व्यपदिश्यन्ते। एवमत्रापि जीवस्य विज्ञानपदेन व्यपदेशः। ज्ञानवदात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानव्यपदेशो न दोषायेति चकारेण समुच्चयः ॥२।३।३०॥

ननु सुषुप्त्यादिषु ज्ञानस्यानुपलब्धेः कथं यावदात्मभावित्वं न स्वरूपानुबन्धित्वमित्याशङ्क्याह—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥२।३।३१॥

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । यथा बाल्ये पुंस्त्वादेः सत एव यौवनेऽभिव्यक्तिः। एवं सुषुप्त्यादिष्वपि सत एव ज्ञानस्यानभिव्यक्तस्य जागरितादिष्वभिव्यक्तिसम्भवात् स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वोपपत्तिरिति न दोषः ॥२।३।३१॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एवमात्मनो ज्ञातृत्वमणुत्वञ्चाभिधाय पक्षान्तरे दोषं दर्शयति—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥२।३।३२॥

अन्यथा ज्ञानमात्रात्मस्वरूपस्वीकारे सर्वगतत्वपक्षे च उपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्द्वयोर्नित्यत्वप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वा स्यात्। तत्र ज्ञानात्मपक्षे ज्ञानस्य स्वप्रकाशस्वभावत्वात्प्रकाशपर्य्यायोपलब्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः। स्वप्रकाशे ज्ञाने विद्यमाने सत्यप्रकाशपर्याया अनुपलब्धेर्वक्तमयोग्यत्वाज्ज्ञानमेवानुपलब्धेरपिहेतुरिति चेत्तर्हि ज्ञानस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः। अथोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्विरुद्धकार्ययोर्युगपज्जननायोगाज्ज्ञानोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरन्यतरहेतुः स्थाप्यते तदाऽन्यतरनियमः स्यात्। एवमात्मनः सर्वगतत्वपक्षे। यथा ज्ञानात्मवादिनस्तथैव हेतुजन्यज्ञानवादिनोऽपि समानो दोषः। तथा हि सर्वेषामात्मनां सर्वगतत्वे सर्वस्याप्यात्मनः सर्वसंयोगात्तदुपलब्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः। सर्वगतस्य विद्यमानत्वे तदनुपलब्धेरनुपपत्तेः। सर्वगतत्वमेवानुपलब्धेरपि हेतुरिति चेत्सर्वगतत्वस्य सर्वदा वर्तमानत्वात्सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्ध्योः प्रसङ्गः। अथ युगपद्विरुद्धकार्यजननायोगात्सर्वगतोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरन्यतरहेतुस्थापनेऽन्यतरनियमः स्यादित्युभयपक्षेऽपि समान एवोक्तदोषप्रसङ्गः। करणायत्तोपलब्धेरपि सर्वेषामात्मनां सर्वगत्वेन सर्वैः करणैः सर्वदा संयुक्तत्वात्सर्वदा तदुपलब्ध्यनुपलब्ध्यादिप्रसङ्गःसमानः। अदृष्टोत्पत्तिहेतोरपि सर्वसाधारणत्वादुक्तदोषः समानः। अस्माकन्तु स्वकीय हृत्पुण्डरीकेऽवस्थितत्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्थासिद्धेर्नोक्त दोषप्रसङ्गः ॥२।३।३२॥

इति ज्ञाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ कर्त्राधिकरणम्

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥२।३।३३॥

आत्मनो ज्ञातृत्ववत्कर्तृत्वमप्यस्ति न वेति संशये नास्तीति पूर्वः पक्षः। कुतः ? "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते" (का० २।१९।) इत्यादिभिरात्मनो हननक्रियाकर्तृत्वं प्रतिषिध्य "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" (गी० ३।२७) "नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति" (गी० १४।१९।) इति प्रकृतिगुणानामेव कर्तृत्वप्रतिपादनात्। तस्मात्त्वगुणद्वारा प्रकृतेरेव कर्तृत्वं नात्मनः। इति प्राप्तेऽभिधीयते—कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादिति। आत्मैव कर्ता न गुणाः। अचेतनानां गुणानां कर्तृत्वासम्भवात्। कुत आत्मैव कर्ता ? शास्त्रार्थवत्त्वात्। 'यजेत' 'उपासीत' इत्येवमादीनां स्वर्गमोक्षादिफलसाधनेषु प्रवर्तकानां शास्त्राणामर्थवत्त्वात्। शास्त्रस्य तत्तत्प्राप्त्युपायज्ञानजननद्वारा तत्तदनुष्ठाने प्रवर्तकत्वम्। तत्तु चेतनस्य जीवस्यैव तत्तदुपायज्ञानं तदनुष्ठानञ्च सम्भवति नत्वचेतनस्य प्रधानस्य। अतस्तत्तत्फलभोक्तुश्चेतनस्यैव तत्तत्प्राप्तिसाधनकर्तृत्वेन तदुपदेष्टृणां शास्त्राणामर्थवत्त्वम्। तस्माच्चेतनो जीव एव कर्त्ता नत्वचेतनं प्रधानम्।

यत्तु— हन्ता चेन्मन्यते हतमित्यादिभिरकर्तृत्वमेवात्मनोऽभिहितम्। तच्चात्मनो नित्यतया हन्तव्याभावादुपपद्यते। प्रकृतेः क्रियमाणानीत्यादिकन्तु सांसारिकप्रवृत्तिषु जीवस्य कर्तृत्वं सत्त्वादिगुणसंसर्गकृतम्। न स्वरूपप्रयुक्तमतस्तदेवास्य जन्ममरणहेतुर्भवतीत्यभिहितं तत्रैवोक्तम्। "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" (गी० १३।२१।) अतो विवेकी गुणसंसर्गकृतकर्मस्वासक्तिं विहाय तत्राहंबुद्धिपरित्यागपूर्वकं तत्तत्कर्म कुर्वन्नपि तज्जन्यपुण्यपापाभ्यां न

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लिप्यते ततो न बध्यत इत्याह "तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते। यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥" (गी०) तस्माज्जीवः कर्ता ॥२।३।३३॥

उपादानाद्विहारोपदेशाच्च ॥२।३।३४॥

इतश्चात्मन एव कर्तृत्वम्। "तदेतेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" (बृ० ४।१।१७) "एवमेवैष एतान् गृहीत्वा" (बृ० ४।१।१८) इत्यात्मनो ग्रहणशक्त्युपादानत्वश्रवणादकर्तुरुपादानायोगात्तस्यैव कर्तृत्वम्। तथा तत्रैव "स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते" (बृ० ४।१।८) इति विहारोपदेशाच्चात्मनः कर्तृत्वम् ॥२।३।३४॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥२।३।३५॥

इतश्चजीवस्यैव कर्तृत्वम्। "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" (तै० २।५।१) इति लौकिकवैदिकक्रियायां विज्ञानशब्दवाच्यस्यात्मनः कर्तृत्वव्यपदेशाज्जीवः कर्त्ता। विज्ञानशब्देन बुद्धेर्व्यपदेश इति चेन्न। निर्देशविपर्ययः स्यात्। विज्ञानमिति कर्तृत्वेन व्यपदेशो न स्यात्। स्याच्चेद्विज्ञानेनेति करणत्वेन। बुद्धेः करणत्वात् ॥२।३।३५॥

उपलब्धिवदनियमः ॥२।३।३६॥

प्रधानस्य कर्तृत्वे तस्य सर्वपुरुषसाधारणत्वादात्मनश्च सर्वगतत्वेन सर्वत्र सन्निधानाच्च सर्वाणि कर्माणि प्रधानकृतानि सर्वेषां भोगाय स्युरिति पूर्वोक्तोपलब्धिवदनियमः स्यात् ॥२।३।३६॥

शक्तिविपर्ययात् ॥२।३।३७॥

इतश्चात्मन एव कर्तृत्वम्। प्रकृतिकार्यभूताया बुद्धेः कर्तृत्वे कर्तुरभोक्तृत्वमितिनियमाद्भोक्तृत्वमपि तस्या एव स्यात्। ततश्चात्मनो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भोक्तृत्वशक्तेर्विपर्ययो हानिः स्यात् तथा सत्यात्माभ्युपगमो निष्प्रमाणकः स्यात् ॥२।३।३७॥

समाध्यभावाच्च ॥२।३।३८॥

"यथा दीपो निवातस्थः" इतिवचनान्निवातस्य दीपवन्निश्चलात्माकारवृत्तिः समाधिशब्देनाभिधीयते । आत्मनोकर्तृत्वे तस्य समाधेरभावप्रसङ्गात् । समाधिशब्दः श्रवणमननिदिध्यासनानामुपलक्षकः समाधेर्जीवमोक्षार्थोपदेशात् । अचेतनायाः कर्तृत्वं तदन्यस्यात्मनो मोक्षानुपपत्तेः ॥२।३।३८॥

ननु आत्मनः कर्तृत्वे सर्वदा कर्तृत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—

यथा च तक्षोभयथा ॥२।३।३९॥

करणकलेवरादिसम्पन्नोऽपि स यदेच्छति तदा करोति अन्यदा न करोतीत्येवं रूपा व्यवस्था स्वीयेच्छायां सत्यामसत्यां सम्भवत्येव । यथा वाश्यादिसाधनसन्निधानेऽपि तक्षा स्वकीयेच्छामनुसृत्य करोति न करोति च । अचेतनात्मिकाया बुद्धेस्तु भोगादीच्छाया अभावान्न स्याद्व्यवस्था । अतश्चात्मन एव कर्तृत्वं न प्रकृतेः ॥२।३।३९॥

इति कर्त्रधिकरणम् ।

(अथ परायत्ताधिकरणम्)

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥२।३।४०॥

किमिदं जीवस्य कर्तृत्वं जीवायत्तं स्वतन्त्रमेवाहोस्विदंपरमात्मायत्तमिति संशयः । किं युक्तम् ? स्वातन्त्र्येण जीवायत्तमेव । कुतः ? यो हि स्वबुद्धया शुभमशुभं वा कर्म करोति स एव तत्फलमश्नुते

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परमात्मायत्तकर्तृत्वे तु तत्फलभोक्तृत्वमपि परमात्मन एव स्यान्न तु जीवस्य। 'फलं प्रयोक्तरीति' न्यायात्। परमात्मायत्तकर्तृत्वे विधिनिषेधशास्त्राणां वैयर्थ्यमप्यनिवार्यं स्यात्। तस्माज्जीवस्यैव कर्तृत्वम्। इति प्राप्तेऽभिधीयते—परात्तु तच्छ्रुतेरिति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तत् कर्तृत्वं जीवस्य परात्—जीवान्तर्यामिणः परमात्मन एव भवति। कुतः? तच्छ्रुतेः। तस्य जीवकर्तृत्वस्य परमात्मायत्तत्वश्रुतेः—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" (तै. आ. ३।११।१०।) "य आत्मानमन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।२२) "एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" इति। तस्माज्जीव कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमेव ॥२।३।४०॥

अथैवं जीवकर्तृत्वस्य परमात्मन आयत्तत्वे तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातां जीवस्य तु विधिप्रतिषेधयोर्वैयर्थ्यमित्यत आह—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः ॥२।३।४१॥

तुशब्दः शङ्कानिवर्तकः। जीवेन स्वबुद्धया कृतं शुभाशुभं प्रयत्नमपेक्ष्यान्तर्यामी परमात्मा तादृशीमेव जीवप्रयत्नानुगुणां स्वकीयामनुमतिं प्रदाय जीवं प्रवर्तयति। सर्वेष्वपि शुभाशुभकर्मसु परमपुरुषानुमतिमन्तरेणास्य जीवस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। कुतः? विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः। 'यजेत' 'उपासीत' 'न हन्तव्य' इत्येवमादीनां विहितप्रतिषिद्धवाक्यानामवैयर्थ्यादिभ्यः। तथा च तत्तत्कर्मसु जीवः परमात्मसहाय एव प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा तेभ्यो विदधाति। तेन च स्वयमेव विधिप्रतिषेधयोग्यो भवति न परमात्मा। जीवकृतप्रयत्नानुगुणप्रवर्तने फलप्रदाने च न परमात्मनोऽपि वैषम्यनैर्घृण्ये इति। यः परमपुरुषाराधनं

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुर्वन् स्वयं तु निर्ममः कर्मानुतिष्ठति तं तत्कर्मण्यभिरुचिं जनयन् सद्बुद्धिप्रदानद्वारा परमात्मैव प्रेरयति । यश्च स्वयमभिमानवान् हिंसादिरूपनिषिद्धकर्माण्याचरति तञ्च तथा भूतेष्वेव कर्मसु प्रीतिमुत्पादयन् तत्रैव प्रवर्तयतीतिभावः । तथा च न परमात्मनो दोषलेशोऽपि न वा विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणामपि वैयर्थ्यमिति सर्वं निरवद्यम् ॥२।३।४१॥

इति परायत्ताधिकरणम् ।

अथांशाधिकरणम् ।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥२।३।४२॥

प्रागुपदिष्टब्रह्मानन्यत्वसिद्धय एव जीवस्य तदंशत्वमिदानीं प्रतिपादयति । तत्राऽयं जीवो ब्रह्मणोऽत्यन्तभिन्न उतोपहितं ब्रह्मैवाहोस्विद्ब्रह्मांश एवेति संशयः । किं युक्तम् ? अत्यन्तभिन्न इति । कथमवगम्यते । "पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा" (श्वे०१।६) "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति" (श्वे० ४।६) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" (श्वे. १।९) इत्यादिषु भेदस्यैव श्रवणात् । अथवा तत्त्वमस्यादिश्रुतिविरोधेनात्यन्तभेदानुपपत्तेरुपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मैवाल्पदेशवृत्तित्वेनांशः प्राणधारणत्वेन च जीव इति व्यपदिश्यते । परमार्थतस्तु न ब्रह्मणोतिरिक्तो जीवः । इत्येवम्प्राप्तेऽभिधीयते । अंशो नानाव्यपदेशादिति । अयं जीवो ब्रह्मांश एव । कुतः? नानात्वव्यपदेशादेकत्वव्यपदेशाच्च । "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (श्वे. ६।१३) "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" (बृ. ३।७।२२) " पतिं विश्वस्यात्मेश्व-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रम्" इत्येवमादिश्रुतिभिर्जीवेश्वरयोरुभयोर्नित्यत्वेन, जीवकामविधातृत्वेन तयोः शरीरशरीरित्वेनोपास्योपासकत्वेन नियम्यनियन्तृत्वेन भृत्यस्वामित्वेन सृज्यस्रष्टृत्वेन रक्ष्यरक्षकत्वेन च जीवपरमात्मनोर्नानात्वेनव्यपदेशात्। तत्त्वमस्यादिभिश्चैकत्वेन व्यपदेशात्। अपहतपाप्मनोऽविद्याप्रत्यनीकस्य निरवद्यनिरञ्जनस्य मायाधीशस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सर्वैकरसज्ञानस्योपाधिसम्बन्धकृतजीवत्वानुपपत्तेः। अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके। एके शाखिन आथर्वणिकास्तथाऽमनन्ति "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवः" (ब्र. सू.) इति ब्रह्मणो दाशकितवादित्वाध्ययनेन तस्य सर्वजीवव्यापित्वेन सर्वाऽभेदं ज्ञापयन्ति। "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" (गी० ११।) इति च सर्वव्यापकत्वेन ब्रह्मणः सर्वाभेदत्वस्मरणात्। न च "एकोहं बहु स्याम" इत्येकस्यैव ब्रह्मणो बहुभवनत्वश्रुतेर्ब्रह्मण एव जीवभावाऽवगमात्सर्वथा तयोरभेदेन जीवस्य ब्रह्मांशत्वव्यपदेश इति वाच्यम्। केवलब्रह्मणो बहुभवनसंकल्पपूर्वकजगत्कारणत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणि विकारित्वसुखदुःखभोक्तृत्वादिदोषाणामापत्तेः। सृष्टेर्वैयर्थ्यापत्तेश्च। तस्माच्चिदचिद्वस्तुशरीरकस्यैव ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्। तथा सति विकारित्वादिदोषाणामचिदंशे पर्यवसानात्सुखदुःखभोक्तृत्वादीनाञ्च चिदंशे जीवे पर्यवसानाद्ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्धेः। न वा सृष्टेर्वैयर्थ्यम्। जीवमुक्तिमुक्त्यर्थकत्वेन सार्थक्यात्। तस्माज्जीवब्रह्मणोः स्वरूपतः स्वभावतश्च भेदान्नानात्वव्यपदेशस्तयोर्व्याप्यव्यापकत्वेन जीवस्य ब्रह्मणोऽपार्थक्यात्तदव्यतिरेकादनानात्वव्यपदेश इत्युभयविधव्यपदेशोपपत्तये ब्रह्मांऽशोऽयं जीव इत्युपपन्नतरम्। सूत्रेंश इत्येकवचनं जात्यभिप्रायेण ॥२।३।४२॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥२।३।४३॥

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (पु. सू.)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इतिमन्त्रवर्णाच्च ब्रह्मांशा जीवाः। मन्त्रे पादशब्दो ह्यंशवाची ॥२।३।४३॥

अपि स्मर्यते ॥२।३।४४॥

स्मर्यतेपीत्यन्वयः। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः।" (गी. १५।७) इति स्मर्यतेऽपीत्यर्थः ॥२।३।४४॥

जीवस्य ब्रह्मांशतया ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवदोषाणां ब्रह्मणि प्रसक्तिमाशङ्क्याह—

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ॥२।३।४५॥

तुशब्दः शङ्कानिवर्तकः। प्रकाशादिवज्जीवो ब्रह्मांशः। यथा सूर्यादेः भारूपप्रकाशवान् सूर्यादिरिति विशेषणत्वेनोपपन्नः सूर्यादीनामंश इत्यभिधीयते। यथा च देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोंऽशः। तद्वदेकवस्त्वेकदेशस्य तद्वस्तुनोंशत्वव्यवहारः। विशिष्टस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव। एवं जीवस्य परमात्मशरीरत्वेन विशेषणत्वात्परमात्मनोंऽश एव जीवः। अस्ति च शास्त्रीयो व्यवहारो विशेषणे 'विशेष्यांऽशोयम्' इति। जीवपरमात्मनोः स्वरूपस्वभावयोर्भेदान्न जीवदोषाणां परमात्मनि प्रसक्तिरित्याह—नैवं पर इति। यथा स्वभावो जीवस्तथा स्वभावो न परमात्मेत्यर्थः। यथा प्रभायाः प्रभावानर्थान्तरभूतस्तथा प्रकृतेऽप्यंशांशिभावः। तथा चेत्थमेवं भेदमवलम्ब्य भेदश्रुतीनाम्प्रवृत्तिः। जीवपरमात्मनोव्याप्यव्यापकत्वेन जीवस्य परमात्मनोऽपृथक्सिद्धतयाऽपृथक्सिद्धविशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्वं स्वीकृत्य 'तत्त्वमसि' इत्याद्यभेदश्रुतीनामपि मुख्यार्थत्वेनैव सार्थक्यमिति ॥२।३।४५॥

स्मरन्ति च ॥२।३।४६॥

स्मरन्ति चांशिनः परमात्मनोंशभूतजीवगतदोषाणामप्रसक्तिम्। व्यासादयः "तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा" (वि० पु०) "कर्मात्मात्परो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते" इत्यादिना। चशब्देन "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति" (श्वे० ४।६) इत्यादि श्रुतयोपि गृहीता भवन्ति ॥२।३।४६॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥२।३।४७॥

ननु सर्वेषां जीवानां ब्रह्मांशत्वे समाने कस्यचिद्वेदाध्ययनादिष्वनुज्ञा कस्यचित्परिहार इति कथमत आह—अनुज्ञेत्यादि। सर्वेषां जीवानां ब्रह्मांशत्वेनैकरूपत्वेऽपि ब्राह्मणशूद्रयोः पुण्यपाप देह सम्बन्धहेतुकावनुज्ञापरिहारौ। यथाऽग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि यज्ञीयादेरग्नेर्ग्रहणानुज्ञा श्मशानसम्बन्धिनोऽग्नेः परिहारस्तथा ब्राह्मणस्य वैदिकेऽनुज्ञा शूद्रादेः परिहार इत्युपपद्यते ॥२।३।४७॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥२।३।४८॥

एवं ब्रह्मांशत्वेन साम्येऽप्यात्मनोऽणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वात्परस्परमसन्ततेरसम्बन्धाज्ज्ञानसुखादिधर्माणामव्यतिकरोऽसाङ्कर्यमेवेति व्यवस्था। उपहितब्रह्मजीववादे विवर्तवादे च जीवपरयोः स्वरूपस्याभेदाज्जीवानां विभुत्वेन परस्परमभेदाच्च धर्माणां व्यतिकरोऽनिवार्यः स्यात् ॥२।३।४८॥

आभास एव च ॥२।३।४९॥

नन्वज्ञाननिबन्धनोपाधिभेदान्न धर्मव्यतिकर इत्यत्राह—नित्यप्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानोपहितत्वप्रतिपादने हेतव आभासा एव स्युः। कुतः ? प्रकाशस्वरूपस्य तस्याविद्यया स्वरूपतिरोधानं स्वरूपनाश एव पर्यवस्यति। चकारात् "पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा" (श्वे० १।६) इत्यादिश्रुतिविरोधोऽपि ॥२।३।४९॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अदृष्टानियमात् ॥२।३।५०॥

अदृष्टैस्तद्धेतुकोपाधिभिश्च देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितस्य ब्रह्मणश्छेदासम्भवात्तत्कृतानां दोषाणां ब्रह्मणि प्रसक्तिरनिवार्या ॥२।३।५०॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥२।३।५१॥

तत्तदन्तःकरणोपहितात्मप्रतिनियतादृष्टजन्मस्वभिप्रायविशेषेषु स्वीक्रियमाणेष्वपि परिच्छिन्नोपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि पदार्थस्याभावादुपाधिविशिष्टम्ब्रह्मैवेति न दोषनिर्मुक्तिः ॥२।३।५१॥

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥२।३।५२॥

उपहित ब्रह्मजीवप्रदेशादनुपहित ब्रह्मप्रदेशस्य भेदान्न प्रदेशान्तरस्थस्य जीवस्य दोषा प्रदेशान्तरस्थे ब्रह्मणि प्रसज्यन्त इति चेन्न । औपाधिक ब्रह्मजीवप्रदेशानामनुपहितापरिच्छिन्नसर्वव्यापक सर्वकाल सर्ववस्तु सर्वदेशगतानवच्छिन्नब्रह्मप्रदेशान्तर्भावाद् ब्रह्मणि जीवदोषप्रसक्तिरनिवार्येत्यर्थः । तस्मादस्मत्पक्ष एव सर्वदोषरहितः ॥२।३।५२॥

इत्यंशाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

(अथ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम्)

एवमतिक्रान्ते पादे जीवस्य भोगायतनभूतस्थूलदेहोत्पादकानाकाशादिभूतानामुत्पत्त्यादिकं विचिन्त्य जीवस्वरूपं तद्धर्माश्च विचिन्तिता । अथ लिङ्गशरीरविषयकश्रुतिविरोधपरिहारेण जीवोपकरणानामिन्द्रियाणां प्राणस्य चोत्पत्त्यादिप्रकारो विशोध्यते—

तथा प्राणाः ॥२।४।१॥

तत्र प्राणाः जीववन्नोत्पद्यन्त आहोस्विद्वियदादिवदुत्पद्यन्त इति संशयः । किं युक्तम् ? नोत्पद्यन्त इत्येव । कुतः ? "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै. २।१) इत्यादावुत्पत्तिप्रकरणे प्राणोत्पत्त्यश्रवणात् । एवमन्यत्रापि "असद्वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदासीदिति ऋषयो वाव ते अग्रे सदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणावाव ऋषय इति" (शतप० ६।१।१) इति ऋषिपदाभिधेयप्राणानामुत्पत्तेः प्रागपि श्रूयमाणत्वात् । इति प्राप्तेऽभिधीयते—तथा प्राणा इति । वियदादिवदेव प्राणा उत्पद्यन्ते । कुतः ? "एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणिच" (मु. २।१।३) इति प्राणादीनामपि परमात्मन उत्पत्तिश्रवणात् । "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐत० १।१।१) इति सृष्टेः प्रागेकस्यैव ब्रह्मणोऽवस्थितेस्वीकारणात् । एतस्याः श्रुतेरेकवाक्यतासम्पादनार्थमृषिश्रुतेः परमात्मपरत्वेन नेतव्यत्वात् ।

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" (छा० १।११।५) इत्यादौ प्राणशब्देन परमात्मन एव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रहणात्। एवमृषिशब्दश्च परमेश्वरस्यैव वाचको नेन्द्रियादीनाम् ॥ २।४।१ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥२।४।२॥

अथैवं "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै०२।१) इत्युत्पत्तिप्रकरणे प्राणानामुत्पत्त्यश्रवणादुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी स्यात् तत्राह—गौण्यसम्भवात्। गौण्या असम्भवस्तस्मात्। नहि प्राणोत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सम्भवति। बाहुल्येन तत्र तत्र श्रवणात्। एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधाच्च ॥ २।४।२ ॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥२।४।३॥

इतोऽपि प्राणोत्पत्तिश्रुतिर्मुख्यैव। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मु० २।१।३) इति श्रुतावेकमेव 'जायते' इति पदं सर्वत्रान्वेति। तत्र प्राणेष्वेव प्राक्श्रुतम्। खादिषु तु पश्चादन्वेति। न ह्येकमेवपदं सकृदुच्चरितं क्वचिद्गौणं क्वचिच्च मुख्यं स्यात्। वैरूप्यप्रसङ्गात्। तस्मात् प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्मुख्या ॥ २।४।३ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥२।४।४॥

वाचः परमात्मव्यतिरिक्तस्य वागादीन्द्रियजातस्य तत्पूर्वकत्वात्। वाग्विषयभूतनामरूपात्मकाकाशादिसृष्टिपूर्वकत्वात्। "अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" (छा० ६।५।४) इति श्रुतौ मनसः प्राणस्य च वाचश्च तेजोबन्नजन्यत्वश्रवणात्। "ऋषयो वाव ते अग्रे सदासीत् प्राणा वाव ऋषयः" इति प्रलयकालीनस्य प्राणशब्दस्य वाच्यः परमात्मैव ॥ २।४।४ ॥

इति प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ सप्तगत्याधिकरणम् ।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥२।४।५॥

"स यत्रैष चाक्षुषः पुरुष पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति । एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति । न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति । न रसयत इत्याहुरेकीभवति । न वदतीत्याहुरेकीभवति । न शृणोतीत्याहुरेकीभवति । न मनुत इत्याहुरेकीभवति । न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति । न विजानातीत्याहुः" इति चक्षुरादीनां सप्तानां गतेर्विशेषितत्वात् । "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्माद्" इति श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्तानामेव जीवेन सह गतेर्विशेषितत्वाच्छरीरत्यागेपि तेषां जीवसहचारित्वाच्छरीरत्यागानन्तरं जीवसहचारिभ्यः कर्मेन्द्रियेभ्यस्तेषां प्रधानत्वेन सप्तैवेतिव्यपदेशः ॥ २।४।५ ॥

अथ सिद्धान्तः—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥२।४।६॥

तु शब्दः प्राणानां सप्तत्वनिरासार्थः । श्रोत्रादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाग्घस्तादीनि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेत्येकादश । बुद्ध्यहङ्कारयोरन्तःकरणभेदत्वान्नाधिकसंख्यापादकत्वम् । "तमुत्क्रान्तम्" इति श्रोत्रादीनां सप्तानामुत्क्रान्तिश्रुतेस्तानि जीवेन सह शरीरान्तर्गमनेपि गच्छन्ति । वाग्घस्तादीनि कर्मेन्द्रियाणि तु स्थिते—शरीरस्थिते जीवे तस्य भोगोपकरणानीत्येकादशेन्द्रियाणि । अतो नैवम्—अत इन्द्रियाणामेकादशत्वात् सप्तैवेन्द्रियाणीति नैवं वाच्यम् ॥ २।४।६॥

इति सप्तगत्यधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ प्राणाणुत्वाधिकरणम् ।

अणवश्च ॥२।४।७॥

"त एते सर्व एव समाः सर्वेनन्ताः" इतीन्द्रियाणामानन्त्यश्रुत्या सर्वगतत्वे प्राप्त आह—अणवश्चेति । अनूत्क्रमणश्रवणात् प्राणा अणवः । आनन्त्यश्रुतिस्तु "अथ यो ह वैताननन्तानुपास्ते" इत्युपासनविधानादुपासनफलबाहुल्यविषया ॥२।४।७॥

इति प्राणाणुत्वाधिकरणम् ।

अथ श्रैष्ठ्याधिकरणम् ।

श्रेष्ठश्च ॥२।४।८॥

वागादीन्द्रियाणां स्वरूपस्थितेः प्रवृत्तेश्च मुख्यप्राणाधीनत्वस्य छान्दोग्यादिश्रुतिषूपदिश्यमानत्वाद्वागादिभ्यस्तस्य श्रेष्ठत्वात्, श्रेष्ठः प्राण उत्पद्यते न वेति संशये नोत्पद्यते । कुतः ? "आनीदवातम्" इत्यत्र महाप्रलये आनीदितिपदेन प्राणसंचारस्य श्रवणात्संचारवतः प्राणस्य प्रलयेपि वर्तमानत्वात् । एवं प्राप्त आह—श्रेष्ठश्चेति । "एतस्माज्जायते प्राणः" इति श्रुतौ प्राणोत्पत्ति श्रवणाद् श्रेष्ठः प्राण उत्पद्यते । आनीदवातमितिश्रुतिस्तु परब्रह्मविषयिणी ॥२।४।८॥

इति श्रैष्ठ्याधिकरणम् ।

अथ वायुक्रियाधिकरणम् ।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥२।४।९॥

किमयं मुख्यः प्राणो भूतवायुरेवोत क्रियाविशेष आहोस्वित्कोपि विशेषमापन्नो वायुरिति संशये किं युक्तम्—भूतपरिगणितो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वायुरेवायम् । कुतः ? "यः प्राणः स वायुः" इति श्रुतेः । अथवोच्छ्वासनिःश्वासरूपवायुक्रियायाः प्राणत्वप्रसिद्धेर्वायोः क्रियाविशेषः प्राण इति प्राप्त उच्यते—न वायुक्रिये इति । न वायुः स्वयं प्राणो न च वायोः क्रिया प्राणः । कुतः ? पृथगुपदेशात् । एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः" (मु० २।१३) इति वायो प्राणस्य च पृथगुपदेशान्न वायुः प्राणः । न च क्रिया । तस्याः पृथगुपदेशासम्भवात् । अपि तु देहधारणयोग्यतारूपविशेषमापन्नोवायुरेव प्राणो देहेन्द्रियधारणरूपजीवोपकारित्वाधिक्यात् । तस्य चक्षुरादिकरणैः सह जीवोपकरणत्वोपदेशेपि चक्षुरादिभ्यः प्रधानत्वात् । तदन्वयव्यतिरेकाभ्यामपि चक्षुरादिप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्तेश्च दर्शनाच्चक्षुरादिभ्यस्तत्प्रधानत्वनिष्पत्तेर्न क्रियामात्रं प्राणः ॥२।४।९॥

यदि प्राणो न वायुर्न च तत्क्रिया तर्हि तेजोप्पृथिवीवद्भूतान्तरत्वं स्यादित्यत्राह—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥२।४।१०॥

तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । नायं प्राणोऽन्यादिवत्तत्वान्तरं किन्त्ववस्थान्तरमापन्नोवायुरेव चक्षुरादिवज्जीवोपकरणभूतः । कुतोऽवगम्यते ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । जीवोपकरणभूतैश्चक्षुरादिभिस्सह प्राणस्य शिष्टेः शासनादित्यर्थः । समानजातीयानामेव सहशासनस्य योग्यत्वात् ॥२।४।१०॥

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥२।४।११॥

करणं क्रिया । अकरणत्वात्प्राणस्य जीवोपकारभूतक्रियाविशेषरहितत्वाद्वायोःक्रियाविशेषः प्राण इति यो दोषः संभाव्यते स नोपपद्यते । कुतः ? प्राणस्य जावशरीरेन्द्रियधारणरूपतदुपकारविशेष-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भूतक्रियावत्त्वात्। तथा हि दर्शयति। "को नः श्रेष्ठ इति तान् होवाच यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः" (छा० ५।१।७) इत्यस्मिन् प्रकरणे प्राणस्यैव प्राणापानाद्याकारेण पञ्चधाऽवस्थितस्य शरीरेन्द्रियधारणद्वारा जीवस्योपकारकत्वाच्च क्षुरादिवत्तत्करणत्वं दर्शयति श्रुतिः ॥२।४।११॥

प्राणापानादिविभागेन पञ्चधावस्थितस्यैकस्य प्राणस्य न केवलं देहेन्द्रियधारणमेवासाधारणं कार्यं किन्त्वन्यदपीत्याह—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥२।४।१२॥

यथा "कामः संकल्पो विचिकित्सा" (बृ० १।५।३) इत्यादौ कामादिवृत्तिभेदेनैकमेव मनः कामादिशब्दैः श्रुत्याभिधीयते तथा प्राणोपि प्राणापानव्यानोदानसमानरूपेण तत्तद्वृत्तिभेदेनोच्छ्वासनिःश्वाससर्वशरीरक्रियोत्क्रान्तिरूपाणिकार्याणिभक्षितान्नादिरसानांसर्वाङ्गेषु समत्वेन नयनरूपं कार्यं च कुर्वन् जीवशरीरेन्द्रियाणामुपकारं कुर्वन् जीवस्योपकरणं भवति ॥२।४।१२॥

इति वायुक्रियाधिकरणम्।

अथाणुत्वाधिकरणम्।

अणुश्च ॥२।४।१३॥

"तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति" (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतेः प्राणस्याणुत्वे निश्चिते "सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोनेन सर्वेण" "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" इत्यादि श्रुतिर्न प्राणस्य महत्परिमाणत्वं बोधयति; अपितु सर्वस्य प्राणायत्तस्थितिप्रवृत्तित्वेन प्राणस्य सर्वप्रधानत्वमित्यवगन्तव्यम् ॥२।४।१३॥

इत्यणुत्वाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ।

ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात् ॥२।४।१४॥

अधिष्ठानमधिष्ठातृत्वम् । जीवेन सह ज्योतिरादेरग्न्यादेर्वागादीन्द्रियाधिष्ठानं तदधिष्ठितत्वं परमात्मायत्तमेव । कुतः ? तदामननात् । आमननमाभिमुख्येन मननं संकल्प इत्यर्थः । तस्य परमात्मशरीरत्वेन तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां जीवस्याग्न्यादिदेवानां च परमात्मसंकल्पेनैवार्थतो वागादीन्द्रियाधिष्ठितत्वादेरामननात् । तथा च श्रुतिः—य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्, य आदित्ये तिष्ठन् यस्यादित्यः शरीरम्, यश्चक्षुषि तिष्ठन् यस्य चक्षुः शरीरमित्यादिः ॥२।४।१४॥

यद्येवं जीवेन सहाग्न्यादीनां देवतानामेवाधिष्ठातृत्वं तर्हि अग्न्यादीनामपि भोक्तृत्वं स्यान्न जीवस्यैवेत्यत आह—

प्राणवता शब्दात् ॥२।४।१५॥

प्राणवता जीवेनैवेन्द्रियाणां स्वस्वामिसम्बन्धस्तेनेन्द्रियसाध्यभोगभाग् जीव एवेत्यर्थः । कुतः ? शब्दात् । "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरित्यादि श्रुतेः ॥२।४।१५॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥२।४।१६॥

तस्य सर्वशरीरस्य परमात्मनः सर्वनियमनस्य नित्यत्वात्तत्सदृत्वादेव जीवस्याग्न्यादीनां च तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातृत्वमित्यर्थः । चकाराज्जीवस्य स्वकर्मोपार्जिते देहे कर्तृत्वस्य कर्मफलभोक्तृत्वस्य च नित्यत्वाज्जीवो भोक्ता । देहेन्द्रियाणामग्न्यादिकर्मोपार्जितत्वाभावान्न तेषामग्न्यादीनां भोक्तृत्वमस्मिञ्छरीर इत्यर्थः ॥२।४।१६॥

इति ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथेन्द्रियाधिकरणम् ।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥२।४।१७॥

किं प्राणशब्दनिर्दिष्टा ये ते सर्वे एवेन्द्रियाणि किं वा श्रेष्ठप्राणव्यतिरिक्ता ये प्राणशब्दनिर्दिष्टा त इति संशये किं युक्तम्? सर्वेषां प्राणशब्दवाच्यत्वाविशेषात्सर्वे इति प्राप्त उच्यते–अन्यत्र श्रेष्ठात् । श्रेष्ठान्मुख्यप्राणादन्यत्रान्ये ते प्राणशब्दनिर्दिष्टा वागादय इन्द्रियाण्युच्यन्ते न मुख्यप्राण इन्द्रियमित्युच्यत इत्यर्थः । कुतः? तद्व्यपदेशात् । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यत्र भेदेनोत्पत्तेर्व्यपदेशात् ॥२।४।१७॥

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ॥२।४।१८॥

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति समनस्केभ्य इन्द्रियेभ्यो भेदेन प्राणोत्पत्तेः श्रुतेः श्रवणात् । वैलक्षण्याच्च । सुषुप्तिमूर्छादाविन्द्रियाणामुपरामकालेपि निश्वासोच्छ्वासात्मकप्राणवृत्तेर्दर्शनादिन्द्रियवृत्तिभ्यः प्राणवृत्तेर्वैलक्षण्याच्च । आभ्यां हेतुभ्यां श्रेष्ठात्प्राणात्ते प्राणशब्दनिर्दिष्टा वागादयोन्य इत्यर्थः ॥२।४।१८॥

इतीन्द्रियाधिकरणम् ।

अथ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२।४।१९॥

एवं भूतेन्द्रियप्राणानां समष्टिसृष्टिमभिधाय व्यष्टिसृष्टिरिदानीं चिन्त्यते । तत्र यदिदं नामरूपव्याकरणं तत्समष्टिजीवस्य हिरण्यगर्भस्यैव कर्माहोस्वित्तच्छरीरकस्य परमात्मन इति संशयः । तत्र समष्टिजीवस्यैवेतत्कर्म भवितुमर्हति । कुतः? "अनेन जीवेनाऽत्मना-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।२) इति जीवस्यैव तत्कर्तृत्वश्रवणात् ।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्त्विति—तुशब्दो जीवकर्तृत्वनिरासार्थः । "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा० ६।३।२) इति त्रिवृत्कुर्वतः परमात्मन एव संज्ञामूर्तिक्लृप्तिनामरूपव्याकरणं कार्यं भवितुमर्हति । कुतः ? उपदेशात् । "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता, अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा० ६।३।२) इति नामरूपव्याकरणस्य च परदेवताकर्तृकत्वोपदेशात् । अत्र त्रिवृत्करणं परस्यैव ब्रह्मणो नतु हिरण्यगर्भस्य । एवञ्च तत्समानकर्तृकत्वान्नामरूपव्याकरणं परमात्मन एव कर्मेति निश्चीयते ॥२।४।१९॥

"यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवता..." इत्यादित आरभ्य "यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समासः" इत्यन्तेन तेजोबन्नानां बाह्यत्रिवृत्करणमुक्त्वा तासामेव देवतानामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम् "यथा खलु सोम्येमास्तिस्रो देवता पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीही" त्यादिना । एवम् "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योणिष्ठस्तन्मनः" इत्यादिना यत्तेजोबन्नानां परमात्मना त्रिवृत्कृतानामध्यात्मं त्रिवृत्करणं तदपि परमात्मकार्यम् । अन्यस्य तत्कर्तुमशक्यत्वादिति ज्ञापयति—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२।४।२०॥

पुरुषेणाशिताया व्रीहियवादिरूपाया भूमेः कार्यत्रयं शरीरे वर्तते स्थूलं मांसं मनश्चेति । तद्भौममित्युच्यते । मांसादित्यादि शब्देन स्थूलमनसी गृह्येते । एवमितरयोरप्तेजसोश्च यथाशब्दं यथा श्रुत्योक्तं सूक्ष्मं लोहितं प्राणश्चेत्यपां कार्यत्रयम् । अस्थि मज्जा वागिति तेजसः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कार्यत्रयं बोध्यम् । तत्र वायु कार्यत्वेन प्रसिद्धस्य प्राणस्य जलाधीनस्थितिकत्वमात्रेण जलकार्यत्व व्यपदेशः । एवमन्नभक्षणेन मनसः स्वास्थ्यमात्रेण तत्कार्यत्वव्यपदेशः । वाचोपि ज्ञानानुकूलत्वसाम्येन तेजःकार्यत्वव्यपदेशः । तत्र जीवस्यान्नजलाद्यशनपानादि कर्तृत्वेपि तत्पचनपुरीषमांसादित्रिवृत्करणहेतुः परमात्मैव ॥२।४।२०॥

ननु सर्वेषां पदार्थानां त्रिवृत्कृतत्वेन सर्वपि पृथिव्यग्नेजस्वरूपाः। अतस्ते सर्वेपि पृथिव्यग्नेजश्शब्दैर्वक्तव्या न त्वियं पृथिवी, इमा आपः, इदं तेज इत्याशङ्क्याह—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२।४।२१॥

तुशब्द उक्तशंकानिवर्तकः । सर्वेषां पृथिव्यग्नेजसां त्रिवृत्करणत्वाविशेषेऽपि वैशेष्यात्स्वस्वभागाधिक्यात्तद्वादः पृथिव्यादिवादः। यत्र पृथिव्या भागाधिक्यं सा पृथिवीत्युच्यते । यत्रापां भागाधिक्यं ता आप इत्युच्यन्ते । यत्र तेजसो भागाधिक्यं तत्तेज इत्युच्यते। अभ्यासोध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥२।४।२१॥

इति संज्ञामूर्तिक्लृप्त्याधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्य संक्षिप्तसारे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्य प्रणीतस्य शारीरकमीमांसायां
श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ।

जीवोपकरणभूतानां भौतिकानां पदार्थानां कर्ता परमात्मेत्युक्तम् । इदानीं देहान्तरारम्भकैभूतसूक्ष्मैः परिष्वक्त एव जीवो लोकान्तरं गच्छतीत्याह—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥३।१।१॥

किमयं जीवो देहान्तरारम्भकैर्भूतसूक्ष्मैर्मुख्यप्राणादीनामाधारभूतैरसंयुक्तो देहान्तरं गच्छत्याहोस्वित्सम्परिष्वक्त इति संशये । असम्परिष्वक्त एव गच्छति । देहान्तरारम्भकाणां भूतसूक्ष्माणां सर्वत्र सुलभत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्यामिति । पूर्वसूत्रे (२।४।१९) मूर्तिशब्देह उच्यते तस्यैवात्र सूत्रे तत्पदेन ग्रहणम् । तथा च देहान्तरगमने तदारम्भकैर्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव जीवो रंहति गच्छति । कुतश्चैतदवगम्यते ? प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । प्रश्नेन तदुत्तरेण चावगम्यते । पञ्चाग्निविद्यायां छान्दोग्ये श्रूयते "श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय तꣳह प्रवाहणो जैबलिरुवाच" वेत्थ "यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति" (छा. ५।३।१।३) इत्यादिकम् । तत्र प्रवाहणेन राज्ञाऽरुणेयं श्वेतकेतुम्प्रति पञ्च प्रश्नाः कृताः । तेष्वन्तिमः प्रश्नः "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति । अस्य च प्रतिवचनं "असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्" (छा० ५।४।१) इत्यादिना

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कृतम्। तत्र हि द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषारूपास्वग्निषु श्रद्धा-सोमवर्षान्नरेतसामाहुतीः समुपवर्ण्योक्तं "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा० ५।९।१) इति। इत्थं पूर्वोदितासु सर्वास्वप्याहुतिषु सूक्ष्मरूपेणानुवर्तमानानां श्रद्धापदव्यपदेश्यानामेवापां पुरुषशब्दबोध्यत्वमभिहितम्। एवञ्चाभ्यां प्रकृतप्रश्नप्रतिवचनाभ्यामबादिभूतसम्परिष्वक्तोजीवो रंहति देहान्तरमुपयातीत्यवगम्यते ॥३।१।१॥

ननूक्तप्रश्ननिरूपणाभ्यामद्भिः परिष्वक्तो जीवो गच्छति "आपः पुरुषवचसो भवन्ति" इत्यभिधानात्। परन्तु तस्याबितरभूतपरिष्वङ्गानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥३।१।२॥

तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः। अपां त्रिवृत्करणश्रुत्या त्र्यात्मकत्वात्। "आपः पुरुषवचस" इति च भूतान्तरसंसृष्टा आपोऽभिधीयन्ते। तत्रापां भूयस्त्वादाधिक्यात्केवलाप्शब्देनैवाभिधानमुपपद्यते ॥३।१।२॥

प्राणगतेश्च ॥३।१।३॥

"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृ० ६।४।२) इति। तथा "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" (गी०) इति स्मृतेश्च जीवोत्क्रमणकाले मुख्यप्राणसहितानामिन्द्रियाणामपि तेन सह गतिश्रवणात्स्मरणाच्चेन्द्रियाणां देहाश्रितत्वेन देहारम्भकाणां भूतसूक्ष्माणामपि गमनाद् भूतपरिष्वक्त एव जीवो रंहतीति ॥३।१।३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिचेन्न भाक्तत्वात् ॥३।१।४॥

ननु "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्च-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्युरादित्यम्" (बृ० ५।२।१३।) इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिषु लयस्य श्रवणात्तेषां मरणकाले जीवेन सह गतिर्नोपपद्यत इति चेन्न, "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" इति जीवेन सह वागाद्युत्क्रान्तिश्रुतिविरोधेन तेषामग्न्यादिदेवतासु लयाऽनुपपत्तेः। "यत्रास्य पुरुषस्याग्निं" मित्यादिश्रुतेर्भोक्तृत्वावगमात्। तथा च नहि मृतस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानानां लोम्नां केशानाञ्चौषधिषु वनस्पतिषु च लयो दृश्यते। अतोऽग्न्यादिषु वागादिलयश्रुतेरौपचारिकत्वम् ॥३।१।४॥

प्रथमेऽश्रवणादितिचेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥३।१।५॥

प्रथमे द्युलोकाख्यात्रावापाहुतेरश्रवणात्किन्तु "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति" (छा० ५।४।२) इति प्रथमेऽग्नौ श्रद्धाया एवाहुतेः श्रवणादापो भूतान्तरसंसृष्टा गच्छन्तीति नोपपद्यत इति चेन्न। यस्मात्ता एवापः श्रद्धाशब्दवाच्या भवन्ति। कुतः? उपपत्तेः। "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा० ५।३।३) इति प्रश्नवाक्येपामेवाहुतेः श्रवणात्। प्रतिवचनवाक्ये श्रद्धाशब्देनाप एवोक्ता भवन्ति। "श्रद्धा वा आपः" इत्यपां श्रद्धाशब्दवाच्यत्वं श्रुत्यावगम्यते ॥३।१।५॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥३।१।६॥

ननु "देवाः श्रद्धां जुह्वति" (छा० ५।४।२) इत्यादि प्राकरणिकेषु वाक्येष्वबादिभूतपरिष्वक्तस्य जीवस्य रंहणत्वं नापपद्यते। कुतः? प्रश्नप्रतिवचनवाक्ययोरश्रुतत्वात्। इति चेन्न। इष्टादिकारिणां प्रतीतेः। इष्टादिकारिणां जीवानां भूतपरिष्वक्तानां रंहणत्वप्रतीतेः। "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" (छा० ५।१०।३) इतीष्टादिकारिणां धूममार्गेण चन्द्रलोकप्राप्तिः श्रूयते। "एष सोमो राजा" इति तत्रस्थानां सोमराजशब्देन निर्देशात् ॥३।१।६॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ननु "ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ती"ति श्रुतौ चन्द्रलोकगतानां भूतपरिष्वक्तानामिष्टादिकारिणामन्नत्वेन देवभक्ष्यत्वं श्रूयते। एतच्छ्रुतिविरोधेनेष्टादिकारिणां भूतपरिष्वक्तानां स्वकर्मफलभोगाय चन्द्रलोकं प्रति रंहणं नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह—

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥३।१।७॥

वाशब्दः शङ्कानिवृत्यर्थः। जीवस्य स्वर्गसुखावाप्त्यर्थं 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिविधिवाक्यानां विरोधेनेष्टादिकारिणामन्नत्वस्य मुख्यत्वानुपपत्तेस्तेषां देवान् प्रति किङ्करभार्यादिवद्भोगोपकरणत्वमात्रेणान्नत्ववचनं भाक्तं गौणम्। तत्तेषां देवान्प्रति गुणभावेन भोग्यत्वमुपपद्यते। कुतश्चैतदिष्टादिकारिणां भोग्यत्वमत आह— अनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति। यतस्तेन प्रकारेण तेषामनात्मवित्त्वेन देवभोग्यत्वं दर्शयति श्रुतिः "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्" (बृ० ३।४।१०) इति पञ्चाग्निविद्याविदां य आत्मविदस्तेषामर्चिरादिना ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते। "तद्य इत्थं विदुः" इत्यादिना तेषामात्मज्ञानं विना ब्रह्मप्राप्त्यनुपपत्तेरात्मवित्त्वमवगम्यते। आत्मविद्यां स्वर्गकामनानुपपत्तेः। स्वर्गप्राप्तिकामनां विना स्वर्गप्राप्त्यनुपपत्तेर्ये धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकं गच्छन्ति तेषामनात्मवित्त्वनिष्पत्तेरनात्मविदामिष्टादिकारिणां देवान्प्रत्यन्तभावेन भोग्यत्वमात्मवित्प्रशंसार्थं गौणमेव। तस्मात्स्वर्गसुखभोगार्थं सूक्ष्मभूतपरिष्वक्तो रंहतीति सिद्धम् ॥३।१।७॥

इति तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ कृतात्ययाधिकरणम् ।

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ॥३।१।८॥

केवलमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलभोगार्थं धूमादिमार्गेण सोमलोक प्राप्तानां तत्र च भुक्तकर्मफलानां ततो निवर्तनं श्रूयते "तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" (छा० ५।१०।५) इत्यादि। तत्र संशयः। किं चन्द्रमण्डलान्निवर्तमानास्ते जीवा निरनुशया एव निवर्तन्त आहोस्वित्सानुशया इति। तत्र निरनुशया एवावरोहन्तीति पूर्वःपक्षः। प्रकृतेऽनुशयशब्द आमुष्मिकफलप्रदकर्मातिरिक्तकर्मवाचकः। श्रुतौ सम्पतन्त्यनेन स्वर्गं लोकंफलभोगायेति सम्पातोऽत्रकर्माऽभिधीयते। एवञ्च 'यावत्सम्पातमुषित्वा' इति वाक्येनाखिलकर्मणामुपभोगस्तत्रैव निश्चीयते। तथा च श्रुतिः "अप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" (बृ० ४।४।६) इति। तस्मात्सर्वकर्मफलभोगानन्तरमेवावरोहणान्निरनुशया एव निवर्तन्ते। इति प्राप्तेऽभिधीयते-कृतात्ययेऽनुशयवानिति। कृतस्य स्वर्गप्राप्तये कृतस्य पुण्यकर्मणो भोगेनात्यये नाशे सत्यनुशयवान् भुक्तशिष्टकर्मवानेव निवर्तते। चन्द्रमण्डलात्प्रत्यवरोहति। कुतोऽवगम्यते। दृष्टस्मृतिभ्याम्। दृष्टा श्रुतिः। सा च "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा" (छा० ५।१०।७) इत्येवं रूपा। येऽत्र कर्मभूमौ रमणीयं पुण्यं कृतवन्तस्ते चन्द्रमण्डलादवरोहन्तो रमणीयां पुण्यां ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते। ये च कपूयं कुत्सितं पापं कृतवन्तस्ते कपूयां कुत्सितां शूकरादियोनिमापद्यन्त इति पुण्यपापकर्मकारिणां स्वर्गात्प्रत्यव-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूढानां प्राक्तनकर्मयोगात्पुण्यपापरूपजन्मनां प्राप्तिं दर्शयन्ती श्रुतिर्भुक्तशिष्टं कर्मास्तीति स्पष्टयति । तथा स्मृतिरपि "वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्ट-देशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते" (गौतम०) इति । ततः शेषेणेत्यनेन सानुशयानामेव स्वर्गादवरोहणं वदति । "यावत्सम्पातमुषित्वा" इत्यस्य सकलकर्मभोगानन्तरं निवर्तन्त इति नार्थः । किन्तु स्वर्गलोकभोक्तव्यानि कर्माण्यशेषेण भुक्तवेत्याद्यर्थः । सकलकर्मफलभोगपरत्वे तु सर्वेषां कर्मणां तत्फल-भोगेन विनाशादुत्तरजन्महेत्वभावेन पुनरिह लोके प्रत्यावर्तना-ऽसम्भवात् "रमणीयां योनिमापद्येरन्" इत्यादि श्रुतेः 'ततः शेषेण' इत्यादिस्मृतेश्च वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । तस्मात्सानुशयानामेवावरोहण-मिति । ते च येन क्रमेणारूढास्तेनैव क्रमेणावरोहन्ति क्रमान्तरेण वेति सन्देहं निरस्यन्नाह—'यथेतमनेवञ्च' आरोहणप्रकारेण तद्विपर्ययेण च निवर्तन्त इति तदर्थः । धूमरात्र्यपरपक्षषण्मास-दक्षिणायन पितृलोकाकाश चन्द्रलोकक्रमेणारोहणप्रकारः । अवरोहण-प्रकारस्तु चन्द्रमसः स्थानादाकाशवायुधूमाभ्रमेघप्रवर्षादि क्रमेण । तत्रारोहणमार्गे श्रुतयोर्धूमाकाशयोरवरोहणमार्गेऽपि श्रुतत्वाद्—यथेतं यथागतं गमनमार्गेण निवर्तन्त इत्यर्थः । आरोहणमार्गे श्रुतानां रात्र्यपरपक्षषण्मास दक्षिणायनपितृलोकानामवरोहणमार्गेऽश्रवणात् । वाय्वभ्रमेघप्रवर्षाद्यधिकश्रवणाच्च । नैवं यथेतं न निवर्तन्ते । गतमार्ग-विपरीतमार्गेणावरोहन्तीत्यर्थः ॥३।१।८॥

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति काष्णाजिनिः ॥३।१।९॥

ननु "रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्" इति श्रुतस्य चरणपदस्यानुशयकर्मार्थकत्वमङ्गीकृत्य सानुशयानामवरोहणं यदुक्तं तन्नोपपद्यते । कुतः ? चरणस्याचारात्मकस्य कर्मणो ब्राह्मणादि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

योनिप्राप्तिहेतुभूतस्यानुशयादतिरिक्तत्वादिति चेन्न । इयं चरणश्रुतिरनुशयकर्मोपलक्षणार्थेति काष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥३।१।९॥

आनर्थक्यमितिचेन्न तदपेक्षत्वात् ॥३।१।१०॥

ननु श्रुतस्य चरणस्यैव सदाचारदुराचारात्मकस्य ब्राह्मणादि-श्वशूकरादिसदसद्योनिप्राप्तिहेतुत्वेन श्रुतस्यानुशयकर्मोपलक्षकत्वे तत्याकिञ्चित्करत्वेनानर्थक्यं स्यादिति चेन्न । तदपेक्षत्वात् । सुख-साधनस्येष्टापूर्तादेः पुण्यकर्मणश्चरणपदाभिहिताचारनिर्वर्त्यत्वेना-चारापेक्षत्वात्तस्य चार्थवत्त्वादिति । "संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" इति स्मृतेः सर्वस्य पुण्यकर्मणः आचारापेक्षत्वात् । "आचारहीनं न पुनन्ति वेदा" इत्याचारहीनस्याशुचित्वाभिधानाच्च । तस्मात्कर्मोपलक्षणार्थेति काष्णाजिनमतम् ॥३।१।१०॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥३।१।११॥

तुशब्दः काष्णाजिनिमतापाकरणार्थः । चरणशब्देन सुकृत-दुष्कृते एवाभिधीयेते इति बादरिराचार्यो मन्यते । न हि सुकृत-दुष्कृतसाधनरूपाचारे चरणशब्दः । कुतः ? पुण्यं कर्म करोतीति वाक्यस्थाने "धर्मं चरती"त्येवमपि प्रयुज्यते । तस्मान्मुख्य एव चरणशब्दः कर्माभिधायकः । सति मुख्यार्थे लक्षणाया अन्याय्य-त्वात् । आचारोऽपि धर्मविशेष एव । तस्मात्सानुशया एव निवर्तन्त इति सिद्धम् ॥३।१।११॥

इति कृतात्ययाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथानिष्टादिकार्याधिकरणम् ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥३।१।१२॥

इष्टादिकारिणां चन्द्रमण्डलगमनमुपवर्णितम् । अथानिष्टादिकारिणां पापकर्मणां गतिश्चिन्त्यते । तेषां किं चन्द्रलोके गमनमस्ति न वेति संशये अस्ति चन्द्रलोके गमनम् । कुतः ? तेषामपि तत्र गमनं श्रुतमस्ति "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौषी० १।२) इति सर्वेषामेव चन्द्रलोके गमनमविशेषेण श्रूयते ॥३।१।१२॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति-दर्शनात् ॥३।१।१३॥

अथैवमिष्टानिष्टकारिणोरविशेषेणैव चन्द्रलोकगमनं तर्हि कथं 'रमणीयां योनिमापद्येरन्' 'कपूयचरणा कपूयां योनिमिति पश्चात्तनवाक्ये फलभेदः' ? इति शङ्कायामाह—संयमने त्वित्यादि । तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । संयमने यमालये स्वपापानुरूपां यामीं यातनामनुभूयैवेतरेषामनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोक आरोहावरोहौ नान्यथा । कुतः ? तद्गतिदर्शनात् । यमलोकगतेः श्रुतौ दर्शनात् । "न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" (का० ६।२) इति । सम्यगवश्यं परः परस्ताद्देहपातादूर्ध्वमय्यते गम्यत इति सम्परायः परलोकस्तत्साधनभूतकर्मविशेषः साम्पराय इति ॥३।१।१३॥

स्मरन्ति च ॥३।१।१४॥

अनिष्टादिकारिणां दुष्कृतकर्मणां सर्वेषां प्राणिनां यमायत्तत्वं स्मरन्ति ऋषयः ॥३।१।१४॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपि च सप्त ॥३।१।१५॥

रौरवादीन् सप्त नरकानपि पापिनां फलभोगभूमित्वेन स्मरन्ति ॥३।१।१५॥

ननु सप्तसु रौरवादिषु पापफलभोगभूमिषु गच्छतां कुतो यमलोकावाप्तिरित्याह—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥३।१।१६॥

रौरवादिष्वपि यमव्यापारादेव गमनात्पापिनां यमवश्यत्वस्याविरोधः ॥३।१।१६॥

एवं पञ्चसूत्र्याः पूर्वपक्षमुद्भाव्य सिद्धान्तयति—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥३।१।१७॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । यदुक्तमनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकगतिरस्तीति तन्नोपपद्यते । कथमवगम्यते । विद्याकर्मणोः फलभोगार्थत्वेन देवयानपितृयाणयोरुपयोगः । तथा हि—"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छा० ५।१०।१।) इत्यारभ्य "तत्पुरुषोऽमानवः । स एतान् ब्रह्मगमयत्येष देवयानः पन्थाः" (छा० ५।१०।) इत्यन्तेन विद्याया देवयानाख्यमार्गसाधनतया प्रकृतत्वात् । "अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति" (छा० ५।१०) इत्यारभ्य "आकाशाच्चन्द्रमसम्" इत्यन्तेनेष्टापूर्तादिकर्मणः पितृयाणाख्यमार्गसाधनत्वेन प्रकृतत्वात् । तत्रेष्टादिकारिणां विद्यारहितत्वेन यथाब्रह्मलोकगमनासम्भवस्तथेष्टापूर्तदत्तादिपुण्यकर्मरहितानामपि चन्द्रलोकगमनासम्भव इत्याशयः ॥३।१।१७॥

अथैवं पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति पञ्चम्याहुतेर्देहारम्भकत्वश्रवणात् तस्याश्चन्द्रगमनपूर्वकत्वश्रवणाच्च पापिनोऽपि देहारम्भार्थं चन्द्रलोकगमनमवश्यमङ्गीकार्यमित्याशङ्क्याह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥३।१।१८॥

तृतीये स्थान उक्तानां पापिनां क्षुद्राणां जन्तूनां देहारम्भाय पञ्चमाहुत्यपेक्षा नास्ति। कुतः? तथोपलब्धेः। "वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यत इति" (छा० ५।३।३) इति प्रश्नस्य प्रतिवचनम्। विद्याऽविद्यावतां देवयानपितृयाणादिक्रमेण ब्रह्मचन्द्रलोकप्राप्तिमभिधाय "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते" (छा० ५।१०।८) इति दृश्यते। अत्र वर्णितस्य तृतीयस्थानस्य प्राप्तये न द्युलोकादिगमनापेक्षेति। अत एव न पञ्चमाहुत्यपेक्षेति निर्णयः ॥३।१।१८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥३।१।१९॥

अपि च लोके भारतादिषु पुण्यकर्मणामपि द्रोणद्रौपदीधृष्टद्युम्नादीनां चायोनिजत्वं स्मर्यते। तस्मान्न पञ्चमाहुतेर्नियमः ॥३।१।१९॥

दर्शनाच्च ॥३।१।२०॥

किञ्च श्रुतावपि कयोश्चिदुद्भिज्जस्वेदजयोर्भूतयोः स्त्रीपुंव्यक्तिसंयोगजपञ्चमाहुतिमन्तरेणैवोत्पत्तेर्दर्शनात्पञ्चमाहुतेरनपेक्षया देहारम्भः। दर्शनं श्रुतिः "तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति" (छा० ६।३।१) इति ॥३।१।२०॥

ननु 'त्रीण्येव बीजानी'ति वचनात्कथं चतुर्थस्य स्वेदजस्यात्र ग्रहणम्? इत्यत्राह—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥३।१।२१॥

श्रुतौ "अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति" इति तृतीयेनोद्भिज्जशब्देन संशोकजस्य स्वेदजस्यावरोधः संग्रहः। वृक्षादिकं भूमिमुद्भिद्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रूयते स्वेदजन्तु जलमित्युभयोरुद्भिज्जत्वेनाविशेषादुद्भिज्जशब्देन ग्रहणम्। तस्मादनिष्टादिकारिणां दुष्कृतशालिनां न चन्द्रलोकगमनमिति सिद्धम् ॥३।१।२१॥

इत्यनिष्टादिकार्याधिकरणम्।

अथ साभाव्यापत्त्यधिकरणम्।

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥३।१।२२॥

एवमिष्टादिकारिणां पितृयाणेन चन्द्रमण्डलगतिस्तत्र यावत्सम्पातं समवस्थानं ततश्च सानुशयानामेवावरोहणमित्यभिहितम्। इदानीमवरोहप्रकारश्चिन्त्यते। सचेत्थं श्रूयते "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति" (छा० ५।१०।५) तत्र संशयः। किमेषामवरोहतामाकाशादिप्राप्तौ देवादिवदाकाशादिस्वरूपोपलब्धिराहोस्विदाकाशादिसाम्यमेव। तत्राकाशादिस्वरूपोपलब्धिरिति। कुतः? श्रद्धारूपाणां यथा सोमरूपोपलब्धिस्तद्वदत्राप्यविशेषेणाकाशमारभ्य "वायुर्भूत्वा धूमो भवती"त्येवं तादृप्यमेव श्रूयते। इति प्राप्तेऽभिधीयते—साभाव्यापत्तिरिति—साम्यापत्तिरित्यर्थः। कथमवगम्यते। उपपत्तेः। सोमादिषु पुण्यपापोपभोगार्थं सारूप्यमेवावश्यकम्। आकाशादिप्रतिपत्तौ तदुपभोगाभावात्स्वरूपोपलब्धेर्नोपयोगस्तस्मादाकाशादि साम्यमेवोपयान्ति। अत्राकाशादिभावश्चाकाशादिसादृश्यापत्तिरेवेत्यभ्युपेयते ॥३।१।२३॥

इति साभाव्यापत्त्यधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ नातिचिराधिकरणम् ।

नातिचिरेण विशेषात् ॥३।१।२३॥

एवमाकाशादिवर्षपर्य्यन्तेषु पूर्वपूर्वसादृश्यं प्राप्योत्तरोत्तरः सादृश्यं प्राप्नोतीत्युक्तम् । तदाश्रित्य किं जीवश्चिरकालमेकसादृश्यमास्थायापरसादृश्यं प्राप्नोत्याहोस्विदल्पकालं वेति संशये चिरं तिष्ठत्यचिरं वेति नियमाभावाच्चिरकालमेवेति प्राप्तेऽभिधीयते-नातिचिरेणेति । अचिरकालमेवाकाशादिभावेनावतिष्ठन्ते । कुतः? विशेषात् । व्रीह्यादिभावावाप्त्यनन्तरं विशिष्य दुर्निष्क्रमणवचनात् । "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" (छा० ५।१०।६) इति व्रीह्यादिभाव-मुपगतानां दुःखेन निष्क्रमणमुच्यते । एतेनावगम्यतेऽतः पूर्व-माकाशादिप्रतिपत्तावचिरेणैव निष्प्रपतनमिति । दुर्निष्प्रपतरमि-त्यत्रच्छान्दसस्तलोपः ॥३।१।२३॥

इति नातिचिराधिकरणम् ।

अथान्याधिष्ठिताधिकरणम् ।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥३।१।२४॥

अवरोहणवाक्ये—"त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिल-माषा इति जायन्ते" (छा० ५।१०।६।) इत्यनुशयिनां जीवानां व्रीह्यादिभावेनोत्पत्तिः श्रूयते । तत्र संशयः । किं जीवानां व्रीह्यादि-भावेन मुख्यजन्मोच्यत आहोस्विज्जीवान्तराधिष्ठिते व्रीह्यादाव-नुशयिनां तेषां सादृश्येन संसर्गमात्रमिति । किं युक्तम् ? 'जायन्ते' इति वचनाद्व्रीह्यादिशरीरत्वेन सुखदुःखभाजो जायन्ते । मनुष्यो जायते । पशुर्जायत इतिवत् । एवं प्राप्तेऽभिधीयतेऽन्याधिष्ठित

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इति। अन्यैर्जीवैरधिष्ठिते व्रीह्यादावनुशयिनां जीवानां संसर्गमात्रं भवति। पूर्ववत्। आकाशादिवर्षान्तसंसर्गमात्रत्ववत्। कथमवगम्यते। अभिलापात्। इष्टापूर्तादेः कर्मणः स्वर्गसुखभोगेनैव विनष्टत्वात्तदतिरिक्तस्य भुक्तशेषस्यानुशयरूपस्य च कर्मणः कर्मान्तरामावेन सुखादिभोक्तृत्वाऽनुपपत्त्या मुख्यजन्मत्वानुपपत्तेः। तस्मादाकाशादिभावापत्तिरिव व्रीह्यादिभावावाप्तिरपि तत्संसर्गरूपैव। 'जायन्त' इति च भाक्तः प्रयोगः ॥३।१।२४॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥३।१।२५॥

ननु पूर्वश्रुतमिष्टाद्यग्निष्टोमादिकर्म हिंसागर्भत्वेनाशुद्धं तत्कारिणामनुशयिनां स्वर्गादवरोहतांव्रीह्यादिषु जन्मदुःखाद्यनुभवार्थमिति चेन्न। शब्दात्। 'यजेत' इत्यादिविधिशब्दात्। अग्निष्टोमादीनां श्रुतिविहितानां कर्मणां पुण्यफलवत्त्वेन न दुःखहेतुत्वमिति ॥३।१।२५॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥३।१।२६॥

इतोऽपि संश्लेषमात्रं व्रीह्यादिषु—व्रीह्यादिभावानन्तरमनुशयिनां रेतः सिञ्चतीति रेतःसिक् पुरुषस्तद्योगस्तद्भावः श्रूयते—"यो यो अन्नमत्ति यो रेतस्सिञ्चति तद्भूय एव भवति" (छा० ।५।१०।६।) इति। यथाऽत्र तद्योगमात्रमुच्यते तथा व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रमेव ॥३।१।२६॥

नन्वेवमनुशयिनां सर्वत्र संश्लेषमात्रमुत क्वचिन्मुख्यमपि जन्मेत्यत आह—

योनेः शरीरम् ॥३।१।२७॥

'यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती'त्यनन्तरं "तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशो ह यत्तेरमणीयां योनिमापद्येरन्" (छा०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

५।१०।७।) इत्यनुशयिनामनुशयाख्यकर्मभोगाय योनौ निषिक्ते रेतसि योनेर्योनिप्राप्तेः पश्चादेव मुख्यं जन्म सम्पद्यते । अतः पूर्वमाकाशादिषु संश्लेषमात्रमेवेति सिद्धम् ॥३।१।२७॥

इत्यन्याधिष्ठिताधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे तृतीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥ १ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ सन्ध्याधिकरणम् ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥३।२।१॥

स्वप्नमधिकृत्य "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ खल्वयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्ताः पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता" (बृ० ४।३।१०) इत्येवं श्रूयते । तत्र संशयः । किमस्या रथादिसृष्टेः कर्ता जीव आहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? जीव इति । कुतः ? तस्यैव स्वप्नकृतत्वात्, 'स हि कर्ता' इति तस्यैव परामर्शाच्च । सूत्रार्थस्तु—सन्ध्ये जागरितसुषुप्त्योः सन्धौ भवे स्वप्ने सृष्टी रथादिसृष्टिः स्वप्नद्रष्टा जीवेन कृता । हि यतः स हि कर्ता स स्वप्नद्रष्टा । जीवः सृष्टेः कर्तेति श्रुतिराह ॥३।२।१॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥३।२।२॥

एवं जीवमेव स्वप्ने कामानां निर्मातारमेके शाखिन आमनन्ति "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।" (का. २।५।८) इति । एषु चक्षुरादिकरणेषु सुप्तेषु स्वव्यापारादुपरत्वेष्विन्द्रियेषु । अत्र कामशब्देन काम्यन्त इति कामाः पुत्रादय एव निर्दिष्टाः । "सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व" "शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" (का० १।१।२३) इति कामानिति कामशब्देन पुत्रादीनां प्रस्तुतत्वात् । जीवस्य स्वप्न उपकरणाद्यभावेपि सत्यसंकल्पत्वाद्रथादीनां पुत्रादीनां च सृष्टिकर्तृत्वमुपपद्यते ॥३।२।२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह—

मायामात्रन्तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३।२।३॥

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थः । स्वाप्नस्थरथयोगाद्यर्थजातं परमात्मसृष्टमित्यर्थः । "जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता" इत्यादाविवात्रापि मायाशब्दस्याश्चर्यार्थकत्वात् । एवञ्च स्वाप्निकानां रथादीनां स्वप्नकालमात्रावसानानां स्वप्नदृङ्मात्रानुभाव्यानामाश्चर्यरूपत्वमेव । अस्याश्चाश्चर्यरूपायाः सृष्टेः कर्तृत्वं परमात्मन एवोपपद्यते । तस्य सर्वदाबाधितसत्यसंकल्पत्वात् । न तु जीवस्य तदुपपद्यते । तस्य प्रजापतिवाक्य आविर्भूतस्वरूपसमकाले सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वपर्यन्तस्याविर्भावित्वश्रवणात् । संसारदशायां तत्सत्यसंकल्पत्वपर्यन्तस्य कर्मरूपाविद्यातिरोहितत्वेन कृत्स्नस्यानभिव्यक्तस्वरूपत्वाद् रथादिसृष्टेर्जीवकृतत्वं नोपपद्यते । 'कामं काम' मिति तु परमात्मनो निर्मातृत्वमभिधत्ते ॥३।२।३॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥३।२।४॥

नन्वपहतपाप्मत्वादयो गुणा जीवस्य स्वाभाविकाश्चेत्युस्तर्हि कथं न सर्वदोपलभ्यन्त इत्यत्राह पराभिध्यानात्त्वित्यादि । तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः । अस्य जीवस्यानादिपुण्यपापकर्मरूपयाऽविद्यया तिरोहितमपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वान्तगुणविशिष्टं स्वाभाविकं रूपं पराभिध्यानात्परस्य परमात्मनोऽभिध्यानात् तदेकचिन्तनलक्षणात् तत्प्रसादादभिव्यज्यते । हि यतः परमात्मनः संकल्पादेवास्य जीवस्य बन्धमोक्षौ श्रूयेते ॥३।२।४॥

देह योगाद्वा सोऽपि ॥३।२।५॥

सोऽपि स्वरूपतिरोभावोऽपि देहयोगात् सृष्टिकाले देवमनुष्यादिदेहात्मना परिणतप्रकृतियोगात्, वाशब्दात्प्रलयकालेऽनभि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यक्तनामरूपसूक्ष्मदशापन्नाच्चिद्योगाद्भवति । यथा भस्मयोगादग्नेः प्रकाशनसामर्थ्यं तिरोभवति तद्वदत्रापि तिरोभाव इति ॥३।२।५॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥३।२।६॥

इतश्च न स्वाप्नार्था जीवसंकल्परचिताः । हि यतः स्वाप्निकोऽर्थ इष्टानिष्टयोः सूचकः । "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्न निदर्शने ।" (छा० ५।२।९।) इत्यादिश्रुतेरवसीयते । तद्विदः स्वप्नदृष्टार्थफलविदश्च 'अथ पुरुषं कृष्णं कृष्णदंतञ्च पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना स्वाप्नार्थस्येष्टानिष्टसूचकत्वमाचक्षते । तेषां जीवसंकल्पकृतत्वेऽनिष्टसूचकत्वं नोपपद्यते । नहि कश्चिदनुन्मत्तः स्वानिष्टकारिणोऽर्थान् सृजति सृष्ट्वा च पश्यति । तस्मात्स्वाप्नसृष्टेः कर्तृत्वं परमात्मन एवोपपद्यते न जीवस्य ॥३।२।६॥

इति सन्ध्याधिकरणम् ।

अथ तदभावाधिकरणम् ।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥३।२।७॥

एवं स्वप्नावस्थां विचिन्त्य सुषुप्त्यवस्थामिदानीं विचारयति । तत्र सुषुप्तिस्थानमधिकृत्य विभिन्नाः श्रुतय उपलभ्यन्ते । यथा "यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति" (छा. ८।६।३) इति । अन्यत्र "अथ यदि सुषुप्तो भवति यदि न कस्य च न वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" (बृ० २।१।१९) इति । इतरत्र "य एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिञ्शेते" (बृ. २।१।१७) इति । अपरत्र च "यत्रै

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा. ६।८।१) इति। तत्र संशयः। किमेषां श्रूयमाणानां नाडीपुरीतत्परमात्मनां त्रयाणां मध्ये जीवस्य यत्र कुत्रचित्सुषुप्तिरथवानाडीपुरीतत्प्रवेशानन्तरं परमात्मन्येवेति ? किं तावत्प्राप्तम् ? परस्परनिरपेक्षाणामेव वचनानां सत्त्वादेकस्य युगपदनेकसुषुप्त्यसम्भवाच्च विकल्प इति प्राप्तेऽभिधीयते—तदभाव इति। तदभावः स्वप्राभावः सुषुप्तिर्नाडीषु पुरीतति परमात्मनि च भवतीत्यर्थः। नाड्यादीनां त्रयाणां समुच्चय एव न विकल्पः। कुतः ? तच्छ्रुतेः। तेषां नाडीपुरीतत्परमात्मनां त्रयाणामपि सुषुप्तिस्थानत्वश्रुतेः। समुच्चयास्वीकारे त्रिविधसुषुप्तिबोधकश्रुतीनां संग्रहो न स्यादिति भावः। तत्र नाडीपुरीतत्प्रवेशनं विना ब्रह्मसम्पत्तेरनुपपत्तेर्नाडीपुरीतत्प्रवेशद्वारा ब्रह्मसम्पत्तिरेवात्र बोध्यते ॥३।२।७॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥३।२।८॥

यतः परमात्मैव जीवस्य साक्षात् सुषुप्तिस्थानम्। अत एवास्मात्परमात्मनो जीवस्यागमनं श्रूयते प्रबोधकाले "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति" (छा० ६।१०।२) ॥३।२।८॥

इति तदभावाधिकरणम्।

अथ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्याधिकरणम्

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥३।२।९॥

यः सुषुप्तः स एवोत्तिष्ठत्यन्यो वेति संशये सुषुप्तस्य सर्वोपाधिविमुक्तिपूर्वकं ब्रह्मसम्पन्नस्य मुक्तस्येव ब्रह्मण उत्थानानुपपत्तेर्न स उत्तिष्ठति। तत्र सिद्धान्तमाह—स एवत्विति। यः सुप्तः स एवोत्तिष्ठतीति। कुतः ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। कर्म तावद्,

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यैर्यैस्य पुण्यपापात्मककर्मभिरयं देहो निर्मितस्तं विना तदन्यस्य तत्कर्मभोगो नोपपद्यते । अन्यच्च, पूर्वदिनेद्धं कर्म कृत्वा सुप्तः पुनरुत्थायावशिष्टमर्धं समापयति । स्मृतिरपि, सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थाय सुप्तमात्मानं स्मरति । "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति" (छा० ६।१०।२) इति सुप्तस्यैव प्रबोधं दर्शयति । विधिभ्यश्चापि—"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० ४।५।६) इत्येवमादयो मोक्षार्था विधय आत्मदर्शनमन्तरेण जीवस्य सुषुप्तिमात्रेण मुक्तत्वे व्यर्थतां गच्छेयुः । नह्येषामानर्थक्यं युज्यते । तस्माद्यः सुप्तः स एव प्रबुद्धते नान्य इति ॥३।२।९॥

इति कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ।

अथ मुग्धाधिकरणम् ।

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥३।२।१०॥

किं मूर्छा सुषुप्तिरुत मरणं मरणादर्थान्तरं वेति संशये सर्वेन्द्रियाणां मनसश्च व्यापारादर्शनान्मरणमेवेति प्राप्त आह—मुग्धेर्धसम्पत्तिरिति । जागरितस्वप्नयोर्ज्ञानस्य सत्त्वान्मूर्छितस्य ज्ञानाभावान्न मूर्छा जागरितस्वप्नावस्थे नापि सुषुप्तिः । मुग्धस्य निश्चलोन्मीलिते नेत्रे भयङ्करं वदनं शरीरे कम्पो निश्चलाः प्राणाः सर्वाङ्गे वैरूप्यं च दृश्यते । नैतानि लक्षणानि सुषुप्तौ दृश्यन्ते । मरणे प्राणोष्मणोरभावान्मूर्छायां द्वयोः सद्भावान्न मूर्छा मरणावस्था । तस्मात्परिशेषादर्धसम्पत्तिर्मुग्धावस्था पूर्वावस्थाभ्यो भिन्नैव । मुग्धस्य मरणावस्थाधर्मरहितत्वेन प्राणोष्मणोः सत्त्वादिनार्धेन धर्मेण सम्प-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न्नत्वादर्धेन मरणावस्थाधर्मजातेन युक्तत्वान्मरणार्धसम्पत्तिर्मूर्धेति ॥ ३।२।१०॥

इति मुग्धाधिकरणम् ।

अथोभयलिङ्गाधिकरणम् ।

एवं वैराग्यजननाय दोषविशिष्टानां जीवावस्थानां विचारः कृतः । इदानीं जीवप्राप्यस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गतोच्यते—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥३।२।११॥

किं जीवस्य दोषा जागरिताद्यवस्थाप्रयुक्ताः पूर्वमुपदर्शितास्ते तदन्तर्यामिणः परमात्मनोऽपि सन्त्याहो स्विन्नेति संशयः । किं युक्तम् ? सन्तीति । कुतः ? जागरितस्वप्नाद्यवस्थावति शरीरे परमात्मनोऽप्यवस्थानात् । "यस्य पृथिवी शरीरम्" "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्" "यस्यात्मा शरीरम्" "यस्य रेतः शरीरम्" इत्यादिषु तस्य सर्वशरीरत्वश्रवणेन रेतः शोणितादिविशिष्टतया सर्वदोषवत्त्वसम्भवात् । इति प्राप्तेऽभिधीयते—न स्थानतोऽपीति । हि यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु निर्दोषत्वसकलकल्याणगुणाकरत्वरूपोभयलिङ्गमुभयलक्षणं परं ब्रह्मावगम्यते । अतः स्थानतोऽपि पृथिव्यादीनां जीवस्य चान्तर्यामितयावस्थानतोऽपि परस्य ब्रह्मणो जीवस्यैव जागरिताद्यवस्थाप्रयुक्ता दोषा न सम्भवन्ति । अत्र श्रुतयस्तावत्- "अपहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" (छा० ८।७।१) "निरवद्यं निरञ्जनम्" "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मु० १।१।९) इत्यादयो ब्रह्मणो निर्दोषत्वमुक्त्वा पुनस्तस्यैव दिव्यकल्याणगुणवत्त्वमभिदधते । स्मृतयोऽपि—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । इति मां योऽभि जानाति कर्मभिर्न स बद्धयते" (गी०) ॥३।२।११॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥३।२।१२॥

ननु प्रजापति वाक्येन जीवस्याप्युभयलिङ्गत्वमुक्तं तथापि देव-मनुष्यादिशरीरसम्बन्धरूपावस्थाभेदात्तत्तद्दोषसम्बन्धस्तथा पर-स्यापि पृथिवीजीवादिशरीरसम्बन्धित्वावस्थाभेदाद्दोषास्स्युरेवेति चेन्न। प्रत्येकमतद्वचनात्। ये परमात्मशरीरत्वेनोक्ताः पृथिव्यादयो जीवश्च तेषु प्रत्येकमुपादाय दोषाऽसम्बन्धित्ववचनात्। "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३।७।३) इत्यन्तर्यामिणः सर्वत्रामृतत्व-वचनेन तत्तत्सम्बन्धकृतदोषरहितत्वस्योक्तत्वात्। जीवस्य तु पर-मात्मसंकल्पादविद्यातिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणस्य तत्कृतपुण्य-पापकर्मफलसुखदुःखभोगरूपदोषस्यावर्जनीयत्वात् ॥३।२।१२॥

अपि चैवमेके ॥३।२।१३॥

अपि च जीवपरमात्मनोरेकस्मिन्देहेऽवस्थितयोरपि परमात्मनः कर्मफलाभोगित्वेन निर्दोषत्वं जीवस्य तत्फलभोगित्वेन दोषवत्त्वमेके शाखिनोऽधीयते। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष-स्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति" ॥ (मु० ३।१।१) इति ॥३।२।१३॥

ननु "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।२।) इति श्रुत्या परमात्मनोऽपि जीवेन सह प्रविष्टत्वा-भिधानात् तत्सामान्याच्च परमात्मनोऽपि नामरूपभाक्त्वेन कर्मव-श्यता स्यादेवेत्याशङ्कायामाह—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥३।२।१४॥

देव मनुष्यादिशरीरेषु शरीरित्वेनावस्थितमपि परं ब्रह्म अरूप-वदेव पुण्यपापकर्महेतुकनामरूपरहितमेव। कुतः ? प्रधानत्वात्। जीवस्य पूर्वकृतपुण्यपापकर्मानुरूपनामरूपव्याकरणकर्तृत्वेन तदुपका-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रितया तद्भिन्नधर्मवत्त्वेन तत उत्कृष्टत्वात् । अयमभिप्रायः । परमपुरुषः कृपया कर्मपरवशानां जीवानां भुक्तिमुक्तिसिद्धयर्थं तत्तत्पूर्वतनपुण्यपापकर्मानुसारेण तस्य तस्य च नामरूपात्मिकां देवमनुष्यादिरूपां सृष्टिं विधाय स्वयं तन्नियन्तृत्वेन तत्पारवश्याभावतया सर्वदाऽतिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणतया स्वप्रकाशचित्स्वरूप एव जीवकर्मानुगुणं जीवान्प्रवर्तयन् तदन्तर्यामितयाऽवतिष्ठते । अतो जीवानां कर्मवश्यत्वं परमात्मनः कर्मवश्यताराहित्यं सम्यगुपपद्यते ॥३।२।१४॥

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥३।२।१५॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "तदेवा ज्योतिषां ज्योतिरुपासते"इत्येवमादिश्रुतीनामवैयर्थ्यात् याथार्थ्यात्प्रकाशस्वरूपं ब्रह्मेत्यवगमात् । "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" "सत्यकामः" "सत्यसंकल्पः" "निरवद्यं निरञ्जनम्"इत्येवमादिश्रुतीनामवैयर्थ्यात् याथार्थ्यात्सर्वदोषरहितत्वं निखिलदिव्यगुणाकरत्वञ्च ब्रह्मस्वरूपमित्यवगमादुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण उपपन्नमेव ॥३।२।१५॥

आह च तन्मात्रम् ॥३।२।१६॥

एवञ्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति श्रुतिर्ज्ञानशब्देन प्रकाशमात्रं ब्रह्म स्वरूपमाह "ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान्द्वैतपरमानन्द आत्मा । यः सच्चिदानन्दाद्वैतैकचिदात्माभूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः" इति श्रुतिश्च चिदेकरसप्रकाशमात्रं ब्रह्मस्वरूपमाह॥३।२।१६॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥३।२।१७॥

दर्शयति च "पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्" "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (का० २।१।२०।) "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते"

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(श्वे० ६।२।) "यः सर्वज्ञस्सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु० १।१।९) "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" (श्वे० ६।८।) "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" "स एको ब्रह्मण आनन्दः" (तै० २।८।) "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वे० ६।१९) इत्येवमादिश्रुतिगणः समस्तदोषरहितत्वमशेषकल्याणगुणाकरत्वं च परमात्मनो वक्ति। स्मर्यते च "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च" (गी० १५।१५।) "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय" (गी० ७।७।) "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (गी० १०।४२) "सर्वज्ञः सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलर्द्धिमान्" (वि० पु० ५।१।४८) इत्येवमादिषु तस्य सर्वकल्याण गुणाकरत्वं सर्वदोषरहितत्वञ्चेति न स्थानप्रयुक्तानां दोषाणां परस्मिन्नवकाश इति ॥३।२।१७॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥३।२।१८॥

यतः परमात्मनः पृथिव्यादिषु प्रविष्टस्याप्युभयलिङ्गत्वेन जलप्रतिबिम्बितसूर्यादिवन्न स्थानप्रयुक्तदोषप्रसङ्गः। अत एव शास्त्रेषु सूर्यकाशादीनामुपमाभिः परमात्मोपमीयते। "एक एव हि भूतात्मा सर्वभूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्"-(याज्ञव० ३।१।४) इत्यादिषु ॥३।२।१८॥

अम्बुवद्ग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥३।२।१९॥

तु शब्दश्चोद्यं दर्शयति। अम्बुवदिति सप्तम्यन्ताद्वतिः। अम्बुदर्पणादिष्वनवस्थित एव सूर्यो भ्रान्त्या तत्रस्थ इव दृश्यते। न तथा पृथिव्यादिषु परमात्मा भ्रान्त्या गृह्यते। किन्तु 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवीशरीरम्' इत्यादिवचनाद् वस्तुत एव स्थितो गृह्यते। अतो न तथात्वम्। सूर्यस्य जलादौ भ्रान्त्या दृश्यमानत्वात्पर-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मात्मनश्च तत्र परमार्थतः स्थितत्वान्न त्वदुक्तदृष्टान्तसाम्यमिति भावः ॥३।२।१९॥

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्या-
देवं दर्शनाच्च ॥३।२।२०॥

चोद्यं समाधत्ते। यथा सूर्यादिप्रतिबिम्बस्य जलान्तर्भावात् जलान्तर्गतस्य जलगतवृद्धिह्रासादिभाक्त्वं न याथार्थ्यरूपेण न च तच्छैत्यादिधर्मेण कदापि सम्बन्धः। एवं पृथिवीचक्षुरादिषु लघु-दीर्घस्थानेषु तदन्तर्गतत्वेन तत्तदन्तर्यामितयावस्थितस्याप्यविद्या प्रत्यनीकत्वेन सर्वदोषप्रत्यनीकतया परमात्मनोऽपरिच्छिन्नस्वरूपस्य पृथिव्यादिचक्षुरादिगतवृद्धिह्रासादिभाक्त्वं न वास्तवं न च तत्तद्गत-दोषैः कदापि सम्बन्ध इत्येतावतांशेन तयोर्दृष्टान्तयोरुभयोः सामञ्जस्यात्। सिंहो माणवक इत्यादौ तथा दर्शनाच्चोपपद्यते सूर्य-कादिदृष्टान्तेन परमात्मनः सर्वदोषरहितत्वम् ॥३।२।२०॥

नन्वेवम् "अथात आदेशो नेति नेती"त्यादिनिषेधश्रुतिभिर्ब्रह्म निष्प्रपञ्चं सन्मात्रं,न तस्योक्तोभयलिङ्गत्वमुपपद्यत इत्याशङ्कायामाह-

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति
च भूयः ॥३।२।२१॥

अत्र "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च" (बृ० २।१।१) इत्यादिना यद्विविधं ब्रह्मणो रूपं प्रतिज्ञातं तस्यैव 'नेति नेति' इति प्रतिषेधे श्रुतेरुन्मत्तत्वप्रसक्त्या तत्प्रतिषेधानुपपत्तेः किन्तु प्रकृ-तैतावत्त्वं हि ब्रह्मणः प्रतिषेधति। यद्रूपद्वयं प्रकृतं तस्य ब्रह्मरूपस्यै-तावत्त्वं तदेतन्मात्रमेव ब्रह्मरूपं नास्तीति प्रतिषेधति। इतोऽप्यधिकं ब्रह्मणो रूपमस्तीति ज्ञापनाय। यतो निषेधानन्तरं ततः पूर्वोक्त-द्रूपद्वयाद्ब्रह्मणो भूयो गुणजातं ब्रवीति। अतः प्रकृतैतावत्त्वं हि

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रतिषेधति। "न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" (बृ० २।३।६) इति। नेति नेतीति निर्दिष्टादेतस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्परं स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्टं न ह्यस्तीत्यर्थः। तस्मादत्र नेति नेतीत्यादिना न ब्रह्मणस्सविशेषत्वं निषिध्यतेऽपितु पूर्वप्रकृतेयत्तामात्रमित्युभयलिङ्गत्वमस्त्येव ब्रह्मणः ॥३।२।२१॥

यस्य ब्रह्मणो 'मूर्तं चैवामूर्तञ्चे'ति द्वे रूपेऽभिहिते तद्ब्रह्म चक्षुरादीन्द्रियाऽगोचरमित्याह—

तदव्यक्तमाह हि ॥३।२।२२॥

तद्ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते। हि यत आह श्रुतिः—"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिना ॥३।२।२२॥

तर्हि ब्रह्मणःप्रत्यक्षाभावात्कदापि कस्यापि मोक्षो न स्यादित्याह—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥३।२।२३॥

संराधनं सम्यगाराधनं प्रीतिपूर्वकं तदेकचिन्तनं तस्मिन् सत्येवास्य साक्षात्कारो भवति नान्यत्रेतिप्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञायते। श्रुतयस्तावद् "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु० ३।१।८।) "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" (मु० ३।१।३।) "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मु० २।२।८।) "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" (मु० ३।२।३) इत्यादयः। स्मृतयोऽपि "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तपः।" (गी० ११।५४) इत्येवमाद्याः ॥३।२।२३॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥३।२।२४॥

अतोऽपि प्रकृतेयत्तायाः निषेधो न मूर्तादिविशिष्टस्य। "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" (बृः १।४।१०।) इत्यादिश्रुतिषु साक्षात्कृतब्रह्मस्वरूपाणां वामदेवादीनां दर्शने प्रकाशादिवज्ज्ञानानन्दादिस्वरूपवन्मूर्तादिप्रपञ्चविशिष्टताया अपि ब्रह्मगुणत्वावैशेष्यं प्रतीयते। ज्ञानानन्दादयश्च वामदेवादीनां संराधने कर्मण्यभ्यासादेवोपलभ्यते। तथैव मूर्तामूर्तादिविशिष्टत्वमप्यविशेषेण प्रतीयते ॥३।२।२४॥

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥३।२।२५॥

अतो निरुक्तैर्हेतुभिरनन्तेनासंख्यातेन कल्याणगुणगणेन युक्तं ब्रह्मणः सिद्धम्। तथा सत्युभयलिङ्गं ब्रह्मोपपन्नतरमेव ॥३।२।२५॥

इत्युभयलिङ्गाधिकरणम्।

(अथाहिकुण्डलाधिकरणम्।)

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥३।२।२६॥

"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) इति भेदव्यपदेशः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" 'तत्वमसि' इति चाभेदव्यपदेशश्चेत्युभयव्यपदेशात्संशयः। किं ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेण परिणामः स्वीक्रियतेऽथवा प्रभाप्रभावतोरिवैकजातियोगेन आहोस्विज्जीववदचितोऽपि ब्रह्मशरीरतया तद्वधाप्यतया तदपृथक्सिद्धेस्तद्विशेषणत्वेनाभेदव्यपदेश इति। किं युक्तम्? जीवस्येवाचितोपि ब्रह्मशरीरतया तद्व्याप्यत्वेन च तत्पृथक्त्वसिद्धेस्तद्विशेषणत्वेन चोभयविधव्यपदेश उपपद्यते—अहिकुण्डलवत्। यथाहिशब्दवाच्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शरीरविशिष्टो जीवः स्वरूपतः स्वभावतश्च शरीराद्विलक्षणोपि कुण्डलाकारादिभिः शरीरावस्थानविशेषैर्व्यपदिश्यते तद्वदित्यर्थः ॥३।२।२६॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥३।२।२७॥

यथा सौरं तेजस्तदाश्रयश्च सूर्यस्तयोरुभयोस्तेजस्त्वात्तेजस्त्वैकजातियोगादभिन्नत्वं स्वरूपतो भेदाच्च भिन्नत्वं तथाऽचिद्ब्रह्मणोप्यभेदो भेदश्च । वाशब्दोहिकुण्डलदृष्टान्तारुचिद्योतकः ॥३।२।२७॥

पूर्ववद्वा ॥३।२।२८॥

वाशब्द उक्तपक्षद्वयनिवर्तकः । पूर्वत्रोभयव्यपदेशोपपत्त्यर्थं ब्रह्मणो निर्दोषत्वनिष्पत्त्यर्थञ्च 'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्र० सू०) 'प्रकाशादिवत्तु नैवं परः' (ब्र० सू०) इत्यादौ सम्यगुक्तम् । यथा जीवस्यांपृथक्सिद्धविशेषणत्वेन ब्रह्मणोंऽशत्वम् तथाचितोऽप्यपृथक्सिद्धविशेषणत्वेनांशत्वमेव । तत्रोभयोः स्वरूपस्य भेदाद्भेदव्यपदेशो विशिष्टस्यैक्यादभेदव्यपदेशश्चोपपद्यते ॥३।२।२८॥

प्रतिषेधाच्च ॥३।२।२९॥

"सवा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः" (बृ० ४।४।२५) 'नास्य जरयैतज्जीर्यति' (छा० ८।१।५) इत्यादिभिरचिद्धर्माणां प्रतिषेधाच्च न ब्रह्मणोपरिणामित्वभङ्गः । विशेषणभूताचित्तत्त्वस्य विकारित्वेऽपि विशेष्यांशस्य निर्विकारित्वम् । प्रतिपादितं चैतत्सर्वमंशो नानाव्यपदेशादित्यत्रेति तत एवावगन्तव्यम् ॥३।२।२९॥

इत्याहिकुण्डलाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ पराधिकरणम् ।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३।२।३०॥

इदानीमस्मादुभयलिङ्गाद्ब्रह्मणोऽपि किञ्चित्परं तत्त्वं स्यादिति विचार्यते। तत्रायं संशयः। जगन्निमित्तोपादानकारणाद् ब्रह्मणः परमपि किञ्चित्तत्त्वमस्ति न वेति। अतो ब्रह्मणः परमपि तत्त्वमस्ति । कुतः ? सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः। "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" (छा. ८।४।१) इति सेतुत्वेन व्यपदिष्टस्यात्मनः 'एतं सेतुं तीर्त्वा' (छा० ८।४।२) इति तरितव्यत्वव्यपदेशात्। एनं तीर्त्वा यदवाप्स्यति तदतः परमेवेत्यवगम्यते। 'चतुष्पाद्ब्रह्म' (छा० ३।१८।२) इति श्रुतावुन्मानत्वपरिमितत्वव्यपदेशात्ततः परमपरिमितं तत्त्वमप्यस्तीति प्रतीयते । "अमृतस्यैष सेतुः" (मु. २।२।५) इत्यमृतप्रापकात्सेतुशब्दनिर्दिष्टादस्मात्परं प्राप्यभूतममृतशब्दवाच्यं किमपि तत्त्वमस्तीतिप्राप्यप्रापकसम्बन्धादवसीयते। तथा 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु. ३।२।८) 'परात्परं यन्महतो महान्तम्' (तै. १।५) इति च भेदव्यपदेशादेतेभ्यो हेतुभ्यः परस्माद् ब्रह्मणोऽपि परं किञ्चिदस्तीति ज्ञायते॥ ३।२।३० ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

सामान्यात्तु ॥३।२।३१॥

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । 'एषां लोकानामसम्भेदाय' (छा. ८।४।०) इत्युत्तरवाक्यात्प्रसिद्धसेतुर्यथा जलमर्यादाव्यवस्थापक एवं ब्रह्मणोऽपि सर्वजगन्मर्यादाव्यवस्थापकत्वेन प्रसिद्धसेतुसामान्यात्सेतुत्वव्यपदेशो न तरितव्यत्वेनेति न ततः किञ्चित्परमस्ति। 'एतं सेतुं तीर्त्वे'ति तरतिरत्र 'मीमांसाशास्त्रं तीर्त्वावेदार्थमधिगच्छती' त्यादिवत्प्राप्त्यर्थक एव ॥३।२।३१॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३।२।३२॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २।१) 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (का० १।१।२०) इत्यादिषु श्रुतस्यानन्तस्यापरिच्छिन्नस्यानुपमस्य जगत्कारणस्य ब्रह्मणः 'चतुष्पाद्ब्रह्म' (छा० ३।१८।२) इत्युन्मानत्वपरिमितत्वव्यपदेशो बुद्ध्यर्थ उपासनार्थ एव । पादवत् । ब्रह्मप्रतीकस्य मनसो वाक्प्राणचक्षुः श्रोत्राण्युपासनार्थं पादत्वेन व्यपदिष्टानि तद्वदित्यर्थः ॥३।२।३२॥

एवमपि स्वयमपरिच्छिन्नस्वरूपस्य ब्रह्मणः कथमुपासनार्थत्वेनाप्युन्मानसम्भव इत्याशङ्क्यायामाह—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥३।२।३३॥

प्रतिपन्नदिक्पृथिव्यन्तरिक्षादिस्थानविशेषसम्बन्धित्वेनोन्मितत्वानुसन्धानं युज्यते । यथा विततस्यापि प्रकाशादेर्घटादिपरिच्छिन्नोपाध्यन्तर्गतस्य परिच्छिन्नत्वेन दर्शनं तद्वदित्यर्थः ॥३।२।३३॥

उपपत्तेश्च ॥३।२।३४॥

'अमृतस्यैष सेतुः' इतिप्राप्यप्रापकसम्बन्धव्यपदेशात्प्रापकादन्यत्प्राप्यमस्तीत्यपि न युक्तम् । "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" (मु० ३।२।३) इति परमात्मनः प्राप्यभूतस्य स्वप्राप्तावनन्योपायत्वश्रवणात्स्वयैवोपायोपेयत्वोपपत्तेरिति ॥३।२।३४॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥३।२।३५॥

यच्च 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [मु० ३।२।८] इति भेदव्यपदेशात्ततोऽपि परमस्तीत्युक्तं तन्निरस्यति । तथाऽन्यस्य ब्रह्मणः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परस्य प्रतिषेधात्। 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति कश्चित्' (श्वे० ३।९) 'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे० ६।८) इत्येवमादिभ्यो ब्रह्मपरस्यान्यस्य प्रतिषेधात् ॥३।२।३५॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३।२।३६॥

अनेन 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इत्येवमादिभिर्ब्रह्मणः किञ्चिदपि परं नास्तीति प्रतिषेधद्वारा तस्य सर्वव्यापकत्वप्रतिपादनेन सर्वगतत्वमपि सिद्धयति। कुतः ? आयामशब्दादिभ्यः। आयामशब्दोव्यापकत्ववाचकः। सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्यो ब्रह्मणः सर्वगतं सिद्धयत्सर्वपरत्वमपि सिद्धयति। ते च शब्दाः "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वे० ३।९) "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद्भूतयोनिम्" (मु० १।१।६) "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (बृ० २।५।१) इत्यादयः ॥३।२।३६॥

इति पराधिकरणम्।

(अथ फलाधिकरणम्)

फलमत उपपत्तेः ॥३।२।३७॥

किं सर्वस्य जीवस्य भोगापवर्गरूपफलं यजनहवनादिरूपात्कर्मणो भवत्याहोस्वित्तत्तत्कर्मभिः समाराधितात्परस्मात्पुरुषादिति संशये कर्मण इति। कुतः ? लोके कृष्यादिकर्मकारिण एव फलसम्पत्तिदर्शनात्। कर्मानुतिष्ठतश्च तददर्शनादिति प्राप्तेऽभिधीयते-फलमत इति। भोगापवर्गादिलक्षणं फलमतः परमपुरुषादेव सम्पद्यते। कुतः उपपत्तेः। क्षणप्रध्वंसिनः कर्मणोऽसम्बद्धस्याचेतनस्य च कालान्तरभाविफलप्रदत्वायोगात्। न चापूर्वकल्पनयापीष्टसिद्धिस्त-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्याप्यचेतनत्वात् । तस्मात्सर्वसमीक्षाकारिणः परस्मात्पुंस एव फलं भवति ॥३।२।३७ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥३।२।३८॥

सर्वं भोगापवर्गादिलक्षणं फलं परमात्मैव प्रयच्छतीति श्रूयते "स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः" (४।४।२४) इति । ॥३।२।३८॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥३।२।३९॥

अतः श्रुत्युपपत्तिभ्यामेव "रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्" "कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्" (छा० ५।१०७) "अथ खलुक्रतुरस्मिल्लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति" (छा० ३।१४।१) "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इत्यादिषु पुण्यस्य कर्मणः पुण्यशरीरप्राप्तिहेतुत्वश्रवणात् पापकर्मणः पापशरीरहेतुत्वश्रवणात् तदतिरिक्तस्येश्वरस्याश्रवणाच्च । कृष्यादियज्ञादिकारिणामेव तत्तत्फलप्राप्तिदर्शनात् तदकारिणां तत्तत्फलप्राप्त्यदर्शनाच्च कर्मण एव फलदातृत्वोपपत्तेरितिश्रुत्युपपत्तिभ्यां धर्ममेव फलदातारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कर्मणः क्षणिकत्वेऽप्यपूर्वद्वारा फलमिति जैमिनेर्मतम् ॥३।२।३९॥

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥३।२।४०॥

तुशब्दः जैमिनिपक्षनिवर्तकः । पूर्वं पूर्वोक्तं परमपुरुषमेव फलप्रदातारं भगवान् बादरायण आचार्यो मन्यते । कर्मणोऽपूर्वस्य वा ह्यचेतनत्वेन कर्मफलस्वरूपानभिज्ञतया तत्फलदानासमर्थत्वात्तयोरन्यतरस्यापि फलदातृत्वानुपपत्तेः । कर्मादिस्वरूपतद्विनियोगसाक्षात्कारवतोपरिच्छिन्नस्य चिदात्मनः स्वप्रकाशस्वरूपस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः परमपुरुषस्य तु फलदातृत्वं युक्ततरमेव । कुतः ? हेतु-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यपदेशात्। एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमूर्ध्वं निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषते। इति परमपुरुषस्यैव कारयितृत्वेन कर्मसिद्धिहेतुव्यपदेशात्। तस्यैव च कर्मफलभूतोर्ध्वाधोगतिप्राप्तिहेतुव्यपदेशाच्च ॥३।२।४०॥

स्मर्यते च ॥३।२।४१॥

स्मर्यते च कर्मफलप्रदाता परमात्मैव।

"स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।" (गी० ।५।३।) इति। तस्मात्कर्मफलप्रदत्वं परमात्मन एवेति सिद्धम्॥ ३।२।४१॥

इति फलाधिकरणम्।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे तृतीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीतस्य शारीरकमीमांसायाः श्रीजानकी-कृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥३।३।१॥

किं सर्वेषु वेदान्तेषु तत्र तत्र श्रूयमाणा दहरवैश्वानरादयो विद्यास्तासां सर्वासां विद्यान्तरत्वमाहोस्विदेकविद्यात्वंवेति संशये विद्याभेदाभावे प्रकरणान्तरे पुनस्तत्पाठस्यायुक्तत्वात्प्रकरणान्तरस्य विद्याभेदहेतुत्वावगमाद्विद्यान्तरत्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति। सर्वेषु वेदान्तेषु प्रतीयमानमुपासनमेकमेव। कुतः? चोदनाद्यविशेषात् । चोदनाद्यभेदात् । आदिशब्देन शाखान्तराधिकरणसूत्रान्तरोक्ता अभेदहेतुभूताः फलसंयोगरूपसमाख्या गृह्यन्ते। चोदनाफलसंयोगरूपसमाख्यानामविशेषादभेदादित्यर्थः। चोदना हि—'उपासीत, विद्यात्' इत्युपासनवेदनयोः पर्यायवाचित्वेनाभिन्ना। फलसंयोगोऽप्युभयत्र ब्रह्मप्राप्तिरूप एक एव। उभयत्र वैश्वानरविद्येति समाख्या चैकैव। एषां चोदनादीनां सर्वासु शाखास्वविशेषात्तत्र तत्र शाखासु निरुक्तानामेकविद्यात्वमेव ॥३।३।१॥

यत्तूक्तं प्रकरणान्तरस्य विद्याभेदहेतुत्वं तदनूद्य परिहरति—

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ॥३।३।२॥

प्रकरणान्तरात् विधेयभेदाच्च न विद्यैक्यमिति चेन्न, एकस्यामपि विद्यायां प्रकरणभेदेन रूपभेदेऽप्यनेकगुणप्रत्यभिज्ञानुरोधाद्विद्यैक्यमेव ॥३।३।२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३।३।३॥

एवमप्यथर्वणिकानां शिरोव्रताद्यपेक्षा दृश्यतेऽन्येषाञ्च नास्तीति विद्याभेदः स्यादिति समाधीयते—शिरोव्रतं न विद्याङ्गमपि तु स्वाध्यायस्यैव यतः समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे तथात्वेन स्वाध्यायाङ्गत्वेन शिरोव्रतमपि वेदव्रतत्वेनाथर्वणिकाः समामनन्ति "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मु० ३।२।११।) इत्यध्ययनशब्दादध्ययनस्यैवाङ्गं शिरोव्रतम्। तत्र दृष्टान्तः सववच्चेति। यथा हि सवसम्बन्धिनः सप्त होमाः सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता आथर्वणोक्ताग्निसम्बन्धित्वेन तत्रैवानुष्ठेया न शाखान्तरोक्तत्रेताग्निषु तथैवाधीतशब्दाच्च तदध्ययन एव शिरोव्रतस्य नियमो नान्यत्र तस्माद्विद्यैक्यं सर्वत्र ॥३।३।३॥

दर्शयति च ॥३।३।४॥

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (का० २।१५।) इति श्रुतिर्दर्शयति, सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यस्य ब्रह्मण एकत्वेन तत्प्रतिपादकवाक्योक्तानां सर्वासां वेदान्तविद्यानामेकत्वम्। एवमन्यत्रापि सर्वत्रोपास्यैकत्वात्तदुपासनानां तत्र तत्रोक्तानामप्यैक्यं बोध्यम् ॥३।३।४॥

एवं विद्यैक्यं दृढीकृत्य तत्प्रयोजनमाह—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥३।३।५॥

च शब्दोऽवधारणार्थः। एवं सर्ववेदान्तेषु दहराद्युपासने समाने सत्यन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः कर्तव्यः। कुतः? अर्थाभेदात्। गुणानां विद्याङ्गत्वेन तदुपकाररूपप्रयोजनाभेदात्। एकस्या एव विद्याया गुणान्तरापेक्षायास्तदनपेक्षायाश्चायुक्तत्वात्। गुणानां विद्योपकारित्वाच्च वेदान्तान्तरोक्तगुणानां वेदान्तान्तरेऽवश्यमुपसंहारः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्तव्यः। विधिशेषवत्। यथा विधिशेषाणामग्निहोत्रधर्माणामग्निहोत्रस्य सर्वत्रैक्यात्सर्वत्रोपसंहारः क्रियते तद्वदिति ॥३।३।५॥

इति सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्—

अथान्यथात्वाधिकरणम्

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥३।३।६॥

वाजसनेयके "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्" (बृ० १।३।७) इत्युद्गीथविद्यामनायते। तथा छान्दोग्येऽपि "अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" (छा० १।२।७) इति प्राणं स्तुवन्ति। तत्रायं संशयः। किमुभयत्रापि विद्यैक्यमेवाहोस्विद्विद्याभेद इति। चोदनाद्यविशेषाद्विद्यैक्यमिति पूर्वःपक्षः। सिद्धान्तस्तु—अन्यथात्वं शब्दादिति। उभयत्र प्राणदृष्टयैवोद्गीथ उपासनमविशेषेण श्रुतम्—तथापि "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छा० १।१।१) "उद्गीथमाजह्रुरनेनैतानभिहनिष्यामः" (छा० १।२।१।) इत्युद्गीथावयवे प्रणव एव प्राणदृष्टयोपासनं छन्दोगानाम्। वाजिनान्तु समग्रोद्गीथे प्राणदृष्टयोपासनम् "हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामः" (बृ० १।३।१) इति। तथा चोभयत्र रूपभेदाद्विद्याभेद एवेति। सूत्रार्थयोजनात्वेवम्। उभयत्र प्राणस्य कर्तृकर्मत्वभेदेनान्यथात्वाद्भिन्नाकारत्वाद्भिन्नाकारभेदेनोपास्यभेदादन्यथात्वमेव शब्दान्न विद्यैक्यमितीमां शङ्कामपरिहरति पूर्वपक्षी—इति चेन्नेति। कुतः? अविशेषादुभयत्र विशेषाभावाद्विद्यैक्यमिति ॥३।३।६॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥३।३।७॥

न वेतिपक्षनिवर्तकौ। न ह्यत्र विद्यैक्यमुपपद्यते। कुतः? प्रक-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रणभेदात्। रूपभेदादित्यर्थः। छान्दोग्येह्युद्गीथावयवप्रणवोपासना प्रक्रम्यते 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथेनात्ययामः' (बृ० १।३।१।) इति। ततश्च रूपभेदाद्विद्याभेदोऽस्त्येवेति। परोवरीयस्त्वादिवत्। यथा समानायामपि शाखायामुद्गीथोपासने हिरण्मयपुरुषदृष्टेः परोवरीयस्त्वादिविशिष्टदृष्टिर्भिन्नैव। तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् ॥३।३।७॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥३।३।८॥

ननु शाखाद्वये विद्यैक्यमस्ति। कुतः? संज्ञातः। उभयत्रोद्गीथविद्येति संज्ञाया एकत्वादितिचेत् न। तदुक्तम्—'न वा प्रकरणभेदात्' इति सूत्रेण संज्ञैक्यमुपपद्यते। ब्राह्मणक्षत्रिययोरेकसंज्ञयोरप्येकत्वादर्शनात्। अस्ति तु तदपि। हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथपरोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टोद्गीथयोः संज्ञैक्यमस्ति न विद्यैक्यम्। सूत्रस्थापिशब्देन काठकग्रन्थोक्तानां कर्मणां काठकेतिसंज्ञाया एकत्वेपि तत्रोदितानां कर्मणां भिन्नत्वान्न तेषामैक्यमिति सूचितं भवति ॥३।३।८॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥३।३।९॥

यथा छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उपक्रमवाक्ये प्रणवस्योपास्यत्वं तथेतरास्वपि विद्यासूद्गीथावयवभूतप्रणवस्यैवोपास्यत्वव्याप्तेः। एवं 'उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १।२।७।) इत्यादौ मध्येऽपि प्रणवविषयकोपासनमेव समञ्जसम्। उद्गीथं चोङ्कारस्य विशेषणम् ॥३।३।९॥

इत्यन्यथात्वाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ सर्वाभेदाधिकरणम् ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥३।३।१०॥

"यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च" (छा० ५।१।१।) इतिच्छन्दोगाः प्राणविद्यां समामनन्ति। वाजिनोऽप्येवम्। इत्युभयत्र समानरूपत्वाद्विद्यैक्यम्। परन्तु कौषीतकिनस्तु वसिष्ठत्वादि गुणराहित्येनेति। ततः सर्वत्र विद्यैक्यमुत नेति संशये न विद्यैक्यम्। कुतः ? रूपभेदात्। एकत्र ज्यैष्ठ्यवसिष्ठत्वादिगुणैर्युक्त उपास्यतया श्रूयते। अपरत्र तु तद्रहित इत्युपास्यरूपभेदो विद्याभेदसाधक इतिप्राप्तेऽभिधीयते—सर्वाभेदादन्यत्रेम इति। न ह्यत्रविद्याभेदः अन्यत्र प्राणविद्यायामपीमे वसिष्ठत्वादयो गुणा उपास्यतया विहिता एवेति। कुतः ? सर्वाभेदात्। यद्यपि कौषीतकिनां प्राणविद्यायां वसिष्ठत्वादिकं न शब्दत उक्तं तथापि वागादिगतवसिष्ठत्वादिगुणानां प्राणहेतुकत्वानुसन्धानमन्तरेण प्राणस्य ज्यैष्ठ्यादिकमप्यनुपपन्नं स्यात्तस्मात्कौषीतकिनां प्राणविद्यायामपि वसिष्ठत्वादिसम्बन्धवतः एव प्राणस्योपास्यत्वमिति न रूपभेदोऽतो विद्यैक्यमेवेति ॥३।३।१०॥

इति सर्वाभेदाधिकरणम् ।

(अथानन्दाद्यधिकरणम् ।)

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥३।३।११॥

ब्रह्मपरासु श्रुतिषु केचिद्ब्रह्मगुणाः क्वचिच्छ्रूयन्ते क्वचिच्च केचित्। तत्र संशयः किं यत्र ये गुणाः श्रूयन्ते त एव तत्रानुसन्धेया उत सर्वे गुणाः सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति। किं युक्तम् ? नोपसंहर्तव्या इति।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुतः ? ब्रह्मगुणानामानन्त्यादपरिमितत्वेनोपसंहारासम्भवादित्येवं प्राप्त आह–आनन्दादयः प्रधानस्येति । पूर्वसूत्रादभेदादित्यनुवर्तते । प्रधानस्य गुणवतो ब्रह्मणः सर्वेषूपासनेष्वभेदादानन्दादयो गुणाः सर्वत्रोपसंहर्तव्याः । ब्रह्मस्वरूपनिरूपकज्ञानानन्दादिगुणानामनुसन्धानं विना ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानानुपपत्तेः ॥३।३।११॥

नन्वेवं प्रियशिरस्त्वादीनामपि ब्रह्मगुणत्वात्सर्वत्रोपसंहारः कर्तव्य इत्याह—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥३।३।१२॥

प्रियशिरस्त्वादिधर्माणां सर्वासु विद्यास्वप्राप्तिः । हि यतः । प्रियमोदप्रमोदानन्दाः परस्परापेक्षयोपचयापचयस्वरूपाः । तेषां न्यूनाधिकधर्माणामुपसंहारे ब्रह्मणि तारतम्यप्रसक्त्या विकारित्वापत्तेः । अतस्तेषां ब्रह्मस्वरूपविरोधिधर्माणां ब्रह्मज्ञानायोपसंहारानुपपत्तेर्नोपसंहारः ॥३।३।१२॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥३।३।१३॥

उपचयापचयरूपेभ्यः प्रियशिरस्त्वादिभ्य इतरे ब्रह्मस्वाभाविकगुणत्वेन सदैकरसाः ज्ञानानन्दादयो ब्रह्मस्वरूपनिरूपकधर्मत्वेनार्थसामान्याद्ब्रह्मस्वरूपसमानत्वाद्ब्रह्मवद्ब्रह्मविद्यासु सर्वथानुसंधानायोपसंहर्तव्या एवेति ॥३।३।१३॥

तर्हि प्रियशिरस्त्वादित्वेन ब्रह्मणो निरूपणं किमर्थमित्यत आह—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥३।३।१४॥

प्रियशिरस्त्वादीनां निरूपणस्य प्रयोजनान्तराभावादाध्यानायानुचिन्तनायोपासनासिद्ध्यर्थं तद्रूपेण ब्रह्मणः पुरुषविधत्वनिरूपणं कृतम् ॥३।३।१४॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मशब्दाच्च ॥३।३।१५॥

"अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" (तै० २।३) इत्यात्मशब्दादात्मनश्च शिरः पक्षपुच्छत्वाद्यसम्भवात्तस्य प्रियशिरस्त्वादिकथनमुपासकबुद्धौ सुखेनारूढार्थमिति गम्यते ॥३।३।१५॥

ननु प्राणमयादिष्वात्मशब्दस्यानात्मभूतेष्वपि प्राणादिषु प्रयोगात् 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' इत्यात्मशब्दस्य परमात्मवाचकत्वं कुतोऽवगम्यत इत्यत्राह—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥३।३।१६॥

"अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" (तै०) इत्यत्रेत्यनात्मशब्देन परमात्मन एव गृहीतिर्ग्रहणम्। इतरवत्—यथेतरेण "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा" इत्यात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्। तद्वत्। कुतः? उत्तरात्। 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्याद्युत्तरात्तदेकार्थाद्वाक्यात् ॥३।३।१६॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥३।३।१७॥

प्राक्तनेषु प्राणमयादिष्वप्यात्मशब्दस्यान्वयस्य सत्त्वात्कथमुत्तरवाक्यान्निर्णयः स्यादिति चेत् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।२) इति प्राक्छ्रुतस्यात्मन एव प्राणमयादिवाक्येष्ववधारणात् परमात्मन एव निर्णयः ॥३।३।१७॥

इत्यानन्दाद्यधिकरणम्।

अथ कार्याख्यानाधिकरणम्।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥३।३।१८॥

"स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः" इत्यपां प्राणवासस्त्वमभिधाय "तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोप-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रिष्टाद्वाद्धिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो भवति" (छा० ५।२।२।) इतिच्छान्दोग्ये श्रूयते। तथा वाजसनेयकेऽपां प्राणवासस्त्वमुक्त्वा "तस्मादेवं विदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" (बृ० ६।१।१४।) इति श्रूयते। अत्राचमनमाचमनाप्सु प्राणवासस्त्वाध्यानं चेत्युभयं प्रतीयते। तत्रोभयविधानवाक्यभेदापत्तेरुभयोरेकं विधेयम्। तत्किमितिसंशये "आचामेद्" इत्याचमनविधेः श्रवणादाचमनमेव प्राणविद्याङ्गत्वेन विधीयत इति प्राप्तआह—कार्याख्यानादपूर्वमिति। अप्राप्तस्य विधान एव शब्दस्यार्थवत्वादत्राचमनस्य सदाचारप्राप्तत्वादाचमनमनूद्याचमनीयानामपामप्राप्तं प्राणवासस्त्वानुसन्धानमेव विधीयते। अप्राप्तस्यैव विधाने शास्त्राणामर्थवत्त्वमिति ॥३।३।१८॥

इति कार्याख्यानाधिकरणम्

अथ समानाधिकरणम्।

समान एवं चाभेदात् ॥३।३।१९॥

बृहदारण्यके शाण्डिल्यविद्याम्नायते "मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यम्" (बृ० ५।६।१।) इत्यादिका। तथा वाजसनेयकेऽग्निरहस्येऽपि पुनः सैव विद्याम्नाता 'सत्यं ब्रह्मेत्युपासीते'त्यारभ्य "स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्" इत्यादिका। अत्र संशयः किमुभयत्र विद्याभेदो न वेति। तत्र रूपभेदाद् भेद इति प्राप्तेऽभिधीयते—समान एवमिति। उभयत्र समाने सति मनोमयत्वादिके वशित्वादेश्चाधिकस्य सत्यसंकल्पत्वकार्यत्वेन तदन्तर्गततयोभयत्र गुणाभेदेन रूपाभेदाद्विद्यैक्यमिति ॥३।३।१९॥

इति समानाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ सम्बन्धाधिकरणम् ।

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥३।३।२०॥

वाजसनेयके "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्" (बृ० ५।५।१) इति प्रक्रम्यादित्यमण्डलेऽक्षणि च ब्रह्मण उपास्यत्वमभिधाय 'तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्' 'तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्' (बृ० ५।५।३) इति रहस्यनामनी द्वे उपनिषदावाम्नायेते। तत्र संशयः किमस्यां विद्यायामादित्यपुरुषस्याहरिति नाम्ना ध्यानमक्षिपुरुषस्याहमिति नाम्ना यथाश्रुतं ध्यानं कर्तव्यमाहोस्विन्नामद्वयस्य पुरुषद्वयेऽप्युपसंहार इति। किं युक्तम्। उभयोः स्थानयोरेकस्यैव सत्यस्य पुरुषस्योपास्यत्वाद्रूपाभेदाद्विद्यैक्यादुपसंहारः ॥३।३।२०॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

न वा विशेषात् ॥३।३।२१॥

विद्यैक्यान्नामद्वयस्य पुरुषद्वये उपसंहार इति न। कुतः? विशेषात्। उभयत्रोपास्यरूपभेदात्। आदित्यस्थानसम्बन्धिनः सत्यात्रह्मणोऽक्षिस्थानसम्बन्धिनः सत्यस्य ब्रह्मण उपाधिभेदेन रूपभेदे विद्याभेदात् अहरिति, 'अहमिति नामभेदस्य रूपभेदे हेतुत्वाद्' रूपभेदेनविद्याभेदाच्च नोभयत्रोभयोर्नाम्नोरुपसंहारः ॥३।३।२१॥

दर्शयति च ॥३।३।२२॥

किञ्च विद्यान्तरे हिरण्यश्मश्रुरित्यादिनाऽदित्यपुरुषस्य रूपमुक्त्वा तद्रूपमक्षिपुरुषेऽतिदिदेश "तस्यैतदेवरूपं यदमुष्य रूपम्" इति। अयमतिदेश एव विद्याभेदेन गुणानुपसंहारं दर्शयति। विद्यैक्ये हि रूपादीनां स्वतः प्राप्तत्वेनातिदेशापेक्षैव न स्यात्। तस्मादत्र विद्याभेदाद् गुणोपसंहाराभाव इति ॥३।३।२२॥

इति सम्बन्धाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(अथ सम्भृत्यधिकरणम् ।)

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥३।३।२३॥

तैत्तिरीयके नारायणीयानां खिलेषु च श्रूयते–"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या-सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ।" इति । अत्र संशयः। किमेषां सम्भृतिद्युव्याप्त्यादिगुणानां शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्यासूप-संहार आहोस्वित्तद्गुणकमिदमुपासनान्तरम् ? इति । किं युक्तम्? अनारभ्याधीतत्वादेषां गुणानां सर्वासु विद्यासूपसंहार इति प्राप्तेऽभि-धीयते—सम्भृतिद्युव्याप्त्यपीति । सम्भृतिद्युव्याप्तीतिसमाहारद्वन्द्वः। शाण्डिल्यादिविद्यासुहृदयायतनत्वमल्पस्थानत्वं ब्रह्मणः श्रूयते। अत्र त्वाकाशादवीर्यत्वंद्युव्याप्तित्वेन महास्थानत्वं तस्य श्रूयते अतः स्थान-भेदादनारभ्याधीतानामपि तेषां शाण्डिल्यादिविद्यासु नोपसंहारः। किन्तु सम्भृत्यादिगुणविशिष्टमुपासनान्तरमेवेदमिति ॥३।३।२३॥

इति सम्भृत्यधिकरणम् ।

अथ पुरुषविद्याधिकरणम् ।

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नात् ॥३।३।२४॥

छान्दोग्ये पुरुषविद्याम्नायते "पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि" (छा० ३।१६।१) इति । तथा तैत्तिरीयकेऽपि पुरुषविद्या श्रूयते—"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिः" (तै० ना० ५२) इत्यादि-रूपा । अत्र विद्यैक्यमुतविद्याभेद इति । किं युक्तम् ? विद्यैक्यम् । कुतः ? उभयत्र पुरुषविद्येति समाख्यैक्याद्रूपफलयोरप्यैक्याच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते–पुरुषविद्यायामपि चेति । पुरुषविद्यायामपि रूपादि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भेदाद्विद्याभेद एव । कुतः ? इतरेषामनाम्नात् । इतरशाखोदितानां गुणानामितरशाखायामनाम्नात् । छान्दोग्ये पुरुषस्य यज्ञत्वकल्पनं पुरुषायुषं त्रेधा विभज्य सवनत्रयकल्पनमशिशिषादीनां दीक्षात्वेन च कल्पनं कृतम् । तैत्तिरीयकेत्वेवं कल्पना न दृश्यते किन्तु रूपान्तरेण दृश्यते । तथा चोभयत्र कल्पनाप्रकारभेदाद्रूपभेदस्य स्पष्टत्वाद्विद्याभेदः । तथा तैत्तिरीयके पुरुषविद्यायाः 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इतिन्यायाद्ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन ब्रह्मप्राप्तिरूपमेव फलं दृश्यते । छान्दोग्येत्वायुः प्राप्तिरूपं फलं पुरुषविद्याया इति फलसंयोगभेदोऽपि विद्याभेदसाधकः । एवञ्चोभयत्र विद्याभेदान्नैकत्र श्रुतानां गुणानामन्यत्रोपसंहार इति ॥३।३।२४॥

इति पुरुषविद्याधिकरणम् ।

(अथ वेधाद्यधिकरणम् ।)

वेधाद्यर्थभेदात् ॥३।३।२५॥

स्वस्वोपनिषदारम्भे सर्वेषां शाखिनां भिन्नभिन्नमन्त्राणामाम्नानं वर्तते । यथाथर्वणिकानाम्–'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य' इत्यादिकम् । तैत्तिरीयाणां च 'शंनो मित्रः शं वरुणः' इत्यादिकम् । तत्र संशयः । किमेषां सर्वप्रविध्यादीनां मन्त्राणां विद्याङ्गत्वमाहोस्विन्नेति । किं युक्तम् । विद्याङ्गत्वम् । कुतः ? विद्यासन्निधौ समाम्नानादिति प्राप्तेऽभिधीयते–वेधाद्यर्थभेदादिति । 'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य' इत्यादिभिर्लिङ्गैरभिचारादिषूक्तानां मन्त्राणां विनियोगाद्विद्याङ्गत्वं न सम्भवति । अत एव चैते मन्त्रा न सर्वासु विद्यासूपसंहार्याः । 'शंनो मित्र' इत्यादिमन्त्रस्याध्ययनाङ्गत्वम् ॥३।३।२५॥

इति वेधाद्याधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ हान्याधिकरणम् ।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगान-वत्तदुक्तम् ॥३।३।२६॥

ताण्डिनामुपनिषदि श्रूयते—"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ८।१३।१) कौषीतकिनान्तु—तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १।४) तथाथर्वणिकानाम्—'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) इति श्रुतिः। अत्र क्वचित्केवलहानेः श्रवणात्क्वचिद्धान्युपायनयोरुभयोः श्रवणात्सर्वविद्यासु तयोर्विकल्पेनानुष्ठानमुत समुच्चयेनेति संशये यथाश्रुतं विकल्पेनेति प्राप्तेभिधीयते—हानौ तूपायनशब्दशेषत्वादिति । तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। हानावित्युपायन इत्यस्याप्युपलक्षकः 'तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते' 'तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १।४) इति हानिवाक्य उपायनस्यापि श्रवणात् केवले विमोचने केवले चोपायने श्रूयमाणेऽपि तयोरन्योऽन्यसमुच्चयोरभिप्रेतः। कुतः ? उपायनशब्दशेषत्वात्। उपायन शब्दस्य हानि वाक्यशेषत्वादित्यर्थः। विद्वत्यक्तपुण्यपापनिवेशस्थानयोस्तत्प्रियाप्रिययोः श्रुतत्वादुपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषत्वमुपपद्यते। एवं शाखान्तरोदितवाक्यस्य शाखान्तराम्नातवाक्यसन्दिग्धार्थप्रकाशकत्वेन तच्छेषत्वे दृष्टान्तमाह—यथा "कुशा वानस्पत्याः स्थ" इति भाल्लविनां श्रुतौ यजमानप्रार्थनायां वनस्पतित्वेन सामान्यसमित्त्वस्य विशेषं "औदुम्बराः कुशाः" इति शाकटायनिशाखास्थं वाक्यं प्रकाशयति "औदुम्बर्यः कुशा" इति। छन्दोदृष्टान्तः—यथा "देवासुराणां छन्दोभिः स्तुवीत" इत्यत्र देवासुराणां छन्दसां पौर्वापर्य-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विशेषस्य "देवच्छन्दांसि पूर्वाणि" इति पैङ्गिश्रुत्या निर्णयः। स्तुतिदृष्टान्तः—यथा छन्दोगानां "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती"ति पात्रविशेषस्य षोडशिनो ग्रहणे तदङ्गभूतस्तोत्रकर्तव्यकालविशेषस्य "समयाविषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती"ति तैत्तिरीयकवाक्यान्निर्णयो भवति। उपगानदृष्टान्तः। यथा "ऋत्विज उपगायन्ती"ति शाखान्तरीयसामान्यवाक्यं "नाध्वर्युरुपगायेत्" इति विशेषवाक्यानुसारेणाध्वर्युव्यतिरिक्ता ऋत्विज उपगायन्तीत्येतदर्थपरत्वेन निर्णीयते। एवमिहापि शेषशेषिभावात्सर्वार्थसंगतिर्बोध्या। उपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषत्वेन सिद्धायां गतौ विकल्पो नादरणीय। तदुक्तं पूर्वतन्त्रे "अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्" (जै० सू०) इति ॥३।३।२६॥

इति हान्यधिकरणम्।

अथ साम्परायाधिकरणम्।

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥३।३।२७॥

सुकृतदुष्कृतयोर्हानञ्चच्छान्दोग्ये शरीरवियोगकाले श्रूयते- "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ।८।१।१३) इति। एवं शाट्यायनकेऽपि "तस्य पुत्राः दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" इति दायसंक्रमणकाल एव सुकृतदुष्कृतहानं श्रूयते तच्च देहवियोगसमय एव प्रतीयते। कौषीतकी ब्राह्मणे तु "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकं गच्छती"त्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसात्येति तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते" (कौ० ५।३।४) इति देहादपसृत्याध्वनि तद्धान-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माम्नायते । तत्र संशयः । शरीरवियोगकाले सर्वं क्षीयते ? उताधं देहवियोगकालेधं च विरजातरणान्तरमिति ? किं युक्तम् ? देहवियोगकालेऽशेषकर्मक्षये देवयानेन पथा गमनानुपपत्तेः । तदाधं क्षीयतेऽर्धन्तु विरजातरणानन्तरमिति प्राप्तेऽभिधीयते–साम्पराये तर्तव्याभावादिति । "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मु० २।२।८) "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" (छा० ७।२६।२) इति श्रवणात् विद्याविपाककाल एव ब्रह्मविदः सुकृतदुष्कृतयोर्हानम् । कुतः कर्मक्षयं विना विरजानदीतरणानुपपत्तेः । कर्मक्षयहेतोर्विद्यायाः सत्त्वाच्च विद्यासामर्थ्यादेव देवयानेन पथा ब्रह्मलोकगमनत्वोपपत्तेः तर्तव्याभावात्—कर्मभिस्तर्तव्यपदार्थाभावात् । तथाहि अन्ये कर्मनिमित्तकसुखदुःखाभावमभिदधते—"तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादिभिः । अतो जीवत एव विद्यासामर्थ्यात् प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तसर्वकर्मक्षय इति ॥३।३।२७॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥३।३।२८॥

एवं विद्यासामर्थ्यात् देहवियोगकाले सर्वकर्मक्षयानन्तरमुपासको देवयानेन पथा ब्रह्म प्राप्नोतीति निश्चिते सति 'अश्व इव रोमाणि' इति श्रुतेः 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यस्याश्च श्रुतेरविरोधात् उभयश्रुत्यनुरोधाच्चरमश्रुतोऽपि 'तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते' इति वाक्यखण्डः 'एतं देवयानं पन्थानमापद्य' (कौषी० १।३) इति प्रथमश्रुतखण्डात् पूर्वं छन्दतो यथेष्टं योजनीय इति ॥३।३।२८॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥३।३।२९॥

अत्राशङ्कते । देहवियोगकाले विरजातरणोत्तरकाले चेत्युभयथा कर्मक्षये सत्येव देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्त्वमुपपद्यते । अन्यथा देहोत्क्रान्तिकाले सर्वकर्मविनाशे सति सूक्ष्मशरीरस्यापि विनाशात्स्थितिगत्यनुपपत्तावर्चिरादिगमनश्रुतेर्विरोधः स्यात् ॥३।३।२९॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥३।३।३०॥

प्रदर्शिताशङ्काम्परिहरति। परमपुरुषोपासकानां देहादुत्क्रमणकाले सर्वकर्मक्षयेऽपि देवयानःपन्था उपपन्न एव। कुतः? तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। तल्लक्षणार्थस्तत्सजातीयार्थस्तस्योपलब्धेः। अकर्मलभ्यार्थोपलब्धेरित्यर्थः। अशेषकर्मक्षयेऽपि विद्ययाऽविर्भूतस्वरूपत्वाद्विदुषो देहसम्बन्धलक्षणार्थोपलब्धेः। "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ७।२५।२) 'यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते' (छा० २।२।१०) 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इति ब्रह्मविदोऽकर्मलभ्यार्थोपलब्धिश्रवणात्। तत्र दृष्टान्तः—लोकवदिति। यथा लोके राजसेवकानां प्रयत्नमन्तरेणापि पुरुषान्तरप्रयत्नालभ्यातिरमणीयानेकपदार्थानामुपलब्धिस्तद्वत् ॥३।३।३०॥

नचैवं ज्ञानवतां वसिष्ठादीनां कर्मफलरूपदेहान्तरसंयोगस्य पुत्रजन्ममरणादिहेतुकसुखदुःखानुभवस्य च दर्शनाद्ब्रह्मविद्यया विनष्टकर्मणामपि ब्रह्मोपासकानां सुखदुःखानुभवोऽवर्जनीयः स्यादित्याह—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३।३।३१॥

येषां ज्ञानिनां ब्रह्मविद्यया क्षीणकर्मणां प्रारब्धकर्मावसानकृतदेहवियोगानां शताधिकया नाड्या देहाद्विनिर्गतानामर्चिरादिना ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तेषां हेतोरभावान्न पुण्यपापकर्महेतुकः सुखदुःखानुभवः। आधिकारिकाणान्तु वसिष्ठादीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकव्यवहारहेतुष्वधिकारेषु ब्रह्मणानियुक्तानां यावदधिकारमवस्थिति तद्वारम्भकं कर्मापि यावदधिकारमवतिष्ठते। अतस्तेषां सुखदुःखानुभवोऽपि भवति ॥३।३।३१॥

इति साम्परायाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथानियमाधिकरणम्

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३।३।३२॥

किमर्चिरादिना गतिर्यत्र विद्यासु श्रूयते तद्विद्यावतामेव तया गत्या ब्रह्मप्राप्तिराहोस्वित्सर्वविद्यावतां ब्रह्मप्राप्तिरिति संशये यासु विद्यासु गतिराम्नायते तद्विद्यावतामेव तद्गत्या ब्रह्मप्राप्तिर्नान्येषां प्रमाणाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते। अनियम इति। सर्वेषां सर्वविद्यावतामर्चिरादिना मार्गेणैव ब्रह्मप्राप्तिरितिसिद्धान्तात्तद्विद्यावतामेवेति नियमो नास्ति। सर्वविद्यावतां तया गमने शब्दानुमानाभ्यामविरोधः। नोचेद्विरोध इति भावः। श्रुतिस्तावद्—"य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति" (बृ० ६।२।१५।) इति। "तद्य इत्थं, विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छा० ५।१०।१।) इति च स्पष्टमेव सर्वविद्यावतामर्चिरादिना गतिरभिधत्ते। तथा स्मृतिरपि-अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः (गी० ८।२४) इति सर्वेषां ब्रह्मविदामनयैव गत्या ब्रह्मप्राप्तिं द्रढयति ॥३।३।३२॥

इत्यनियमाधिकरणम्।

अथाक्षरध्यधिकरणम्।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥३।३।३३॥

वाजसनेयके गार्गीम्प्रति याज्ञवल्क्यस्योत्तरम् "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" (बृ०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३।८।८।) इत्यादिकं श्रूयते। एवं मुण्डकेऽपि "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदेद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्" (मु० १।१।५।) इति श्रूयते। तत्र संशयः। किमेषामस्थूलत्वादीनां गुणानां यत्र श्रुतिस्तत्रैव चिन्तनमाहोस्वित्सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहार इति। किं युक्तम्? यत्रैतेषां श्रुतिस्तत्रैव। कुतः? प्रकरणभेदात्। विद्यान्तररूपात्मकानां गुणानां विद्यान्तररूपत्वे मानाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते—अक्षरधियां त्ववरोध इति। यतः केवलमानन्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनो व्यावृत्तिर्नोपपद्यते। प्रत्यगात्मनोऽप्यानन्दादिगुणकत्वात्। अतोऽस्थूलत्वादिविशेषितानन्दादिभिर्विशेषितस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनो व्यावृत्त्युपपत्तेः अस्थूलत्वादीनामप्यानन्दादिवत्स्वप्रकाशापरिच्छिन्नचिदेकरसब्रह्मस्वरूपानुसन्धान उपयुक्तत्वात्। अतस्तेषामप्यानन्दादिवत्सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहारः। कुतः? सामान्यतद्भावाभ्याम्। सर्वास्वक्षरविद्यासूपास्यभूतस्याक्षरस्य ब्रह्मणः समानत्वात्। अस्थूलत्वादीनां गुणानां ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानान्तर्भावाच्च। प्रधानानुवर्त्तित्वं हि गुणानां स्वभावः। औपसदवत्। तथा हि यजुर्वेदे "जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजत" "इत्युपपन्ने "जामदग्न्याहीने पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्ती"ति पुरोडाशयुक्तासूपसत्स्विष्टिषूपदिष्टासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणामुद्गात्रृवेदोत्पन्नानाम् "अग्नेर्वै होत्रं वेरध्वरम्" इत्यादीनामुद्गात्राप्रयोगे प्राप्तेध्वर्युकर्तृके पुरोडाशप्रदाने तेषां मन्त्राणां विनियोगाद्विनियोगविधेश्च सार्थक्यसम्पादकस्य स्वस्वरूपमात्रबोधकोत्पत्तिविध्यपेक्षया मुख्यत्वान्मुख्यानुरोधेनाध्वर्युणैव प्रयोगो न गौणोत्पत्ति विध्यनुरोधेनोद्गात्रा प्रयोग इति। यथाध्वर्युकर्तृकपुरोडाशशेषाणां मन्त्राणां यत्र कुत्र श्रुतानामप्यध्वर्युणा सम्बन्धस्तथाक्षरविद्यायां श्रुतानामक्षरगुणानामस्थूलत्वादीनामक्षरसम्बन्धित्वात्तेषामक्षरविद्यासूपसंहारः। अस्मिन्नर्थे जैमिनिसूत्रं प्रमाणयति—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग इति ॥३।३।३३॥

तर्हि 'सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० १।१४।४) इत्येवमादीनामपि गुणानां प्रधानभूतब्रह्मगुणत्वात्सर्वत्रोपसंहारः स्यादित्यत्राह—

इयदामननात् ॥३।३।३४॥

इयदस्थूलत्वादिविशेषितानन्दादिकमेव सर्वत्रोपसंहर्तव्यम्। कुतः ? आमननात्। इयद्गुणविशिष्टस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्यामननात्। येन गुणजातेन विना प्रत्यगात्मव्यावृत्तस्य ब्रह्मस्वरूपस्यामननमनुसन्धानं नोपपद्यते तदेव सर्वत्रोपसंहृत्यानुसन्धेयम्। अन्यत्तु प्रधानानुवर्त्यपि सर्वकर्मत्वादिकम् चिन्तनीयत्वेन प्रतिविद्यमेव व्यवस्थितमिति ॥३।३।३४॥

इत्यक्षरध्यधिकरणम्।

अथान्तरत्वाधिकरणम्।

अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥३।३।३५॥

वाजसनेयके "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व" (बृ० ३।४।१) इत्युषस्तेन पृष्टस्य याज्ञवल्क्यस्योत्तरं 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ०३।४।१।) इत्यादि। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इत्यन्तम्। एवमग्रेऽपि "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व" (बृ० ३।५।२।) इति कहोलप्रश्ने "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति" (बृ० ३।५।१।) इत्यारभ्य 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।५।१।) इत्यन्तं याज्ञवल्क्यस्योत्तरम्। तत्र किमुभयत्र विद्याभेद

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उताभेद इति संशयः। किं युक्तम्? एकत्र प्राणनादिहेतुः परमात्मोक्तः। अन्यत्राशनापिपासाद्यतीतधर्मा परमात्मेत्युपास्यभेदाद्विद्याभेद इत्येकः पूर्वपक्षः। इहोभयत्रोपास्यैक्येपि न विद्यैक्यं "समिधो यजती" त्यादौ यजत्यभ्यासवत्प्रकृत आत्माभ्यासाद्विद्याया भेदनिष्पत्तेरिति द्वितीयो मुख्यः पूर्वपक्षः। तत्रादौ प्रथमं पूर्वपक्षं निरस्यति—अन्तरेति। पूर्वसूत्रादाममननादित्यनुवर्तते "भूतग्रामवदि" तिश्रुत्यन्तरदृष्टान्तार्थम्। यथा "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ" इति श्रुत्यन्तरे सर्वेषु भूतग्रामेषु सर्वान्तर एक एवात्मान्नातस्तथात्राप्युभयोर्ब्राह्मणयोरुपक्रमे "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" इति स्वात्मनः परमात्मनः सर्वान्तरत्वामननाद् 'अतोन्यदार्तम्' अत आत्मनोन्यदर्तियुक्तमित्युपसंहारस्य चाभेदात्। कहोलप्रश्ने "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मे" त्येवकारेण विद्याभेदनिरासाच्च विद्यैक्यं सिद्धतरम्। द्वितीयं मुख्यं पूर्वपक्षमनूद्य दूषयति—अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति। अन्यथा विद्ययोर्भेदानङ्गीकारे प्रतिवचनभेदस्यात्माभ्यासस्य चानुपपत्तिः। प्रतिवचनभेदस्यात्माभ्यासस्य च विद्याभेदेनैवोपपत्तिर्भवतीत्यर्थः। परिहरति—इति चेन्नेति। प्रतिवचनभेदोत्तरस्योक्तत्वात्। उपदेशवदभ्यासस्योपपत्तेश्चेत्यर्थः। यथा छान्दोग्ये "तत्त्वमसी" त्युपदेशस्य नवकृत्वो नवधाभ्यस्यमानेपि न विद्याभिद्यते। उपक्रमोपसंहारयोरविशेषात्। तथा ब्राह्मणद्वयेप्युपक्रमोपसंहारयोरविशेषान्न विद्या भिद्यते। अभ्यासस्य ब्रह्मगुणानां विशेषत्वज्ञापनद्वारा दार्ढ्यत्वेन चोपपत्तेर्न विद्याभेदकत्वम् ॥३।३।३५॥

उक्तार्थं प्रकारान्तरेण द्रढयति—

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥३।३।३६॥

न ह्यत्र विद्या भिद्यते। उषस्तकहोलयोर्द्वयोरपि प्रश्नस्यैकरूप्यादेकविषयत्वे निश्चिते सत्युभयोः प्रतिवचनगतबुद्धिव्यतिहारः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्तव्यः । उपस्तेनाशनायाद्यतीत्ववुद्धिः स्वजिज्ञास्यभूत उपास्ये विधेया। तथा कहोलेन प्राणनादिहेतुत्वधीः सर्वान्तरात्मविषया स्वोपास्ये कर्तव्येति । एवमेवाचार्यस्य याज्ञवल्क्यस्य वचनानि विशिष्यन्ति सर्वान्तर्यामिणमेकमेवोपास्यं परमात्मानम् । अत्र दृष्टान्तः-इतरवत् । सद्विद्याप्रकरणे सर्वाणि प्रतिवचनानि प्रतिपाद्यपरमकारणपरमात्मविषयकाण्येव तद्वदत्रापीति ज्ञेयम् ॥३।३।३६॥

सद्विद्यायामपि कथमैक्यं यतस्तत्रापि प्रश्नप्रतिवचनभेद उपलभ्यत एवेत्याह—

सैव हि सत्यादयः ॥३।३।३७॥

"सेयं देवतैक्षत" इत्यादिषु सैव परा देवतैकानुवर्तते । "सन्मूलाः सोम्येमाः" "अस्य सोम्य पुरुषस्य" इति सर्वेषु प्रतिवचनेषु त एव सत्यादयः संह्रियन्ते । एतदुक्तं भवति—"सदेव सोम्येदमग्र"इत्युपक्रान्तं यत्सर्वकारणं सच्छब्दवाच्यं परं ब्रह्म तद्विषयाण्येव "सेयं देवते"ति "सन्मूला" इति "परस्यां देवतायाम्" इति "स य एषोणिमो"ति "एतदात्म्यमि"ति "तत्सत्यमि"ति "स आत्मे"ति सर्वाणि वचनानि प्रतीयन्तेतो ब्रह्मण एकस्यैवोपास्यत्वं तत्र निश्चीयते ॥३।३।३७॥

इत्यन्तरत्वाधिकरणम् ।

अथ कामाद्यधिकरणम् ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३।३।३८॥

छान्दोग्ये—"अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति" (छा०८।१।१।) इति प्रकृत्य श्रूयते "एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" (छा० ८।१।५।) इति । तथा बृहदारण्यके

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" (बृ० ४।४।२२।) इति श्रूयते। तत्र संशयः। परस्परं गुणोपसंहारः कार्यो न वेति। किं युक्तम्? नोपसंहारः कार्य इति। कुतः? विद्याभेदात्। छान्दोग्ये अपहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टस्य दहराकाशशब्दाभिहितस्य परमात्मन उपास्यत्वम्। बृहदारण्यके तु आकाशे शयानस्य वशित्वादिगुणयुक्तस्य तस्योपास्यत्वमिति रूपभेदाद्विद्याभेद इति प्राप्तेऽभिधीयते—कामादीतरत्र तत्र चेति। नह्यत्र रूपभेदो येन विद्याभेदः स्यात्। तथा हि—सत्यकामत्वादिगुणजातमितरत्र वाजसनेयक उपसंहरणीयमेव। तत्र च—छान्दोग्ये च सर्ववशित्वादिकमुपसंहर्तव्यम्। कुतः? आयतनादिभ्यः। हृदयायतनत्वसेतुत्वादीनां गुणानामुभयत्र समानत्वात् ॥३।३।३८॥

ननु 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ०।४।४।१९) इत्यादेः पूर्वप्रकृतात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ४।४।२२) इति वक्ष्यमाणत्वात् ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य प्रतिषेध्यत्वावगमात्सर्ववशित्वसर्वेशानत्वादीनां ब्रह्मनित्यगुणत्वानुपपत्तेः। एवं सत्यकामत्वादीनामपि न पारमार्थिकत्वमतः कथं मोक्षसाधनीभूतेषूपासनेष्वनुसन्धेयत्वमित्यत आह—

आदरादलोपः ॥३।३।३९॥

प्रमाणान्तराविषयस्य श्रुत्यैकज्ञातव्यस्य वशित्वादेर्ब्रह्मनित्यगुणजातस्यादरादादरेण प्रतिपादनादलोपः। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति ब्रह्मदृष्ट्युपलक्षितानां ब्रह्मनित्यगुणानां विपरिलोपत्वप्रतिषेधात्। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाचे"ति ब्रह्मस्वाभाविकगुणानां प्रतिषेधत्वानुपपत्तेश्च न तेषां विपरिलोपः। "नेह नानास्ति" इति नानात्वप्रतिषेधस्तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेनैक्यात्तद्भिन्नं किञ्चिन्नास्तीति प्रतिपाद्यते ॥३।३।३९॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सगुणोपासनस्य "स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा० ८।२।१।) इति सांसारिकफलत्वेन न मोक्षफलत्वमित्याशङ्क्याह—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥३।३।४०॥

उपस्थितिरुपस्थानम्। उपस्थाने ब्रह्मोपासने कर्मबन्धापगमानन्तरं ब्रह्मसम्पत्तिः स्वरूपाविर्भावश्च भवति। अतो ब्रह्मसम्पत्तेरनन्तरमेव तद्वचनात्पितृलोकादिप्राप्तिवचनान्न तस्याः सांसारिकफलत्वमपितु मोक्षफलत्वमेवेति। कुतोऽगम्यते। एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते 'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्रममाणः' (छा० ८।१२।३।) इत्यशेषक्लेशविमुक्तस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्नस्यैव स्वेच्छाविहरणमाम्नायते ॥३।३।४०॥

इति कामाद्यधिकरणम्।

अथ तन्निर्धारणानियमाधिकरणम्।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ह्यप्रतिबन्धः फलम् ॥३।३।४१॥

कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु प्राणाद्युपासनानि सन्ति। तत्र संशयः किं तानि पर्णतावत्कर्माङ्गानि नित्यकर्मवदनुष्ठेयानि गोदोहनवत्स्वतन्त्र फलसाधनान्यनित्यानीति वा? किं युक्तम्? उद्गीथादिगतप्राणाद्युपासनानामप्युद्गीथादिद्वारा क्रत्वङ्गत्वान्नित्यकर्मवदनुष्ठेयानीति प्राप्त आह—तन्निर्धारणानियम इति। तेषां कर्माङ्गाश्रितानां निर्धारणानां प्राणाद्युपासनानामनियमः। तस्य नित्यकर्मवदनुष्ठानाभावः। कुतः? तदृष्टेः। तस्योपासनानियमस्य श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः। "ते नोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेदे" तिश्रुतिरनुपासक-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्यापि कर्माणि कर्तृत्वं च वदन्त्युपासनस्यानियतत्वं दर्शयति। उपासनस्य पृथक् फलश्रवणादपि पशुप्राप्तिफलकगोदोहनवन्न कर्माङ्गत्वमित्याह—पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलमिति। हि यत उपासनस्य पृथग्भूतं फलं तच्चाप्रतिबन्धरूपं फलं वीर्यवत्तरम्। वदति हि श्रुतिरुपासनस्य पृथक् फलत्वम्। तस्माद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति सिद्धम् ॥३।३।४१॥

इति तच्चिधारणानियमाधिकरणम्।

अथ प्रदानाधिकरणम्।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥३।३।४२॥

दहरविद्यायां श्रूयते "तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्" (छा० ८।१।६।) इति। तत्र दहराकाशस्वरूपस्य परमात्मन उपासनमभिधाय तद्गुणानामप्युक्तवचनेन पृथक्तया चिन्तनं विहितम्। तत्किं गुणचिन्तने तत्तद्गुणविशिष्टतया परमात्मचिन्तनस्यावृत्तिराहोस्विन्नेति संशये एकस्यैव परमात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिसर्वगुणाश्रयत्वेन सकृदेव चिन्तनोपपत्तेर्नावृत्तिरिति प्राप्तेऽभिधीयते—प्रदानवदेवेति। सर्वगुणाश्रयस्य गुणिनः परमात्मनः स्वरूपस्यैक्येऽपि तत्तद्गुणविशिष्टाकारभेदात्सकृच्चिन्तनेन तत्तद्गुणविशिष्टतत्तदाकाराणां चिन्तनानुपपत्तेरावृत्तिः करणीयेति। तत्र दृष्टान्तः। प्रदानवदेवेति। यथा 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेत्' (यजु० २।) 'इन्द्रायाधिराजाय' 'इन्द्राय स्वराज्ञे' (य० २) इत्यत्र राजत्वादिगुणविशिष्टस्यैकस्यैवेन्द्रस्य तत्तद्गुणसम्बन्धादाकारस्य भेदात्प्रदानावृत्तिर्भवति। तदुक्तं जैमिनीये 'नाना वा देवता पृथक्त्वात्' इति ॥३।३।४२॥

इति प्रदानाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥३।३।४३॥

वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये केचिन्मनश्चितादयः साम्पादिका अग्नयः श्रूयन्ते—"मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः" इति । तत्रायं संशयः । किमेतेषामग्नीनां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमाहोस्विद्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवेति। तत्र कर्मप्रकरणे पठितत्वात्कर्माङ्गभूता एतेऽग्नय इति प्राप्तेऽभिधीयते—लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपीति । न हि क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमेषाम् किन्तु विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेव । कुतः ? लिङ्गभूयस्त्वात् । एतस्मिन्प्रकरणे भूयांसि लिङ्गान्येषां विद्यामयत्वमाविष्कुर्वन्ति "तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इत्यादीनि । तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः तदपि चोक्तं पूर्वकाण्डे "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" (जै० सू० ३।३।१३।) इति ।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "यो वेद निहितं गुहायाम्" "सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" "तस्माद्वा एतस्मात्" इत्यत्र ब्रह्मणा सह सर्वकामप्राप्त्युपलक्षितब्रह्मानुभवफलकं ब्रह्मोपासनं विधीयते । तत्र संशयः । ब्रह्मेत्यानुपूर्वीबोधितपरतत्त्वस्योपासनं कर्तव्यं रामनारायणादिशब्दबोधितपरतत्त्वस्यापीति । किं प्राप्तम् ? ब्रह्मेत्यानुपूर्वीबोधितस्यैव परतत्त्वस्योपासनं कर्तव्यम् । कुतः ? लिङ्गभूयस्त्वादिति । आनन्दादीनां लिङ्गानां ब्रह्मेत्येवानुपूर्वीबोधितपरतत्त्वे भूयस्त्वात् । तद्धि बलीय इति लिङ्गस्य बलीयस्त्वात् । तदपीति । लिङ्गस्य बलीयस्त्वेनैव तदपि रामेत्यानुपूर्वीबोधितमपि परतत्त्वमुपासनीयम् । तत्रापि ब्रह्मलिङ्गानां दर्शनात् । तथाहि "रमन्ते योगिनोऽनन्ते

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदे नादो परं ब्रह्माभिधीयते" इत्यादि ॥३।३।४३॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥३।३।४४॥

अत्र पूर्वपक्षी समाशङ्कते—

न स्वतन्त्रोऽग्निः किन्तु क्रिया—क्रियामयक्रत्वङ्गःस्यात्। 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' इति प्रकृतस्य पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेरयं मनः संकल्पात्मको मनश्चिताद्यग्निर्विकल्पः प्रकरणात्स्यात्। क्रियामयाग्निविकल्पत्वेन क्रियामयक्रत्वङ्गः स्यादित्यर्थः। विद्यारूपाणामप्येषां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमुपपद्यत एव। तत्र दृष्टान्तः। मानसवदिति। यथा द्वादशाहे दशमेऽहन्यविवाक्ये विद्यारूपस्यापि मानसग्रहस्य क्रियायाः प्रकरणात्तदङ्गता सम्पद्यते तद्वदिहापि ॥३।३।४४॥

अतिदेशाच्च ॥३।३।४५॥

मनश्चिदादीनां 'तेषामेकैकोऽग्निस्तावान् यावानसौ पूर्वः' इति पूर्वेणेष्टिकान्वितेनाग्निना मानसाग्नीनां सादृश्यस्यातिदेशाच्च तेषां क्रियाशेषत्वं प्रतीयते ॥३।३।४५॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह—

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ॥३।३।४६॥

तुशब्दः पक्षव्यावर्तकः। विद्यैव मनश्चिदादयो विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एव न कर्माङ्गभूता इत्यर्थः। कुतः? निर्धारणात्। 'ते हैते विद्याचित एव' इति निर्धारणं विद्यामयक्रत्वङ्गत्वयैवैतेषां विद्यामयत्वं द्योतयति। न कर्माङ्गत्वम्। एवं विद्यामयक्रतुदर्शनाच्च विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेतेषाम्। एवकारेण कर्मप्रकरणपठितत्वेन न कर्माङ्गभूता इति निश्चयकरणाच्च। लिङ्गादपि न ते कर्माङ्गभूता इत्याह—दर्शनाच्चेति। "यत् किंचेमानि भूतानि मनसा सङ्कल्प-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यन्ति" इत्यादीनां मनश्चिदाद्यग्निस्वातन्त्र्यज्ञापकलिङ्गानां दर्शनादपि न तेषां कर्माङ्गत्वम् ॥३।३।४६॥

ननु क्रियामयक्रतुप्रकरणावगतानां मनश्चिदादीनामग्नीनां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमेव न्याय्यम्, न तु विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशाद्विद्यारूपत्वमित्यत्राह—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥३।३।४७॥

प्रकरणाद्धि श्रुतिलिङ्गवाक्यानां बलीयस्त्वाच्छ्रुत्यादिभिर्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वेऽवगते न ततो दुर्बलेन प्रकरणेन बाधः। तत्र श्रुतिः—'ते हैते विद्याचित एव' इति। लिङ्गमपि 'तान् हैतानेवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति। एवं 'एवं विदे चिन्वन्ति' इति वाक्यमपि। तस्मादेभिः प्रमाणैर्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवैतेषामिति ॥३।३।४७॥

पृथक्फलसम्बन्धाश्रवणाद्विधिप्रत्ययाभावाच्च न विद्यामयक्रत्वमित्यत्राह—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥३।३।४८॥

अत्र विद्यामयक्रतुविधिरवश्यं कल्पनीयः। कुतः? 'मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त' इत्यादिक्रत्वनुबन्धात् पूर्वोक्तश्रुत्यादिभ्यश्च। यथा दहरविद्यादीनां प्रज्ञान्तराणां क्रियामयात्पृथक्त्वम् तथात्रापि। तदुक्तमेव 'वचनानि त्वपूर्वत्वात्' इति ॥३।३।४८॥

यदप्यतिदेशात्क्रियामयक्रतुशेषताभिहिता तत्रोच्यते—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥३।३।४९॥

नह्यतिदेशमात्रेणेष्टकचिताग्निसादृश्यमेषां सम्भवति। केनचिदपि सामान्येनातिदेशस्योपलब्धेः। यथा "स एष मृत्युर्य एष

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एतस्मिन्मण्डले" इत्यादौ मृत्युवत्सर्वसंहारकारित्वमात्रेणातिदेशो न मण्डलपुरुषस्य तल्लोकापत्तिरप्यतिदिश्यते। तथात्रापि फलसामान्येनाप्यतिदेशस्योपपत्तेः ॥३।३।४९॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥३।३।५०॥

परेण च ब्राह्मणेन मनश्चिदाद्यग्न्यभिधायिनः शब्दस्यापि ताद्विध्यं विद्यामयप्रतिपादकत्वं प्रतीयते। "अयं वाव लोक एषोऽग्निचितस्तस्याप एव परिश्रिताः" इत्यादिना "स यो ह तदेवं वेद लोकस्पृणानामेनं भूतमेतत्सर्वमभिसम्पद्यते" इति पृथक्फला विद्यैव विधीयते। अथैवं तर्हि बृहदारण्यक एवैषामनुबन्ध आवश्यक इत्यत आह—क्रियाप्रकरण एषामनुबन्धस्तु सम्पादनीयानामग्न्यङ्गानामत्र भूयस्त्वात्कृतः। तस्माद्विद्यामयकर्त्वङ्गत्वमेवैतेषां मनश्चिदादीनामिति ॥३।३।५०॥

इति लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्।

अथात्मनः शरीराधिकरणम्।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥३।३।५१॥

'आत्मेति तूपगच्छन्ति' (ब्र० सू० ४।१।३।) इत्यत्र प्रत्यगात्मनः आत्मत्वेन परमात्मोपास्य इति वक्ष्यते। तत्र शरीरे वर्त्तमानस्य कर्मवश्यस्य प्रत्यगात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टं रूपमनुसन्धेयमुत कर्मबन्धाद्विमुक्तं प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टं यथावत्स्वरूपमिति संशये, शरीरे वर्तमानस्य यादृशं रूपं तादृशेनैवरूपेण कर्मविधाविवोपासनविधावपि साधनानुष्ठानफलानुभवयोः सम्भवात्तादृशमेव तद्रूपमनुसन्धेयमिति पूर्वः पक्षः। सूत्रार्थस्तु—एके कर्तृत्वादिविशिष्टमेवात्मस्वरूपमनुसन्धेयमिति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मन्यन्ते। कुतः? शरीरे वर्तमानस्योपासकस्य तथाभावात्॥ ३।३।५१॥

अत्राभिधीयते—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥३।३।५२॥

न कर्तृत्वादिविशिष्टोऽनुसन्धेयो मुमुक्षुभिरपि तु सांसारिकादात्मनो यो व्यतिरेकः कर्मबन्धविनिर्मुक्तस्वरूपाविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टः सोनुसन्धेयः। अस्य वास्तविकं यत्स्वरूपं तदेवानुसन्धेयमुपासनायामिति भावः। कुतः? तद्भावभावित्वात्। "यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" (छा० ३।१४।१) इति श्रुतेः। "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" (गी०) इति स्मृतेश्च। उपलब्धिवत्। ब्रह्मोपलब्धिवत्। यथा यथावस्थित ब्रह्मस्वरूपोपासनयुक्तस्यैव ब्रह्मस्वरूपोपलब्धिर्भवति तथा यथावस्थितमात्मस्वरूप याथात्म्यानुसन्धानपरस्यैव यथावस्थितात्मोपलब्धिरपि भवति ॥३।३।५२॥

इत्यात्मनःशरीराधिकरणम्।

अथाङ्गावबद्धाधिकरणम्।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखा हि प्रतिवेदम् ॥३।३।५३॥

कर्माङ्गाश्रितोपासनासूद्गीथावयवोङ्कारे प्राणदृष्टिः, उक्थे पृथिवीदृष्टिः, "लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीते"ति पृथिव्यग्न्यादिषु तत्तद् दृष्टिः। तत्र संशयः। एता उपासनाः किं यस्यां शाखायां श्रूयन्ते तच्छाखागतोद्गीथादि क्रत्वङ्गाश्रया उत सर्वशाखागतोद्गीथा-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्याश्रया इति। किं युक्तम्? शाखासु स्वरभेदात् प्रतिशाखमुद्गीथादीनां सम्बन्ध इति प्राप्त उच्यते—अङ्गावबद्धास्त्विति। एता अङ्गावबद्धा उद्गीथाद्यङ्गाश्रिता उपासना न तस्यां तस्यां शाखायां विद्यमानोद्गीथादिष्वाश्रिताः किन्तु प्रतिवेदं सर्वशाखासु विद्यमानोद्गीथादिष्वाश्रिताः। हिर्हेतौ यस्मादुद्गीथमुपासीतेत्युद्गीथत्वजात्यविशेषत्वश्रुतेः। सर्वासु शाखासु विद्यमानानामुद्गीथादीनामुद्गीथत्वाद्यवच्छिन्नत्वेनसम्बन्धः ॥३।३।५३॥

मंत्रादिवद्वाऽविरोधः ॥३।३।५४॥

वाशब्दाश्चार्थे यथैकैकशाखावगतानां क्रत्वङ्गभूतानां मन्त्रादीनां सर्वशाखासु क्रतोरेकत्वेन सम्बन्धस्याविरोधः, आदिपदेन यथा प्रयाजा एकत्राम्नाताः शाखान्तरेपि प्राप्नुवन्ति तथैकशाखाविहितानामुपासनानां शाखान्तरगतोद्गीथादिषु प्राप्तेरविरोधः ॥ ॥३।३।५४॥

इत्यङ्गावबद्धाधिकरणम्।

अथ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥३।३।५५॥

वैश्वानरविद्यायां द्युलोकादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिवीषु व्यस्तेषु "वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि" (छा० ५।११।६) इत्यादौ च समस्तस्यापि वैश्वानरस्योपास्तिः श्रूयते। तत्र सन्देहः। किमत्रोभयथाप्युपास्तिर्विवक्षिता उत समस्तोपास्तिरेवेति। किं युक्तम्? व्यस्तोपास्तिः। कुतः? व्यस्तोपास्तेरसकृत्प्रशंसा श्रूयते। 'यः प्रशस्यते स विधीयते' इति न्यायात्साक्षादपि विधिप्रत्ययश्रवणाच्चेति व्यस्तोपास्तिर्विवक्षितेति प्राप्तेऽभिधीयते—भूम्न इति। "मूर्धा ते

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः" (छा० ५।१२।२) इत्यादिना व्यस्तोपासनस्य निन्दया समस्तोपासनस्य दृढीकरणात्समस्तोपासनस्यैवात्र ज्यायस्त्वं प्रतिपाद्यते न व्यस्तोपास्तेः। क्रतुवत्। यथा दर्शपूर्णमासादिकस्य क्रतोः साङ्गप्रधानस्यैकस्यैव प्रयोगो विवक्षितो न व्यस्तानामपि प्रयाजादीनां तद्वत्। तथा हि दर्शयति, समस्तोपासनस्य ज्यायस्त्वं श्रुतिः। प्राचीनशालादिभिरुक्तानि व्यस्तोपासनानि मूर्धादिपतनानिष्टफलकत्वेन विनिन्द्य वैश्वानरात्मनः स्वर्गलोकादिपृथिव्यन्तानां मूर्धादिपादान्तावयवत्वं विधाय "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" (छा० ५।१८।१।) तथा "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० ५।२२।३।) इति समस्तोपासनस्यैव फलं दर्शयति, तस्मात्समस्तोपासनस्यैव ज्यायस्त्वमिति ॥३।३।५५॥

इति भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्।

अथ शब्दादिभेदाधिकरणम्।

नाना शब्दादिभेदात् ॥३।३।५६॥

अत्र परमपुरुषप्राप्तिरूपमुक्तिफलिकाः वैश्वानराद्याः सर्वा विद्या अधिकृत्य विचार्यते। किमासां विद्यानामैक्यमाहोस्विन्नानात्वमिति। किं युक्तम्? विद्यादुपासीतेत्यादिविधिप्रत्ययानां पर्यायत्वात् उपास्यस्य ब्रह्मणस्तत्प्राप्तिरूपफलस्य च सर्वत्रैक्याद्विद्यैक्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते—नानेति। उक्ता विद्या नानैव। कुतः? उपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वेऽपि शब्दादिभेदात् ॥३।३।५६॥

इति शब्दादिभेदाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ विकल्पाधिकरणम् ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥३।३।५७॥

ब्रह्मप्राप्तिफलानां दहरादिविद्यानामनुष्ठाने समुच्चयो विकल्पो-वेति संशये किं युक्तम् ? अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादीनां स्वर्गैकफलभूयस्त्ववाञ्छया समुच्चयेनानुष्ठानदर्शनवदासामपि विद्यानां ब्रह्मानुभवफलभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयेनानुष्ठानं सम्भवती-त्याप्राप्तेऽभिधीयते—विकल्प इति । विकल्प एवानुष्ठाने समाश्रयणीयो न तु समुच्चयः । कुतः ? अविशिष्टफलत्वात् । सर्वासां विद्यानामप-रिमितज्ञानानन्दब्रह्मानुभवरूपस्यैकस्यैव फलत्वात् । तत्रैकया विद्यया ब्रह्मानुभवे सिद्धे विद्यान्तरानुष्ठानस्य व्यर्थत्वान्नानुष्ठाने समुच्चयः ॥३।३।५७॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्व-भावात् ॥३।३।५८॥

काम्या ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफला विद्यास्ताश्च यथेच्छं समु-च्चीयेरन् विकल्पेरन्वा । कुतः ? पूर्वहेत्वभावात् । दहरादिविद्यानाम-परिमितानन्दब्रह्मानुभवरूपफलस्येव काम्यानां विद्यानां फलस्याप-रिमितत्वाभावात् फलभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयोऽपि सम्भवतीति भावः ॥३।३।५८॥

इति विकल्पाधिकरणम् ।

अथ यथाश्रयभावाधिकरणम्

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥३।३।५९॥

कर्माङ्गाश्रयाणामुद्गीथोपासनादीनां गोदोहनादिवदधिकारान्त-रेणोपादानानियमः पूर्वोक्तः सम्भवति नवेति संशये उच्यते—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अङ्गेष्विति । अङ्गेषूद्गीथादिष्वाश्रितानामुपासनानां यथाश्रयभाव उद्गीथादिवदङ्गभावः । गोदोहनादिवत्तस्मिन्वाक्ये फलसम्बन्धाश्रवणादङ्गभावो न विरुध्यत इत्यर्थः ॥३।३।५९॥

शिष्टेश्च ॥३।३।६०॥

शिष्टिः शासनम् विधानमिति यावत् । 'उद्गीथमुपासीत' इति यथाङ्गानां प्रतिवेदं विधानं तथा तदाश्रितानामुपासनानां विधानाविशेषाच्च तदङ्गभावो न विरुद्धयतेऽत उपादान नियमः ॥३।३।६०॥

समाहारात् ॥३।३।६१॥

ऋग्वेदोक्तप्रणवस्य सामवेदोक्तोद्गीथस्य चैक्योपासन उद्गातृकृते फलमाह श्रुतिः "होतृषदनाद्वैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" (छा० १।५।५) इति । अत्रोपासनस्य समाहारनियमो दृश्यते । तथा च वेदद्वयोक्तयोः प्रणवोद्गीथयोरैक्यज्ञानस्येदृशं फलं ब्रुवती श्रुतिः सर्ववेदोक्तानामप्यङ्गाश्रितोपासनानामुद्गीथादिवदङ्गभावेन समुच्चयं सूचयति ॥३।३।६१॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥३।३।६२॥

इतश्च नियमेनोपादानम् । उपासनाश्रयस्योंकारस्योपासनगुणस्य च "तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति" (छा० १।१।९।) इति साधारणश्रुतेः समाहारोऽत्र दृश्यते । तच्छब्देन प्रकृतस्य सोपासनस्य प्रणवस्यैव परामर्शात्तस्यैव च सर्वत्र संचारः तथा चोपासनस्य प्रणवसहभावनियमादुद्गीथादिवदुपासनानामपि समुच्चयेनानुष्ठानम् ॥३।३।६२॥

एवं चतुर्भिः सूत्रैरित्येवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥३।३।६३॥

वाशब्दस्त्वर्थकः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । अङ्गाश्रितोपासनानामङ्ग-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्समाहारस्य नियमो नास्ति । कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः । "अहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति" इति यथाङ्गानां तत्सहभावः श्रूयते । तथाङ्गाश्रितोपासनानां तत्सहभावस्योद्गीथाङ्गभावस्याश्रुतेः । क्रत्वङ्गभावोहि सहभावः ॥३।३।६३॥

दर्शनाच्च ॥३।३।६४॥

अङ्गाश्रितोपासनानां समुच्चयाभावस्य श्रुतौ दर्शनाच्च न तेषां समुच्चयः । तथाहि श्रुतिः "एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाश्चर्त्विजोऽभिरक्षति" (छा० ४।१७।१०) इति । ऋग्वेदादिविहिताङ्गलोपे व्याहृतिहोमप्रायश्चिताभिज्ञत्वं ब्रह्मण एव । तद्विज्ञानवता ब्रह्मणा यज्ञादिपरिपाल्यत्वं सर्वोपासनानां समुच्चये हि । इतरेषामृत्विजां न स्यात्, सर्वेषां सर्ववित्त्वात् । अस्ति च परिपाल्यत्वं कीर्तनम् । तस्मान्न सर्वोपासनासमुच्चयः ॥३।३।६४॥

इति यथाश्रयभावाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे तृतीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः ॥३॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसायाः आनन्दभाष्ये

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

अथ पुरुषार्थाधिकरणम् ।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥३।४।१॥

किं कर्मणः पुरुषार्थं आहोस्विद्विद्यात इति संशयः । किं युक्तम्? कर्मणः । कुतः ? "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" (छा० १।१।१०) इति श्रुत्या सर्वकर्मसु विद्याया विनियुक्तत्वात्तस्याः कर्माङ्गत्वावगमात् । तत्वमसीत्यादीनां का गतिरिति चेत्तानि वाक्यानि कर्मसु कर्तृभूतप्रत्यगात्मनो याथात्म्यं बोधयन्ति कर्माङ्गभूतकर्तृयाथात्म्यानुसन्धानपूर्वककर्मानुष्ठानेन समीचीनपुरुषार्थावाप्तिरिति विद्यायाः कर्माङ्गत्वावगमेन कर्तृसंस्कारत्वनिष्पत्त्यातत्फलश्रुतेरर्थवादत्वोपपत्तेः कर्मण एव पुरुषार्थ इति प्राप्तेऽभिधीयते–पुरुषार्थोऽत इति । अतो ब्रह्मविद्यातः पुरुषार्थो ब्रह्मानुभवलक्षणः । कुतः ? "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्येवमादिशब्दात् इति भगवान् बादरायणो मन्यते ॥३।४।१॥

एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥३।४।२॥

तत्वमस्यादिवाक्यज्ञातयाथात्म्यस्वरूपस्यात्मनः कर्माङ्गत्वेन कर्मकर्तृत्वेन कर्मशेषत्वात्तद्विद्याया अपि कर्तृसंस्कारत्वेन कर्तृद्वारा कर्मशेषत्वोपपतेः । तत्र पुरुषार्थवादोऽर्थवादः । यथाऽन्येषु पर्णमयीद्रव्ययजमानस्थाञ्जनादिसंस्कारप्रयाजादिरूपेषु द्रव्यसंस्कारकर्मस्वपापश्लोकादिफलश्रुतिरर्थवादस्तथात्रापि पुरुषार्थश्रुतिरर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥३।४।२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आचारदर्शनात् ॥३।४।३॥

"जनको ह वैदेहो बहु दक्षिणेन यज्ञेनेजे" (बृ० ३।१।१) इत्यादौ ब्रह्मविदां जनकादीनामाचारदर्शनालिङ्गाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥३।४।३॥

तच्छ्रुतेश्च ॥३।४।४॥

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा० १।१।१०) इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वश्रवणात् ॥३।४।४॥

समन्वारम्भणात् ॥३।४।५॥

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" (बृ० ४।४।२) इति श्रुतिर्विद्याकर्मणोरेकपुरुषपाण्डित्यं विद्यायाः कर्माङ्गत्वं च ज्ञापयति ॥३।४।५॥

तद्वतो विधानात् ॥३।४।६॥

निखिलवेदार्थविज्ञानवतः कर्मण्यधिकारः श्रुतिभिरुपदिश्यते। "आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे" (छा० ।८।१५।१) इति। अत्राध्ययनस्यार्थावबोधपर्यन्तत्वात्सर्ववेदार्थज्ञानवतः कर्मविधानादपि लिङ्गाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥३।४।६॥

नियमाच्च ॥३।४।७॥

इतोऽपि विद्यायाः कर्माङ्गत्वम्। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥ (ई० २) इति यावज्जीवं कर्माचारनियमदर्शनात्कर्मण एव पुरुषार्थो न विद्यात इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वमेव ॥३।४।७॥

इत्येवं प्राप्ते समाधानमुच्यते—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥३।४।८॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। न विद्यायाः कर्माङ्गत्वमपि तु विद्यात एव पुरुषार्थ इत्येवं भगवतो बादरायणस्य मतम्। कुतः?

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अधिकोपदेशात् । वेदान्तेषु कर्मकर्तुर्जीवादधिकस्याखिलोपासकजनमनोरथपूरकस्य परब्रह्मण उपास्यतयोपदेशात् । कथमवगम्यते । तद्दर्शनात् । वेद्यतयोपदेशस्य श्रुतिषु दर्शनात् । "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (पू० सू०) "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः" (बृ० ४।४।२२) "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।७) इति । तस्माद्ब्रह्मानुभवलक्षणस्य फलस्यावाप्तिर्विद्यात एवेति ॥३।४।८॥

यदुक्तमाचारदर्शनाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वमिति तत्राह—

तुल्यन्तु दर्शनम् ॥३।४।९॥

विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावेऽप्याचारदर्शनं तुल्यम् "एतद्धस्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादिकाः श्रुतयो विदुषः कर्माचाराभावं दर्शयन्ति । तुशब्दश्चैतस्य मतस्य प्राबल्यमुपपादयन् जनकादिज्ञानिनां कर्माचारस्य लोकसङ्ग्रहार्थत्वेनान्यथासिद्धिं दर्शयति । मुमुक्षुभिस्तु सकामस्य कर्मणो विद्याविरोधितया लोकसङ्ग्रहार्थमनुष्ठानं त्यागो वा । निष्कामस्य कर्मणस्तु विद्याङ्गत्वेनानुष्ठानमिति विवेकः ॥३।४।९॥

यच्चोक्तं श्रुतिरेव विद्यायाः कर्माङ्गत्वमवबोधयति तत्राह—

असार्वत्रिकी ॥३।४।१०॥

'यदेव विद्यया करोती'ति श्रुतिरसार्वत्रिकी सर्वविद्याविषया न भवति । किन्तु प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रविषयता हि तस्याः । अतो न श्रुतिबलेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वं सिद्धयति ॥३।४।१०॥

यदपि समन्वारम्भणादित्युक्तं तत्राह—

विभागः शतवत् ॥३।४।११॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' इत्यत्रापि विद्याकर्मणोर्विभागो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्ञेयः। विद्याहि स्वफलाय विद्यावन्तं समन्वारभते, कर्म च कर्मानुष्ठातारमिति। शतवत्। यथाऽभ्यां शतं दीयतामित्युक्ते विभज्य पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदेकस्मै दीयते तद्वदित्यर्थः ॥३।४।११॥

यच्चोक्तं तद्वतो विधानादिति तत्रोत्तरयति—

अध्ययनमात्रवतः ॥३।४।१२॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्ये'ति वाक्यं स्वाध्यायस्य फलवदर्थावबोधित्वदर्शनेन कर्मावबोधिनश्च कर्म विधीयते न विद्यावतः। मात्रपदेन विद्याया व्यावर्तनात्। न च मात्रपदेन कर्मज्ञानमपि व्यावृत्तमिति वाच्यम्। कर्मज्ञानं विना कर्मानुष्ठानासम्भवात्। ॥३।४।१२॥

यच्चोक्तं नियमाच्चेति तत्राह—

नाविशेषात् ॥३।४।१३॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणी' ति नियमस्य न केवलकर्मविषयत्वमुपपद्यते। कुतः? अविशेषात्। विद्वान् कुर्वन्निति विशेषाभावात्। अत एव "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" (छा० ७।२६।२।), अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः" (गी० १२।) इति श्रुतिस्मृतिभ्यो ध्रुवस्मृतिमतोऽनन्यचेतस्त्वेन नित्यशः परमपुरुषस्य सातत्येन स्मरणपरस्य तन्नित्ययुक्तस्य तदेकभक्तेस्तदेकात्मर्थप्रियस्य ब्रह्मज्ञानिनो मनसः क्षणमपि ब्रह्मचिन्तनव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरचिन्तनपरत्वानुपपत्तेः कर्मानुष्ठानकालालाभादिति भगवदुपासनाविरोधिकर्मणा न तस्य प्रयोजनम्। तस्मान्न विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥३।४।१३॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥३।४।१४॥

वाशब्दोऽवधारणार्थकः। "ईशावास्यमिदं सर्वम्" (ई. १) इति विद्याप्रकरणाद्ब्रह्मविद्यास्तुतय एवेयं विदुषः कर्मानुमतिः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सद्विद्याबलेन कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि कर्मफलेन न बध्यत इति भावः ॥३।४।१४॥

कामकारेण चैके ॥३।४।१५॥

यत एके शाखिनो ब्रह्मविद्यावतः कामकारेण गार्हस्थ्यत्यागमामनन्ति। "एतत्पूर्वे प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" (बृ० ४।४।२२।) इति विदुषः स्वेच्छया कर्मसाधनप्रजादित्यागो विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावे लिङ्गम् ॥३।४।१५॥

उपमर्दञ्च ॥३।४।१६॥

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २।२।८।) इति विद्यायाः सर्वकर्मोपमर्दञ्च श्रूयते। दृष्टे दर्शनसमानाकारतां नीते सतीत्यर्थः तथा च ब्रह्मविद्यायाः कर्मविनाशकत्वेन तद्विरोधित्वान्न विद्यायास्तदङ्गत्वमुपपद्यते ॥३।४।१६॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥३।४।१७॥

ऊर्ध्वरेतस्सु यतिषु विद्यायाः सत्वात्तेषामग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानानधिकारान्नविद्या कर्माङ्गम्। ननु यत्याश्रमे किं मानमित्यत आह—शब्दे हीति। वेदे ह्यूर्ध्वरेतसामाश्रमाः श्रूयन्ते—"त्रयो धर्मस्कन्धाः" (छ० ५।१०।१) इत्यादौ तपः शब्देन वैखानसपरिव्राजकयोर्ग्रहणम् उभयोस्तपःप्रधानत्वात्। अत्र त्रित्वेन संगृहीतानां चतुर्णामाश्रमाणां मध्ये यो ब्रह्मसंस्थः सयत्याश्रम एव ॥३।४।१७॥

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ॥३।४।१८॥

'त्रयो धर्मस्कन्धा' इत्यनेनोर्ध्वरेतसामाश्रमाणामविधानाद्ब्रह्मसंस्थत्वस्य स्तुत्यर्थं परामर्शमनुवादं जैमिनिराचार्यो मन्यते। यतोऽन्या श्रुतिरपवदति चाश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्नि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मुद्वासयते" (यजु० १।५।२।) इत्यादिका श्रुतिराश्रमान्तरं नानुष्ठेयमित्यवगमयतीति जैमिनिः ॥३।४।१८॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥३।४।१९॥

आश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयं गृहस्थाश्रमवदेवेति भगवान् बादरायणो मन्यते। कथमवगम्यते। साम्यश्रुतेः। अवश्यानुष्ठेयगृहस्थाश्रमसाम्यमाश्रमान्तराणामपि श्रूयते। तथाहि—"त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।" (छा० ।२।२३।१।) इति ॥३।४।१९॥

यच्चोक्तं "त्रयो धर्मस्कन्धा" इत्यस्यानुवादकत्वं निराकृत्य विधित्वमेव तस्येत्युपपादयति—

विधिर्वा धारणवत् ॥३।४।२०॥

वाशब्दोऽवधारणार्थः। सर्वेषामाश्रमाणामस्मिन्वाक्ये विधिरेव नानुवादः। नन्वनेकाश्रमविधाने वाक्यभेदः स्यादिति चेन्न। विध्यविषयाणामाश्रमाणामपूर्वविधेरावश्यकत्वेन वाक्यभेदस्येष्टत्वात्। एकवाक्यताप्रतीतावपि तत्त्यागेनापूर्वार्थविधौ दृष्टान्तमाह—धारणवदिति। यथा "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" इत्यत्राधोधारणेनैकवाक्यता ज्ञाताऽपि परित्यज्यते विधीयते च स्रुग्दण्डस्योपरि समिद्धारणमपूर्वार्थतया। "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" (जै० सू० ३।४।१५।) इति प्रकरणे। तथाऽत्राप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेत्यवगम्यते। वस्तुतस्त्वस्मिन् वाक्ये ज्ञानिनो विरक्तस्य भगवद्भक्तस्य विशुद्धाश्रमावस्थितत्वेन तल्लक्षणमस्मिन्वाक्ये ब्रह्मसंस्थत्वमेव विधीयते। गृहस्थाद्याश्रमाननूद्यानित्यफलत्वेन तेषामनुष्ठान आदरातिशयाभावमभिधाय ब्रह्मसंस्थत्वस्यै-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वाविनाशिफलत्वेनात्र स्तूयमानत्वाद् । यत्स्तूयते तद्विधीयत इति न्यायादिति सर्वं समञ्जसम् ॥३।४।२०॥

इति पुरुषार्थाधिकरणम् ।

अथ स्तुतिमात्राधिकरणम् ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥३।४।२१॥

उद्गीथादिविद्यासु श्रूयते "स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः" (छा० १।१।३।) इति । तत्र किमिदं रसानां रसतमत्वादिकं कर्माङ्गोद्गीथस्तुतिमात्रमाहोस्विदुद्गीथोपासनायां गुणस्य विधानमिति संशये किं युक्तम् ? रसतमत्वादिवाक्यं सर्वमपि कर्माङ्गविधिस्तुतिमात्रम् । "इयमेव जुहुरादित्यः कूर्मः स्वर्गोलोक आहवनीय" इतिवत् कर्माङ्गभूतोद्गीथादिसम्बन्धित्वेनोपादानादिति चेन्न । कुतः ? अपूर्वत्वात् । जुह्वादिविधिवदुद्गीथमुपासीतेतिप्रकरणान्तरगतस्योद्गीथादिविधेरत्रासन्निधानात् । विधिशेषत्वासम्भवेन तत्स्तुतिपरत्वानुपपत्तेः । उद्गीथाद्युपासनानां रसतमत्वादिगुणानाञ्चापूर्वत्वात् प्रमाणान्तराप्राप्तत्वाद्यागादिवद्विधेयत्वमेवेति ॥३।४।२१॥

भावशब्दाच्च ॥३।४।२२॥

"उद्गीथमुपासीत' 'सामोपासीत' इत्यादिविधिशब्दाच्चकारादपूर्वत्वाच्च विधेयत्वमेवेत्युपासनाविधानार्था एता उद्गीथाद्याः श्रुतयः॥ ३।४।२२॥

इति स्तुतिमात्राधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ पारिप्लवार्थाधिकरणम् ।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥३।४।२३॥

वेदान्तेषु "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिः" (कौ० ३।१।) "अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः" (बृ० ४।५।१) इत्येवमाद्या आख्यायिकाः श्रूयन्ते । ताः किं पारिप्लवार्था आहोस्वित्सन्निहितविद्यास्तुत्यर्था इति संशये किं युक्तम् ? पारिप्लवार्था इति । अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय राज्ञे यदनेकप्रकारककथाकथनं तत्पारिप्लव शब्दवाच्यं भवति । 'आख्यानानि शंसती'ति समेषामाख्यानानां पारिप्लवे विनियोगात् । इति प्राप्त उच्यते–इति चेन्नेति–नैवं भवितुमर्हति । कुतः ? विशेषितत्वात् । 'पारिप्लवमाचक्षीतेत्युपक्रम्य 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्याद्यश्वमेधयज्ञवाक्यशेषे कासांचित्कथानां पारिप्लवशेषत्वेन विशेषितत्वात् । अत औपनिषदकथानां न पारिप्लवशेषत्वम् ॥३।४।२३॥

तर्हि किमर्था औपनिषदकथा इत्यत आह—

तथा चैकवाक्योपबन्धात् ॥३।४।२४॥

एवं रीत्या पारिप्लवार्थत्वाभावे सत्येकवाक्यतोपबन्धात् । औपनिषदाख्यायिकानां "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० ४।५।६।) इत्यादिविधिनैकवाक्यत्वदर्शनाद्विद्यास्तुतिपरत्वेन विद्यासौकर्यार्थत्वावगमाद्विधिसन्निधिपठिततत्तद्विद्याशेषत्वमेवेति सिद्धम् ॥३।४।२४॥

इति पारिप्लवार्थाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(*अथाग्नीन्धनाद्याधिकरणम्*)

पुरुषार्थोतः शब्दादित्यधिकरणे विद्यायाः स्वातन्त्र्यं प्रदर्श्य तत्प्रसङ्गेन प्राप्तं विचारं परिसमाप्य पुरुषार्थाधिकरणस्य फलमाह—

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥३।४।२५॥

किं ब्रह्मविद्यायाः स्वफलब्रह्मप्राप्तौ शेषत्वेन यज्ञादिकर्मणामपेक्षास्ति आहोस्विन्नेति संशये अस्तीति पूर्वः पक्षः। कुतः? "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन। इत्यादि श्रुतेरिति प्राप्तेऽभिधीयते—अत एवेति। ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्येण ब्रह्मप्राप्तिरूपपुरुषार्थहेतुत्वादेवाग्नीन्धनादिसाध्ययज्ञादिकर्मापेक्षा नास्ति। आदिपदं कर्मसाधनभूतान्नघृतादिपरम्। विविदिषायामेव यज्ञादिकर्मणां विनियोगश्रवणात्। निष्पन्नायां ब्रह्मविद्यायां प्रयोजनाभावाद्, यज्ञादीनामन्वयो नास्तीत्यर्थः। ॥३।४।२५॥

इत्यग्नीन्धनाद्याधिकरणम्।

अथ सर्वापेक्षाधिकरणम्।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥३।४।२६॥

किं ब्रह्मविद्यायाः स्वोत्पत्तौ यज्ञादिकर्मणामपेक्षास्ति न वेति संशये यथा ब्रह्मविद्यायाः स्वफले मोक्षे यज्ञादिकर्मापेक्षा नास्ति तथा स्वोत्पत्तावपि न कर्मापेक्षेति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्वापेक्षेति—विद्यायाः—स्वोत्पत्तौ सर्वेषामाश्रमकर्मणामपेक्षास्ति। कुतः? यज्ञादिश्रुतेः। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' 'यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति वेदानुवचनेन ब्रह्मचारिणः यज्ञेन दानेन गृहस्थास्तपसा वानप्रस्था अनाशकेन चतुर्थाश्रमिण इति सर्वेषां

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मचर्याद्याश्रमकर्मणां ब्रह्मविद्योत्पत्तिसाधनत्वश्रवणात्। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकान्तःकरणमालिन्यनिवृत्त्यादिपरम्परया ब्रह्मज्ञानस्य यज्ञादिजन्यत्वेन यज्ञादीनां ब्रह्मविद्योत्पत्तिसाधनत्वमवगम्यते। विविदिषन्तीत्यत्र वर्तमाननिर्देशेऽपि विधिः कल्प्यते। विविदिषासन्निधानात् यज्ञादीनां बहिरङ्गत्वम्। यथा विद्योत्पत्तौ कर्मापेक्षा तथा विद्याफलभूत मोक्षेऽपि स्यादित्यत आह—अश्ववदिति। यथाऽश्वो योग्यताबलाद्रथचर्यायां विनियुज्यते न लाङ्गलाकर्षणादौ। तथा योग्यताबलात्कर्माणि ज्ञानोत्पत्तावुपयुज्यन्ते न मोक्षे योग्यताभावादिति ॥३।४।२६॥

इति सर्वापेक्षाधिकरणम्।

अथ शमदमाद्यधिकरणम्।

शमदमाद्युपेतःस्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥३।४।२७॥

यज्ञादीनां ज्ञानोत्पत्तौ बहिरङ्गत्वमुक्त्वा शमादीनामन्तरङ्गत्वमुच्यते। किं विद्यानिष्पत्तये गृहस्थैः शमादयोऽनुष्ठेया नवेति संशये गृहस्थानां करणव्यापाररूपकर्माङ्गत्वेन तदनुष्ठानपरत्वात्कर्मासक्तमानसैर्गृहस्थैः कर्मानुष्ठानविपरीतशमाद्यनुष्ठानासम्भवात्। ऊर्ध्वरेतस्सु च शमादिविनियोगस्य चोपपत्तेर्गृहस्थैरननुष्ठेयाः शमादय इति प्राप्तेऽभिधीयते—शमाद्युपेतस्यादिति। यद्यपि गृहस्थः यज्ञादिकर्मसु विनियुक्तत्वेन तदासक्तस्तथापि मुमुक्षुर्ब्रह्मविद्यार्थी गृहस्थो यज्ञाद्यनुष्ठानविशिष्टकाले शमाद्युपेतः स्यादेव। कुतः? तदङ्गतया तद्विधेः। "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृ० ४।४।२३) इति सामान्येन

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विद्याङ्गतया तेषां शमादीनां विधानात्। विहितानां चैषामवश्यानुष्ठेयत्वात्। यथा यज्ञादीनां बहिरङ्गानां विद्योत्पत्तिहेतुत्वेनानुष्ठानां तथा 'तस्मादेवंविदि'ति विद्यासान्निध्याच्छमादीनामपि विद्योत्पत्त्यन्तरङ्गसाधनत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वादिति ॥३।४।२७॥

इति शमदमाद्यधिकरणम्।

अथ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥३।४।२८

बृहदारण्यके श्रूयते—प्राणविद्यायां "न ह वास्यानन्नं जग्धं भवति (बृ० ६।१।१४।) इति। अस्य प्राणोपासकस्य सर्वं पदार्थजातमनन्नमनदनीयं न भवति किन्त्वदनीयमेव भवतीत्यर्थः। तत्र संशयः। किमियं प्राणोपासकस्य सर्वान्नानुमतिः सर्वदा आहोस्वित्प्राणात्यद्यापत्तावेवेति किं युक्तम्? अविशेषश्रवणात्सर्वदेति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यय इति। प्राणात्यय एव परस्यामापदि विद्वांसमविद्वांसं प्रति सुरावर्ज्यं सर्वमन्नमदनीयत्वेनानुमतं नानापदि। कुतः? तद्दर्शनात्। श्रूतावापत्काले प्राणात्यये चाक्रायणर्षेरभक्ष्यभक्षणत्वदर्शनात्। तथा हि—मटचीहतेषु कुरुषु दुर्भिक्षे जाते क्षुत्क्षुद्भ्यां पीडितः सभार्यश्चाक्रायण उषस्तिर्ब्रह्मविदग्रेसरः कदाचिद्धस्तिपालकदेशमाश्रितोऽनशनेन प्राणसंशयमापन्नो हस्तिपालकेन प्रदत्तान् तदुच्छिष्टान् कुल्माषान् भक्षितवान्। पुनरनुपानायहस्तिपालकेनोक्ते 'उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादि'ति प्रतिषेधः कृतः। पुनश्चैते कुल्माषा नोच्छिष्टा इतीभ्येन पृष्टे नेत्याह चाक्रायणस्तत्र हेतुमभिदधौ। कुल्माषभक्षणं यद्यहं न कुर्यां तर्हि मे जीवनमेव न स्यादुदपानन्तु तडागादिषु स्वतो भविष्यतीति स्पष्टमेतच्छान्दोग्योपनिषदः प्रथमस्य दशमखण्डे। तस्मात्प्राणात्ययापत्तौ विदुषां

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वान्ननुमतिदर्शनात् प्रकृते प्राणोपासकस्य सर्वदा सर्वान्नानुज्ञानं तत्स्तुत्यर्थतयार्थवादमात्रम् ॥३।४।२८॥

अबाधाच्च ॥३।४।२९॥

इतश्च नानापदि सर्वान्नीनत्वं ब्रह्मविदः। "आहार शुद्धौ सत्व-शुद्धि सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इत्याहारशुद्धिविधेरबाधाच्च न सर्वदा सर्वान्नानुमतिः किन्तु प्राणात्यय एव ॥३।४।२९॥

अपि च स्मर्यते ३।४।३०॥

अपि च प्राणसंशय एव सर्वान्नीनत्वं स्मर्यते तत्वविदाम्। "प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" इति ॥३।४।३०॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३।४।३१॥

यतः सर्वान्नीनत्वमापद्विषयकमेव विदुषामतः कामकारे स्वे-च्छाचारे प्रतिषेधकः शब्दोऽस्ति "तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेदि'ति कठसंहितायाम्। तस्मात्प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नानुमतिरिति सिद्धम् ॥३।४।३१॥

इति सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्।

(अथ विहितत्वाधिकरणम्।)

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥३।४।३२॥

सर्वापेक्षेत्यादिसूत्रे यज्ञादीनां विद्याङ्गत्वमुक्तम्। इदानीं तानि यज्ञादीनि कर्माणि किममुमुक्ष्वाश्रमस्याङ्गभूतान्युत नेति संशये केवलाश्रमस्याप्यङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः स्यादिति न केवला-श्रमधर्मत्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते–विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापीति। केवलं-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गृहस्थाश्रमिणाप्यनुष्ठेयानीति । कुतः ? 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना मुमुक्षूणामपि जीवननिमित्ततया विहितत्वात् । एकेनैव कर्त्रैकेनैव विनियोगेनोभयाङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोध उपपद्यते । इह तु यावज्जीवमित्यमुमुक्ष्वधिकारत्वात् 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेने'ति मुमुक्ष्वधिकारत्वाद्विनियोगपृथक्त्वेन न विरोधः ॥३।४।३२॥

नन्वेवं यज्ञादिकर्मणाममुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वे मुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वं न स्यादित्यत आह—

सहकारित्वेन च ॥३।४।३३॥

'तमेत'मित्यादिश्रुत्या यज्ञादीनां विद्यार्थत्वेन विहितत्वात् सत्त्वशुद्धिद्वारा विद्यासहकारित्वेन मुमुक्षुणाऽपि तान्यनुष्ठेयानीत्यधिकारभेदप्रदर्शनेनोक्तविरोधः परिहृतः सूत्रकारेण । यथा 'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य' इत्येकस्यैव खादिरत्वस्य शास्त्रद्वयात् क्रत्वर्थत्वेन नित्यत्वं वीर्यार्थत्वेनानित्यत्वञ्च विरुध्यते तथेहाऽपि ॥ ३।४।३३ ॥

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥३।४।३४॥

सर्वथापि नित्यत्वेन विद्यासाधनत्वेन चोभयत्र विनियोगभेदेऽप्यनुष्ठेया यज्ञादयस्त एवोभयत्र सङ्कल्पभेदेन फलत एव भेदो यज्ञादीनां न स्वरूपत इत्यर्थः । कुतः ? त एवोभयलिङ्गात्—श्रुतिस्मृत्युभयलिङ्गात् । तत्र श्रुतिलिङ्गम्—"यज्ञेन विविदिषन्ती"ति । स्मृतिलिङ्गं तु—"यज्ञो दानं तपश्चैव न त्याज्यं कार्यमेव तत्" इत्यादि ॥ ३।४।३४ ॥

अनभिभवञ्च दर्शयति ॥३।४।३५॥

"एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते" इत्यादिश्रुति ब्रह्मचर्याद्याश्रमकर्मभिः सत्त्वशुद्धिद्वारा विद्यां प्राप्तस्यात्मनो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रागादिभिरनभिभवं दर्शयति । तस्मात् सर्वाश्रमनित्यकर्मणां विद्यासाधनत्वमिति ॥ ३।४।३५ ॥

इति विहितत्वाधिकरणम् ।

(अथ विधुराधिकरणम् ।)

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३।४।३६॥

आश्रमानन्तरा वर्तमानो विधुरादिरनाश्रमी । तस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति न वेति संशये 'यज्ञेन दानेन तपसानाशकेने' त्याश्रमकर्मणामेव विद्यासाधनत्वश्रवणादनाश्रमिणां न तत्राधिकार इति प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तरेति । आश्रममन्तरा वर्तमानस्य विद्यायामस्त्येवाधिकारः । कुतः ? तद्दृष्टेः । श्रुतावनाश्रमिणामपि रैकभीष्मसंवर्तवाचक्नवीप्रभृतीनां विद्यानिष्ठत्वदर्शनात् । आश्रमानाश्रमसाधारणैर्जपोपासनादिभिरेवानाश्रमिणामपिविद्यानुग्रहो भवतीत्यतोऽस्त्येव विधुराणामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारस्ततस्तेषां मोक्षसिद्धिरिति । सूत्रे च शब्दोवधारणे तु शब्दश्च पूर्वपक्ष व्यावृत्यर्थः ॥ ३।४।३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥३।४।३७॥

जप्येनापि च संसिद्धयेद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥मनु. २।८७॥
इत्यनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यासिद्धिः स्मर्यते॥३।४।३७॥

विशेषानुग्रहश्च ॥३।४।३८॥

"तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यात्" (प्र.१।१०) इत्यनाश्रमनियतैर्धर्मैर्विद्याविशेषेणानुग्रहः श्रूयते ॥३।४।३८॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कस्तर्ह्युभयोर्विशेष इत्याशङ्क्याह—

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३।४।३९॥

तुशब्दश्चोद्यनिवर्तकः। अतोऽनाश्रमित्वादितरदाश्रमित्वं ज्यायः। बहुज्ञानसाधनाधिकारित्वाद्धर्मभूयस्त्वाज्ज्यायः। शीघ्रमेव विद्योपलब्धिराश्रमवतः स्यादितिभावः। लिङ्गाच्च—"अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः।" "संवत्सरमनाश्रमीस्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्" इत्याद्यनाश्रमिण आश्रमग्रहणोपदेशपरस्मार्तलिङ्गादनाश्रमिण आश्रमित्वं ज्यायः ॥३।४।३९॥

इति विधुराधिकरणम्।

(अथ त ताधिकरणम्।

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ॥३।४।४०॥

एवमनाश्रमिणो गार्हस्थ्यविधुरस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीत्यभिहितम्। इदानीं नैष्ठिकवानप्रस्थपरिव्राजकानां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्युतानां कर्माणि विद्यासाधनानि सन्ति न वेति विषये तेषामपि कानिचिज्जपादिरूपकर्माणि विद्यासाधनानि विधुरकर्मवत्स्युरिति प्राप्तेऽभिधीयते—तद्भूतस्य तु नातद्भाव इति। मम सम्मतं जैमिनेरपि सम्मतमितिभावः। कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्। नैष्ठिकादिधर्माभावास्तेभ्यः शास्त्रैर्नियमनात् "ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासीतृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" (छा० २।२३।१।) इति नैष्ठिकस्य नियमात्। "अरण्यमियात्तत्तो न पुनरेयात्" इति वैखानसस्य। तथा "सन्न्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत्" (यजु. का.) इति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिव्राजकस्य नियमात्। तस्मादनाश्रमित्वेनावस्थानस्य नैष्ठिकादेरप्रमाणिकत्वान्न तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारः ॥३।४।४०॥

यदि प्रमादान्नैष्ठिकादेः स्वधर्मात्प्रच्यवस्तर्हि तत्प्रायश्चित्तमस्ति न वेति संशये नास्तीति पूर्वपक्षयति—

नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥३।४।४१॥

नैष्ठिकादीनामधिकारे यत्प्रायश्चित्तमभिहितं तदपि नैष्ठिकस्याकीर्णिनो न सम्भवति। कुतः? पतनानुमानात्तदयोगात्। स्वाश्रमधर्मप्रच्युतानां नैष्ठिकादीनां पतनस्मरणात् पतितानाञ्च प्रायश्चित्तस्यायुक्तत्वात्। "आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा" इति। तस्मादुपकुर्वाणब्रह्मचारिविषयमाधिकारिकं प्रायश्चित्तमिति ॥३।४।४१॥

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥३।४।४२॥

अस्य महापातकत्वाभावेन न प्रायश्चित्ताभावः। यत एक आचार्या उपपूर्वमुपपदपूर्वकमुपपातकमेवेदं मन्यन्ते। गुरुदारादिव्यतिरिक्तगमनवत उपकुर्वाणस्येव नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तं मन्यन्ते। उभयोर्ब्रह्मचारित्वेनाकीर्णित्वस्य समानत्वात्। दृष्टान्तमाह—अशनवदिति। यथा निषिद्धे मध्वशनादौ कृते प्रायश्चित्तेन शुद्धिस्तद्वदित्यर्थः। उपकुर्वाणस्य ब्रह्मचारिण उक्तमाधिकारिकं प्रायश्चित्तं नाधिकारीणामपि भवतीत्याह—तदुक्तमिति। "उत्तरेषां चैतद्विरोधी" (गौ० १।३।४) ति स्मृतिकारैरुपकुर्वाणब्रह्मचार्यर्थमुक्तमेतत् ॥३।४।४२॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥३।४।४३॥

तुशब्दः पूर्वमतं निवर्तयति। नैष्ठिकादीनां स्वाश्रमात्प्रच्युतिरुपपातकं महापातकं वेत्युभयथापि कृतप्रायश्चित्ता अकृतप्रायश्चित्ता

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वेत्युभयथापि ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यो बहिःकर्तव्या एव। कुतः ? स्मृतेः। "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा" (आग्नेय १६।५।२३) इति। आचाराच्च–अवकीर्णिना सह शिष्टानामध्ययनाद्याचाराभावाच्च। तस्मान्नाधिकारः स्वाश्रमधर्मभ्रष्टानां नैष्ठिकादीनां ब्रह्मविद्यायामिति सिद्धम् ॥३।४।४३॥

इति तद्भूताधिकरणम्।

अथ स्वाम्यधिकरणम्।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥३।४।४४॥

किमङ्गाश्रितोपासनानि यजमानानुष्ठेयान्याहोस्विदृत्विगनुष्ठेयानीति संशये किं युक्तम् ? यः कर्त्ता स फलभोक्तेति न्यायमनुसृत्य पूर्वपक्षमाह–स्वामिन इति। स्वामिनो यजमानस्यैवाङ्गाश्रितोपासनान्यनुष्ठेयानि। कुतः ? तस्यैव फलश्रुतेरित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥३।४।४४॥

अत्र समाधत्ते—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ॥३।४।४५॥

ऋत्विगधिकृतस्यैवास्मिन्नुपासनेऽधिकारात् क्रतोरार्त्विज्यत्वेनैव तदङ्गोपासनमप्यार्त्विज्यमृत्विक्कर्तृकमेवेत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। यजमानफलसाधनभूतस्य साङ्गस्य क्रतोर्निष्पादनाय यजमानेनर्त्विक् परिक्रियते। अतो यजमानपरिक्रीतर्त्विगनुष्ठितस्य कर्माङ्गाश्रितोपासनस्य फलं यजमानगामि भवतीति फलश्रुतेरप्यविरोधः ॥३।४।४५॥

इति स्वाम्यधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ सहकार्यन्तरविध्याधिकरणम् ।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥३।४।४६॥

बृहदारण्यके श्रूयते–"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनञ्च मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" (बृ० ३।५।१) इति । तत्र मौनं विधीयते नवेति विषयः । पूर्वतने वाक्ये बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधिसमाप्तावत्र मौनं न विधीयते किन्तु पाण्डित्यं निर्विद्येति विहितस्यायमनुवादः । मौनपाण्डित्यशब्दयोश्च ज्ञानाभिधायकत्वादिति पूर्वः पक्षः ।

अत्रोच्यते–सहकार्यन्तरविधिरिति । यद्यपि यज्ञादिवद्बाह्यकरणैर्निदिध्यासनमननुष्ठेयं तथापि मानसजपादिवद्ब्रह्मासकृच्चिन्तनरूपस्य निदिध्यासनस्यान्तःकरणधर्मत्वेन सम्भवत्येवात्र मौनस्य विधानम् । एवञ्चात्र पाण्डित्यं बाल्यं मौनञ्चेत्येतत्त्रितयमपि ब्रह्मविद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते विध्यादिवत् । विधीयत इति विधिः । यज्ञदानादिक आश्रमधर्मः । आदिपदेन श्रवणमननयोर्ग्रहणम् । तद्वतोऽध्ययनजब्रह्मसामान्यज्ञानवतः श्रवणमननवतो वा तद्विशेषज्ञानप्राप्तावाश्रमधर्मवच्छ्रवणमननवच्च फलभूतब्रह्मसाक्षात्कारे श्रवणमननद्वयापेक्षया तृतीयमिदं सहकार्यन्तरं निदिध्यासनात्मकं मौनमपूर्वं विधीयते । विद्यासहकारितयार्थप्राप्तयोरपि श्रवणमननयोर्यथा 'श्रोतव्यो मन्तव्य'इत्यत्र ग्रहणम् । तथात्रापि सहकार्यन्तरविधाने निदिध्यासनमेव विधीयत इत्यत आह–पक्षेणेति । निदिध्यासनपदस्य निरन्तरब्रह्मचिन्तनापरपर्यायस्य पक्षेण श्रवणमननाभ्यामत्यन्तोत्कृष्टत्वम् । अत एव पाण्डित्याद्भिन्नमेव मौनमत्र विधीयते । तत्र पण्डा शास्त्राध्ययनजा शास्त्रीया ब्रह्मसामान्यधी-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्तद्वान् पण्डितस्तत्कृतं श्रवणं पाण्डित्यं तन्निर्विद्य निश्चयेन प्राप्य बाल्येन बालभावेन ज्ञानबलभावेन मननेन स्थातुमिच्छेत्। बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिः मननशीलो ब्रह्मैकचिन्तनशीलस्तन्निदिध्यासनपरो भवेत्। अमौनञ्च श्रवणमनने मौनञ्च निदिध्यासनं तन्निर्विद्य तत्सिद्धावस्थाम्प्राप्याथ ब्राह्मणो भवतीत्यर्थः। ब्राह्मणः श्रवणमननानन्तरं निदिध्यासनपरो भवेदिति भावः ॥३।४।४६॥

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥३।४।४७॥

तुशब्दः शंकाव्यावर्तकः। कृत्स्नभावात्—सर्वेष्वाश्रमेषु विद्यायाः सम्भवात् सर्वेऽप्याश्रमिणः स्वाश्रमकर्मानुष्ठानं कुर्वन्तः परमात्मानं चिन्तयन्तः कैमुत्यन्यायेन ब्रह्मलोकं सम्पद्य न पुनरावर्तन्त इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं गृहस्थधर्मेणोपसंहार इति ॥३।४।४७॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥३।४।४८॥

"तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः" "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्यत्र "अथ मुनिरित्यत्र च वाक्ये पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ० ३।५।१।) इति परिव्राजकधर्मेणोपसंहारः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थः। कुतः ?मौनादिवदितरेषामप्याश्रमधर्माणां यज्ञदानतप आदीनामुपदेशात् ॥३।४।४८॥

इति सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम्।

अथानाविष्काराधिकरणम्।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥३।४।४९॥

"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" (बृ० ३।५।१।) इत्यत्र ब्रह्मविदा स्वस्मिन्बाल्यमाविष्करणीयमिति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रूयते। तत्र बालस्य क्रीडनादिकं सर्वं कर्म विदुषोपादेयमाहोस्वित्तदवमानादिरहितत्वमेव विशेषकर्मेति संशयेऽविशेषादखिलं बालकर्मोपादेयमितिप्राप्तेऽभिधीयते—अनाविष्कुर्वन्निति। यथा बालः भावशुद्धिपूर्वकं स्वाभिजनादिकमनाविष्कुर्वन् मानापमानौ परिहाय वर्तते तथा विदुषा वर्तितव्यम्। तदेव तस्य कर्म चोपादेयं न तु शौचाचारराहित्यं तिष्ठन्मूत्रोच्चारादिकमपि। कुतः? अन्वयात्। विद्यानुकूलानामेव बालकर्मणामन्वयात्। शौचाचारराहित्यादीनान्तु विद्या विरोधितयाऽनन्वयात्। तथाच श्रुतिः "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" (का. २।२४।) इति ॥३।४।४९॥

इत्यनाविष्काराधिकरणम्।

अथैहिकाधिकरणम्।

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥३।४।५०॥

किं विद्योत्पत्तिरिहैव जन्मन्युतामुष्मिन्नपीति संशये किं युक्तम्? इहैव जन्मनि विद्या ममास्त्विति कामनया श्रवणादिषु प्रवृत्यैहिकमेव विद्याजन्मेति प्राप्तेराह—ऐहिकमपीति। विद्यार्थमनुष्ठितं फलोन्मुखं कर्म श्रवणं मननं च प्रस्तुतमित्युच्यते। तेन कर्मणा श्रवणादिना च प्रतिबन्धाभावे सत्यैहिकं विद्याजन्म भवति। प्रतिबन्धे सति त्वमुत्रापीत्यनियम एव नत्विहैवेति नियमः। कुतः? तद्दर्शनात्। श्रुतौ प्रतिबन्धाप्रतिबन्धाभ्यामनियमस्य दर्शनात्। गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिबुबुधे ब्रह्मभावमिति जन्मान्तरानुष्ठितस्य कर्मणः श्रवणादेः फलं जन्मान्तरे दर्शयति। सतिप्रतिबन्धे तु विद्योत्पत्तिर्दुर्लभा ॥३।४।५०॥

इत्यैहिकाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ मुक्तिफलाधिकरणम् ।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थाव-धृतेः ॥३।४।५१॥

किं विद्यायामुत्पन्नायामिहैव जन्मनि मुक्तिर्जन्मान्तरे वेति संशये विद्योत्पत्तौ सत्यामिहैव मुक्तिर्भवतीति प्राप्तेराह—एवं मुक्तिफलानियम इति । यथा श्रवणादिकर्मणां पौष्कल्ये इहैव विद्याजन्म भवति नान्यथा । तथा सततस्मृतिरूपायां विद्यायां सत्यामिहैव जन्मनि ब्रह्मप्राप्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । अन्यथा जन्मान्तरेऽपि सम्पद्यते । अतोऽनियमः । कुतः ? तदवस्थावधृतेः । "सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" (छा० ७।२६।२।) इति ध्रुवाया स्मृतेरेव कर्मबन्धविमुक्तिहेतुत्वावधारणादिति सर्वमनवद्यम् । अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥३।४।५१॥

इति मुक्तिफलाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृते
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे तृतीयाध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीतस्य शारीरकमीमांसायाः श्रीजानकी-कृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः

अथावृत्त्यधिकरणम् ।

पूर्वस्मिन्नध्याये ससाधनाया विद्याया विचारः कृतः। अथास्मिन्नध्याये विद्यास्वरूपनिरूपणपूर्वकं विद्याफलपुण्यपापाश्लेषविनाशपूर्वक परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं चिन्त्यते ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥४।१।१॥

"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृ० ४।५।६) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० ३।२।९) "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" (मु० ३।१।३) "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" (श्वे० ३।८) इत्यादिष्वौपनिषदेषु वाक्येषु ब्रह्मप्राप्तिसाधनतयाविहितं ध्यानवेदनादिकं किं सकृदेव कर्तव्यम् आहोस्वित्तस्यावृत्तिरितिसंशये सकृत्कर्त्तव्यम्। कुतः ? 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मवेदनमात्रस्य तत्प्राप्तिहेतुत्वश्रवणात्। अतो ज्योतिष्टोमादिवद्यथाश्रुतं सकृदेवकर्तव्यमितिप्राप्तेऽभिधीयते—आवृत्तिरसकृदुपदेशादिति । ध्यानवेदनाद्यभिहितस्यावृत्तिः कर्तव्या। कुतः ? असकृदुपदेशात्। "निदिध्यासितव्यः" (बृ० ४।५।६।) इति याज्ञवल्क्येनात्मदर्शनसाधनत्वेनासकृद्ध्यानकर्तव्यत्वोपदेशात्। निदिध्यासनपदस्यासकृद्ध्यानार्थकत्वात्। असकृन्निदिध्यासनमन्तरेण परमात्मसाक्षात्कारानुपपत्तेः। "सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" (छा० ७।२६।२।) इत्यत्र सर्वग्रन्थिविप्रमोक्षहेतुत्वेन श्रुताया ध्रुवस्मृतेरपि ध्रुवत्वमचलत्वं तैलधारावदविच्छिन्नत्वमन्यथानुपपद्यमानं स्मृतेः सातत्यमुपपाद्य तदावृत्तिं ज्ञापयति ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपास्यविषयिणी स्मृतिरेव तत्र तत्रोपासनवेदनादिपदैरभिधीयते। वेदनोपासने च समानप्रकरणाधीतत्वात्समानार्थके एवेत्यावृत्तिः कर्तव्येति ॥४।१।१॥

लिङ्गाच्च ॥४।१।२॥

इतश्च वेदनादेरावृत्तिर्विधेया। यतः स्मृतेरयमर्थोऽवसीयते। "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।" (गी०) "तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा।" (वि० पु० ६।७।९१) इत्यादिका स्मृतिरत्रासकृदावृत्तिमेव वेदनादेरवगमयतीति ॥४।१।२॥

इत्यावृत्त्यधिकरणम्।

अथात्मत्वोपासनाधिकरणम्।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥४।१।३॥

तुशब्दोऽवधारणार्थकः। उपासकेन स्वात्मतयैवोपास्यं ब्रह्म। यथा स्वीयशरीरस्यात्मोपासिता प्रत्यगात्मा तथोपासितुरप्यात्मा ब्रह्मेति ममात्मा ब्रह्मेत्येवमुपासीतेति तदर्थः। कथमवगम्यते? उपगच्छन्त्येवमेव पूर्वतनाः समुपासकाः। "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इत्युपासकस्य स्वरूपेण स्वभावेन भिन्नमपि ब्रह्माहमित्येवोपासका अभ्युपगच्छन्तीति। कथञ्च तदभ्युपगम इत्याह ग्राहयन्ति चेति। एवमेव श्रुतय उपासकानवबोधयन्ति। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३।७।२२) इत्यादिश्रुतयस्सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः शरीरतया

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परमात्मनश्च तदात्मतया प्रतिपादयन्ति । यथा स्वशरीरं प्रति प्रत्यगात्मन आत्मत्वात् 'देवोऽहम्' 'मनुष्योऽह'मित्यनुसन्धानं तथा परमात्मनोऽप्यात्मत्वादहमित्येवानुसन्धानम् । एतच्च "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योहमस्मीति न स वेद" (बृ० १।४।१०) इत्याद्यनेकश्रुतिभिरुपपादितम् ॥४।१।३॥

इत्यात्मत्वोपासनाधिकरणम् ।

अथ प्रतीकाधिकरणम् ।

न प्रतीके न हि सः ॥४।१।४॥

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा० ३।१८।१।) इत्येवमादिप्रतीकोपासनेषु संशयः । किं प्रतीके मनआदावात्मत्वबुद्धिः कर्तव्या, आहोस्विन्नेति । तत्र सर्वासूपासनासूपासनत्वसाम्याद् ब्रह्मणश्च स्वात्मत्वान्मनो ब्रह्मेति वचनेन मनआदीनां ब्रह्मरूपत्वादुपासकस्यात्मभूतब्रह्माभिन्नत्वान्मनआदावात्मबुद्धिः कर्तव्येति प्राप्तेऽभिधीयते-न प्रतीक इति । मनआदौ प्रतीके नात्मबुद्धिः कर्तव्या । तत्र हेतुर्न हि स इति । यतः स प्रतीको नह्युपासकस्यात्मा । प्रतीकोपासनेषु प्रतीकस्यैवोपासनमभिमतं न ब्रह्मणः । मनो ब्रह्मेति मनः सामानाधिकरण्येन ब्रह्मपदपाठस्तु मनआदौ ब्रह्मदृष्टिविशेषणार्थम् । अत्र प्रतीकोपासनं हि अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्या भावनम् ॥४।१।४॥

अथैवं मनसि ब्रह्मदृष्टिरुत ब्रह्मण्येव मनोदृष्टिः कर्तव्येत्यत्राह—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥४।१।५॥

ब्रह्मणो मनआदिभ्य उत्कृष्टत्वान्मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव साधीयसी । निकृष्ट अमात्यादावुत्कृष्टराजत्वादिबुद्धेः सफलत्वस्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दृष्टत्वात्। राज्ञि ततो हीनस्यामात्यदृष्टेर्हानिकरत्वाच्च। तस्मादपकृष्टेषु मन आदिषूत्कृष्टस्य ब्रह्मण एव दृष्टिः कर्तव्येति सिद्धम्॥४।१।५॥

इति प्रतीकाधिकरणम्।

अथादित्यादिमत्यधिकरणम्।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः॥४।१।६॥

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" (छा० १।३।१।) इत्यादिषु कर्माङ्गोपासनेषु संशयः। किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः कार्या, आहोस्विदुद्गीथादिषु कर्माङ्गेष्वादित्यादिदृष्टिरिति। तत्र पूर्वतन्न्यायेनोत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे कर्तव्येति नियमादुद्गीथादीनां कर्मरूपत्वेन फलवत्त्वादफलेभ्य आदित्यादिभ्य उत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिरिति प्राप्तेऽभिधीयते—आदित्यादिमतयश्चाङ्ग इति। चोऽवधारणार्थकः। अङ्गेः कर्माङ्ग उद्गीथादावादित्यादिमतयो एव कर्तव्याः। कुतः? उपपत्तेः। यथा प्रोक्षणादिना संस्कृतेषु व्रीह्यादिषु प्रकृतेन कर्मणापूर्वरूपं फलमुत्पद्यते। तथादित्यादिदेवतादृष्टिभिः संस्कृतेषु कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु प्रकृतस्य कर्मणः फलाधिक्यलक्षणा समृद्धिरुत्पद्यते। आदित्यादिदेवताराधनेन कर्मणां फलजनकत्वमन्यथा नेति, अत आदित्यादिदृष्टिरेवोद्गीथादिष्विति॥४।१।६॥

इत्यादित्यादिमत्यधिकरणम्।

अथासीनाधिकरणम्।

आसीनः सम्भवात्॥४।१।७॥

पूर्वत्र मोक्षसाधनतया यदुपासनं वेदनध्याननिदिध्यासनादिपदबोध्यं विहितं तत्तिष्ठन्नासीनः शयानो गच्छन् वाऽनियमेनानु-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तिष्ठेदुत नियमेनासीन एवेति संशये मनोधर्मत्वादुपासनस्य शरीरस्थितेरनियम इति प्राप्तेऽभिधीयते। आसीन इति। आसीन एवोपासनं विदध्यात्। कुतः? सम्भवात्। समानप्रत्ययपरम्पराल-क्षणस्योपासनस्यासीन एवोपासके सम्भवात्। नहि तिष्ठतः पुंसः सम्यगुपासनं सम्भवति शरीरधारणप्रयोजकप्रयत्नापेक्षया चित्तविक्षेपात्। न वा गच्छतोऽनेकधा वस्तुदर्शनेन चित्तस्य चाञ्चल्यात्। शयानस्य निद्राप्रसङ्गात्। तस्मान्नासाग्रदृष्टिः सन्नासीन एवोपासनं कुर्यात् ॥४।१।७॥

ध्यानाच्च ॥४।१।८॥

"निदिध्यासितव्यः" (बृ. ४।५।६।) "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु.) इत्यादिश्रुतिभ्य उपासनस्य ध्यानरूपत्वात् ध्यानस्य च विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षणस्यानन्यचेतस्त्वेन ब्रह्मैकसततचिन्तनात्मकस्यासीनेष्वेव सम्भवादासीन एवोपासीते इति ॥४।१।८॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥४।१।९॥

"ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायतीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः" (छा. ७।६।१।) इत्येवमादीनां श्रुत्युक्तानां ध्यानोपचारवतां पृथिवीपर्वतादीनां यदचलत्वं दृश्यते तदपेक्ष्य ध्यायमानस्याचलत्वमावश्यकम्। तच्चासीनस्यैव सम्भवति। तस्मादासीन एवोपासीतेति ॥४।१।९॥

स्मरन्ति च ॥४।१।१०॥

"शुचौ देशेप्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ गी० ६।११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ गी० ६।१२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यासीनस्यैव परमात्मनः योगाख्यं ध्यानं स्मर्यते ॥४।१।१०॥

तच्च ध्यानमासीनेन कुत्रदेशे कदा कर्तव्यमित्यत आह—

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥४।१।११॥

यत्र देशे काले वा चित्तस्यैकाग्रता सजातीयप्रत्ययप्रवाहोन्मुखता भवेत्तत्रैवोपासीत। कुतः?। प्राच्यादिदिशो नदीतीरादिदेशस्य ब्रह्ममुहूर्तादिकालस्य च विशेषरूपेणाश्रवणात्। "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते" इति वचनन्तु चित्तस्यैकाग्रतानिरूपकमेव देशमभिधत्ते ॥४।१।११॥

इत्यासीनाधिकरणम् ।

अथाप्रायणाधिकरणम् ।

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥४।१।१२॥

एतन्मोक्षसाधनमुपासनमेकस्मिन्नेवाहन्यनुष्ठेयमाप्रायणादहरहर्वेति विषये "अन्तकाले तु मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥" इत्युक्ते देहत्यागादावेकस्मिन्नेवाहनीति प्राप्तेऽभिधीयते—आप्रायणादिति। आमरणादावृत्त्यानुष्ठेयमुपासनम्। कुतः? तत्रापि हि दृष्टम्। उपासनमारभ्याप्रायणान्मध्ये यः कालस्तत्रापि हि दृष्टमुपासनम् "स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" (छा० ८।१५।१।) इत्याप्रायणमुपासनावृत्तिः कर्तव्येति ॥४।१।१२॥

इत्याप्रायणाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ तदधिगमाधिकरणम् ।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥४।१।१३॥

अतीतेन ग्रन्थेनावशिष्टं विद्यास्वरूपमेव विचारितम्। अथ तत्फलमिदानीं चिन्त्यते किं ब्रह्मविद्याप्राप्तस्य विदुष उत्तरपूर्वाघयोरसम्बन्धविनाशावुपपद्येते न वेति संशये नोपपद्येते। कुतः? "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इत्यादिशास्त्रविरोधात्। इति प्राप्तेऽभिधीयते—तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशाविति। ब्रह्मविद्याप्राप्तौ तद्बलादुत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ सम्भवत एव। कुतः? तद्व्यपदेशात्—व्यपदिशन्त्येवमेव श्रुतयः। "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" (छा० ४।१४।३।) इत्युत्तरस्याघस्याश्लेषम्। तथा "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० ५।२४।३।) "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २।२।८) इति च पूर्वसञ्चितस्याघस्य विनाशञ्च व्यपदिशन्ति। न च "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यस्य विरोध इति वाच्यम्। तस्य च फलोत्पत्तौ दाढर्याभिधायकत्वात्। अश्लेषविनाशप्रतिपादकानाञ्च वचसां कर्मणि या फलोत्पत्तिशक्तिरस्ति तस्या विनाशसामर्थ्यमुत्पत्त्यवरोधसामर्थ्यञ्च विद्यायामस्तीत्यभिप्रायः। एवञ्चोभयोर्भिन्नविषयत्वान्न विरोधः ॥४।१।१३॥

इति तदधिगमाधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथेतराधिकरणम् ।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥४।१।१४॥

उक्तन्यायं पुण्याश्लेषविनाशेऽप्यतिदिशति–इतरस्याप्येवमिति। एवं पापाश्लेषविनाशवत् पापादितरस्य पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशौ स्याताम्। पुण्यस्यापि विद्याफलमोक्षविरोधित्वेन दुष्कृतसाम्यात्। पुण्यविनाशस्यापि व्यपदेशाच्च—"तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते" (कौ० १।४।) "उभे ह्येवैष एते तरति" (बृ० ४।४।२२।) "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" (मु०) इति। एवं विदुष उत्तरपूर्वयोः पुण्यपापयोः शरीरान्तरहेतुभूतयोर्विद्याप्रभावेणाश्लेषविनाशाभ्यां प्रारब्धकर्मणश्च भोगेनैव क्षयाद्देहपातेऽवश्यं मुक्तिरित्याह पाते त्विति। तु शब्दोऽवधारणार्थकः ॥४।१।१४॥

इतीतराधिकरणम् ।

अथानारब्धकार्याधिकरणम् ।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥४।१।१५॥

पूर्वं ब्रह्मविद्यया पूर्वकर्मणां सर्वेषां विनाश उक्तः। स किं प्रारब्धकर्मसहितानां भवत्युत प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तानामितिसंदेहे "क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे" इत्यविशेषेण सर्वकर्मणां क्षयश्रवणात्सर्वेषां कर्मणां क्षय इतिप्राप्तेऽभिधीयते। अनारब्धकार्येइति। न आरब्धं न निष्पादितं कार्यं शरीरं याभ्यां पुण्यपापाभ्यां ते अनारब्धकार्ये अप्रवृत्तफले पूर्वे विद्योत्पत्तेः पूर्वतने अनादिकालतः संचिते पुण्यपापे। एवकारः प्रारब्धकार्यव्यवच्छेदार्थः। न तु प्रारब्धकार्ये विद्यया विनश्यत इत्यर्थः। कुतः ? तदवधेः "तस्य तावदेव चिरं

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" (छा० ६।१४।२।) इतिदेहपातावधिश्रवणादित्यर्थः। तथा च 'तस्य तावदेव' ति विशेषश्रुत्यनुसारेण 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी' त्यस्या अविशेषश्रुतेर्नयनात् प्रारब्धकार्यव्यतिरिक्तयोरनादिसंचितपूर्वपुण्यपापयोर्विद्यया विनाश उपपद्यते न त्वारब्धकार्ययोरित्यवधेयम् ॥४।१।१५॥

इत्यनारब्धकार्याधिकरणम् ।

अथाग्निहोत्राद्यधिकरणम् ।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥४।१।१६॥

आदिना यज्ञदानतपसां ग्रहणम्। तेषां विद्यासाधनत्वश्रुतेः। पूर्वमनारब्धकार्याणां कर्मणां विद्यया विनाशोऽभिहितः। इदानीमग्निहोत्रादिरूपाणां नित्यानामाश्रमधर्माणामप्यनारब्धकार्यत्वात्तेषां विद्यया विनाशो भवति नवेति सन्देहे। अनारब्धकार्यत्वाविशेषादग्निहोत्रादीनामपि विद्यया विनाशः स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते—अग्निहोत्रादीति। धर्मान्तरेभ्यो विशेषणार्थस्तुशब्दः। अग्निहोत्रादिकं कर्म तु तत्कार्यायैव विद्याकार्यायैव। कुतः? तद्दर्शनात्। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" (बृ० ४।४।२२।) इत्येवमादिश्रुतिष्वग्निहोत्रादीनां विद्यासाधनत्वदर्शनात्। अतो विद्योत्पत्त्यर्थमहरहरप्यग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठेयमन्यथा वर्णाश्रमधर्मविलोपे कल्मषमानसस्य विद्योत्पत्तिरेव न स्यादतो विद्यार्थत्वेन तदनुष्ठानमावश्यकम् ॥४।१।१६॥

ननु यद्यग्निहोत्रादिकं विद्योदयैकफलं तदा "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" इति वचनं किंविषयकमित्यपेक्षायामाह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥४।१।१७॥

अतोऽग्निहोत्राद्याश्रमधर्मस्वरूपायाः साधुकृत्याया अन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या। या च विद्याधिगमात्पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोर्बलवत्कर्मावरुद्धफलिका तद्विषयकमेवेदमेकेषां शाखिनां वचनम्। अत्रोभयोर्जैमिनिबादरायणयोः संमतिरिति न दोषः। ॥४।१।१७॥

यदेव विद्ययेति हि ॥४।१।१८॥

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा० १।१।१८) इत्युक्तं ह्युद्गीथविद्यायाः फलं कर्मान्तरप्रतिबन्धाभावरूपम्। तस्मात्प्रतिबद्धफलायाः साधुकृत्याया एव सुहृत्सूपयानमिति।

इत्यग्निहोत्राद्यधिकरणम्।

अथेतरक्षपणाधिकरणम्।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते ॥४।१।१९॥

किं ब्रह्मविद्यया देहपातात्पूर्वं सुखदुःखे अनुभवति, अथवा देहपातादुत्तरमपीति संशये यथा देहपातात्पूर्वं विद्वान् सुखदुःखे अनुभवति तथा देहपातादुत्तरमपीति प्राप्त आह—

अत्राभिधीयते—भोगेन त्वितरे इति। तु शब्दः पूर्वपक्षनिवर्त्तकः। इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे प्रारब्धफलोपभोगेन विनाश्य विद्वान् तत्फलभोगानन्तरमेव ब्रह्म सम्पद्यते 'तस्य तावदेव चिर' मित्यादिश्रुतेः। भोक्तव्ये पुण्यपापे चैकशरीरभोग्यफलके यदि स्यातां तर्हि तच्छरीरान्ते ब्रह्मसम्पद्यते' यदि तु बहुशरीरभोग्यफलके स्यातां

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तदा बहुशरीरान्ते सम्पद्यते परं भोगेनैवारब्धकार्ये पुण्यपापे क्षपयित्वेति नियम इति सर्वमवदातम् ॥४।१।१९॥

इतीतरक्षपणाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे चतुर्थाध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥१॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीते श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ वागधिकरणम् ।

अतिक्रान्ते पादे विद्याधिगमेन भोगेन च पुण्यपापे विनाश्य भोगायतनं देहमपहाय ब्रह्मविद्ब्रह्म सम्पद्यते । तत्र कथं सम्पद्यत इत्यपेक्षायामर्चिरादिमार्गेण परं पदं गत्वेति वक्तुं प्रथममुत्क्रान्ति-प्रकारं चिन्तयति—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥४।२।१॥

इदमाम्नायते—"अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" (छा० ६।८।६) तत्र 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इत्यत्र संशयः । किं वृत्ति-मत्या वाचो मनसि सम्पत्तिरुत वाग्वृत्तेरेवेति । किं युक्तम् ? वाग्वृत्तेरेव सम्पत्तिः । कुतः ? वाचो मनसः कार्यत्वाभावेन तत्र वाक्स्वरूपसम्पत्त्यनुपपत्तेः । तात्पर्यानुपपत्त्या वाक्छब्दस्य वाग्वृत्तौ लक्षणया तस्या एव मनसि सम्पत्तिरुपपद्यत इति प्राप्तेऽभिधीयते—वाङ्मनसीति । वागेव मनसि सम्पद्यते संयुज्य तिष्ठतीत्यर्थः । कुतः ? दर्शनात् । दृश्यते हि स्वापादिषु वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनसः प्रवृत्तिः । वाग्वृत्तिमात्रसम्पत्तावप्येतदुपपद्यत इत्यत आह शब्दाच्चेति । श्रुतौ 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इति वाच एव सम्पत्तिर-भिधीयते न वृत्तिमात्रस्य । न हि तदानीं वृत्तिमात्रसम्पत्तौ स्वरूपेण वागिन्द्रियस्य सद्भावे किमपि प्रमाणमुपलभ्यते । यत्तु वाचो मनसोऽकार्यत्वान्नोपपद्यतेसम्पत्तिरिति तन्न सम्पत्तिरत्र संयोगमात्रं न तु लयो येनोक्तदोषः स्यात् ॥४।२।१॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥४।२।२॥

यत एव मनसो वागुपादानत्वाभावेन मनसि वाग्लयत्वानुप-पत्त्या मनसि वाक्संयोगमात्रं सम्पत्तिरुपपद्यते न तु तल्लयात्मिका

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सम्पत्तिस्तस्माद् "उपशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानै"रिति श्रुतिः सर्वेषामिन्द्रियाणां मनसि संयोगं बोधयन्ती मनसि सर्वेन्द्रियसम्पत्तौ प्रमाणमस्तीतिज्ञेयम् ॥४।२।२॥

इति वागधिकरणम् ।

अथ मनोधिकरणम् ।

एवं 'मनः प्राणे' (बृ० ६।८।६) इत्युत्तरवाक्ये किं सर्वेन्द्रियसम्पत्त्याधारस्य मनसः प्राणे लयो भवति संयोगमात्रं वेति विषये 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (छा० ६।२।४) इत्यत्र मनसोऽन्नविकारत्वश्रवणादन्नस्य च 'ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६) इत्यब्विकारत्वश्रवणात् 'आपोमयः प्राणः' (छा० ६।६।५) इति प्राणस्याप्प्रकृतिकत्वात्तेन 'मनः प्राणे' इति प्राणशब्दस्य प्राणकारणभूतास्वप्सु लक्षणया स्वप्रकारणभूतासु परम्परया मनसः सम्पत्तिर्लय एवेति प्राप्तेऽभिधीयते—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥४।२।३॥

मनस आहंकारिकत्वादाकाशकार्यत्वाच्च प्राणस्याप्सु लक्षणागौरवाच्च "अन्नमयं हि सोम्य मनः" "आपोमयः प्राणः" इति मनःप्राणयोरन्नेनाद्भिश्चाप्यायनमात्रत्वोपपत्त्या तयोरन्तविकारत्वानुपपत्त्या मनसः प्राणे लयत्वानिष्पत्तेः परिशेषात्प्राणे मनःसंयोग एवोपपद्यत इत्याह—तन्मन इति। तत्सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनोपि प्राणे सम्पद्यते न तु मनोवृत्तिरेव। कुतः? उत्तरात्। "मनः प्राण" इत्युत्तरवाक्ये प्राणे मनस एव सम्पत्तेः श्रवणात् ॥४।२।३॥

इतिमनोऽधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथाध्यक्षाधिकरणम् ।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४।२।४॥

'प्राणस्तेजसी' त्युत्तरवाक्ये किंप्राणस्य तेजसि सम्पत्तिरुत जीव इति संदेहे 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेस्तेजस्येवेति प्राप्तेऽभिधीयते—सोऽध्यक्ष इति । स प्राणः, अध्यक्षे "सकारणं करणाधिपाधिपः" इति सर्वकरणाध्यक्षे जीवे सम्पद्यते । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः । "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति" (बृ० ४।३।३८।) इति प्राणस्य जीवोपगमोऽभिधीयते । एवं "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" (बृ० ४।४।२) इति श्रुतिः प्राणस्य जीवेन सहोत्क्रान्तिं श्रावयति । तथा "कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठास्यामि" (प्र० ६।३) इति श्रुतिर्जीवेन सह प्राणस्य प्रतिष्ठामपि बोधयति । तस्माज्जीव एव प्राणस्य संयोगरूपा सम्पत्तिः ॥४।२।४॥

इत्यध्यक्षाधिकरणम् ।

अथ भूताधिकरणम् ।

ननु तर्हि "प्राणस्तेजसी"ति श्रुतेर्विरोधः "सोध्यक्षे" इति सूत्रेणेत्याशङ्क्याह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥४।२।५॥

तच्छ्रुतेः "प्राणस्तेजसी"ति श्रुतेस्तेजःशब्दोपलक्षितेषु तेजःसहितेषूत्तरदेहारम्भकेषु सूक्ष्मात्मना विद्यमानेषु पञ्चभूतेषूपहितत्वेन विद्यमाने जीवे पर्यवसानात् "एवमेवेममात्मानमन्तकाले" "तमुत्क्रामन्तम्" "कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते" इत्यादीनामन्तकाले सर्वेषां प्राणानां जीवसम्पत्तिबोधिकानां तथा मुख्यप्राणस्थित्युत्क्रान्त्योर्जी-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वस्थित्युत्क्रान्त्यधीनत्वबोधिकानां श्रुतीनामनुसाराच्च "सोऽध्यक्षे" इतिसूत्रस्थ प्रवृत्तेर्न "प्राणस्तेजसी"ति श्रुत्या विरोधः ॥४।२।५॥

ननु प्राणस्तेजसीत्येकस्यैव तेजसः श्रवणात् तेजःसहितेषु भूतेष्विति कथमुक्तमित्याशङ्क्याह—

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥४।२।६॥

उत्क्रान्तिसमये जीव एकस्मिंस्तेजस्येव नावतिष्ठते किन्तु सूक्ष्मेषु पञ्चस्वेव भूतेषु । दर्शयतो हि श्रुतिस्मृति इममर्थम् । तथाहि "पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः" इत्यादि-श्रुतिः । "अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः । ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ।" इति स्मृतिश्च । ॥४।२।६॥

इति भूताधिकरणम् ।

(*अथासृत्युपक्रमाधिकरणम् ।*)

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥४॥२॥७॥

किमिदमुत्क्रमणं ब्रह्मविदोऽन्यस्य च समानमाहोस्विद्ब्रह्मविद एवेति संशयेऽन्यस्यैवेति । कुतः ? ब्रह्मविदस्त्वत्रैवामृतत्वश्रवणा-दुत्क्रमणाभावात् । तथा च श्रुतिः "अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (का० २।६।१४) इति प्राप्तेभिधीयते—समाना चाऽसृत्यु-पक्रमादिति । ब्रह्मविदोऽप्यासृत्युपक्रमादुत्क्रान्तिः समानैव । आसृ-त्युपक्रमादित्यस्य प्राङ्नाडीप्रवेशादित्यर्थः । नाडीप्रवेशस्तु ब्रह्मवि-दोऽपि गमने श्रूयत एव—"शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धा-नमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्र-मणे भवन्ति" (का० २।६।१६) इति । बृहदारण्यके च "तेन प्रद्यो-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" (बृ० ४।४।२) इति श्रूयते। तत्र "शतं चैके"ति श्रुत्यभिहितसुषुम्नानाडीद्वारा प्राणप्रयाणस्य प्रकृतश्रुत्यापि मूर्ध्नोवेत्यनुमोदितस्य तस्य ब्रह्मविदभिप्रायकत्वात्। चक्षुरादिभ्यः प्राणगतिस्त्वन्याभिप्रायेति गम्यते। "अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (का० २।६।१४) इत्यस्य का गतिरित्यत आह—अमृतत्वञ्चानुपोष्येति। उष दाहे इत्यस्य रूपम्। चोऽवधारणे। करणकलेवरादिसम्बन्धवेलायामेवोत्तरपूर्वाघयोर्यस्त्यागः स एवामृतपदव्यपदेश्यः। एतच्च तच्छ्रुतिपूर्वार्धेन स्पष्टीक्रियते "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।" इति ॥४।२।७॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥४।२।८॥

अपरित्यक्तदेहसम्बन्धस्यैवामृतत्वमिति। अपीतिर्देशविशेषमाश्रित्य या ब्रह्मप्राप्तिरूपावस्था सा। आतदवस्थं देहसम्बन्धलक्षणः संसारो व्यपदिश्यते "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा० ६।१४।२) "ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ८।१६।१) इत्यादिश्रुतिभिरिति ॥४।२।८॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥४।२।९॥

ब्रह्मविदोऽपि क्रममुक्तौ सूक्ष्मशरीरसम्बन्धोऽस्त्येव। कथमवगम्यते ? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः। अर्चिरादिमार्गेण गमने "तं प्रतिब्रूयात्" (कौ० १।२) इति चन्द्रमसा संवादश्रवणात्। चकाराच्छरीरं विनार्चिरादिमार्गेण गमनानुपपत्तेश्च। तथोपलब्धेः। तथा सूक्ष्मशरीरत्वेनोपलब्धेः ॥४।२।९॥

नोपमर्देनातः ॥४।२।१०॥

अतः "यदा सर्वे प्रमुच्यन्त" इति श्रुतिर्न शरीरसम्बन्धस्योपमर्देनामृतत्वमभिधत्ते ॥४।२।१०॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥४।२।११

सत्येव सूक्ष्मदेह उपलभ्यमान एष ऊष्मास्यैव सूक्ष्मदेहस्यैव धर्मः। मरणानन्तरं स्थूलदेह ऊष्मणोऽनुपलब्धिर्भवति। तत ऊष्मधर्मिणा सूक्ष्मशरीरेण सहैव ब्रह्मविद उत्क्रान्तिं द्योतयतीति। अत आसृत्युपक्रमाद्ब्रह्मविदोऽन्यस्य च समानमुत्क्रमणमिति ॥४।२।११॥

ब्रह्मविद उत्क्रान्तिर्नोपपद्यत इति भूयस्सङ्क्रोद्य समाधत्ते—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥४।२।१२॥

आत्मकामस्य विदुष उत्क्रान्तिर्नोपपद्यते। कुत? "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (बृ० ४।४।६।) इत्यनया ब्रह्मविद उत्क्रान्तेः प्रतिषेधादिति चेन्न। शारीरात्–शरीराध्यक्षाज्जीवात्प्राणानामुत्क्रान्तिरत्र प्रतिषिध्यते। न तु शरीरात्। पूर्वत्र 'अथाकामयमानः' इति ब्रह्मविदो जीवस्यैव श्रुतिरतस्तस्यैव 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती' त्यनेन परामर्शः। एवं तस्येत्यत्र तच्छब्देन विद्वज्जीवस्तदुत्तरषष्ठ्या च तस्यैव जीवस्य सम्बन्धोऽभिधीयते। उत्क्रमणस्यापादानताऽपि शारीर एव सान्निध्यात् न तु शरीर इति। अस्मिन्नर्थे न विवादः। स्पष्टो ह्येकेषाम्–"योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति" (बृ० ४।४।६।) इति माध्यन्दिनाः शारीरमेवापादानमामनन्ति। अयम्भावः। ब्रह्मविदः शरीरत्यागसमय एव ब्रह्मसम्पत्तिः "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इत्यभिहिता–तदा प्राणवियोगोऽपि सम्भवति। सञ्जातप्राणवियोगस्य त्वर्चिरादिमार्गेण गमनं ब्रह्मप्राप्तिश्च नोपपद्येते। अतो ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तेः प्राङ्न प्राणानामुत्क्रान्तिरिति ॥४।२।१२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्मर्यते च ॥४।२।१३॥

स्मर्यते च ब्रह्मविदोप्यर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मप्राप्तिः "अग्निर्ज्यो-तिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः" इति ॥४।२।१३॥

इत्यासृत्युपक्रमाधिकरणम्।

अथ परसम्पत्त्यधिकरणम्।

तानि परे तथा ह्याह ॥४।२।१४॥

पूर्वत्र करणप्राणसहितस्य जीवस्य समुत्क्रान्तिसमये तेजआदि-भूतसूक्ष्मेषु सम्पत्तिरभिहिता। तानि पुनर्जीवसहितानि भूतसू-क्ष्माणि कुत्र गच्छन्तीति संशयः। तत्र यथाकर्म यथाविद्यं फलोप-भोगार्थमेवोपयान्तीति प्राप्तेऽभिधीयते–तानि पर इति। तानि सजीवानि भूतसूक्ष्माणि परस्मिन्नात्मन्येव सम्पद्यन्ते। तथा ह्याहेति। उक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयति 'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इति। सुषुप्तौ सति सम्पन्नस्य यथा दुःखाभावः सुखानुभवश्च 'सुखमहमस्वाप्समि'ति। तथात्रापि परदेवतासम्पन्नस्य दुःखाभावः सुखानुभवश्चानुमीयते ॥४।२।१४॥

इति परसम्पत्त्यधिकरणम्।

अथाविभागाधिकरणम्।

अविभागो वचनात् ॥४।२।१५॥

किमियं परमात्मनि सम्पत्तिः 'पृथिव्यप्सु लीयत' इति पृथिव्या-दीनां जलादिकारणरूपापत्तिवत्सर्वकारणपरमात्मापत्तिरूपाहोस्वित्

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इति वदविभागस्वरूपेति विषये, सर्वकारण-स्वरूपपरमात्मनि कारणरूपैवेति प्राप्तेऽभिधीयते अविभाग इति। विभागप्रतियोगिसंयोगोऽविभाग इति परमात्मना विलक्षणसंयोग-रूपेयं सम्पत्तिः। कुतः ? वचनात्। 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इत्यतः संयोगार्थकस्य सम्पद्यतेस्सर्वत्रान्वयात्। 'तेजः परस्यां देवताया' मित्यत्राप्यन्वयः ॥४।२।१५॥

इत्यविभागाधिकरणम्।

अथ तदोकोऽधिकरणम्।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्या-त्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥४।२।१६॥

"समाना चासृत्युपक्रमा"दित्यनेन विदुषामविदुषां चोत्क्रान्तिः समानोक्ता। आसृत्युपक्रमादुपरि नाडीप्रवेशमारभ्य विदुष उत्क्रान्ते-र्विशेषोनेन सूत्रेणोच्यते तदिति। तस्य भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तस्योच्चि-क्रमिषोर्जीवस्यौक आयतनं हृदयं तस्य यदग्रं हृदयनाडीसंयोग-देशस्तस्य ज्वलनं प्रकाशनं "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते" इति श्रुत्युक्तं प्रद्योताख्यमादौ भवति। तेन प्रद्योतेन प्रकाशितनाडी-द्वारो विद्वानविद्वांश्च भवतीति। इत्थमेव वदति "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रम्" इत्येषा श्रुतिः। तत्र "चक्षुष्टो वान्यप्रदेशेभ्य" इत्य-विदुषो हृदयाग्रप्रद्योतनज्ञापकम्। मूर्ध्नो वेति विदुषो हृदयाग्रप्रद्योत-नस्य ज्ञापकम्। तत्र संशयः किं विदुषां च सर्वेषामनियमेन केन-चिन्नाडीद्वारेणोत्क्रान्तिरुतास्ति कश्चिद्विशेष इति। तत्र चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्य इत्यनियमवचनादनियमेनेति

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राप्त उच्यते—विद्यासामर्थ्येत्यारभ्य शताधिकयेत्यन्तम्। विद्वान् हि "ध्यानाच्च" "आत्मेति तूपगच्छन्ति" इत्युक्तप्रकारेण स्वात्मतया परमात्मैकचिन्तनलक्षणाया विद्यायाः सामर्थ्यात्, तस्या विद्याया या गतिरर्चिरादिमार्गदेवयानशब्दाभ्यां शब्दिता तस्या अनुस्मृतेरनुध्यानस्य योगाच्च प्रसन्नेन हार्दपुरुषेणानुगृहीतः शताधिकायां नाड्यां प्रवेशितो विद्वाञ्छतनाडीभ्योधिकया मूर्धन्ययैव निष्क्रामति। अविद्वांस्त्वितराभिर्नाडीभिः। तथैव श्रूयते—शतं चैका हृदयस्य नाड्य इत्यादि। तस्माद्धृदयसम्बन्धिन्या भारूपया मूर्द्धानमभिनिःसृतया सूर्यरश्मिभिः सृप्तया व्याप्तया ब्रह्मनाड्यैव विद्वानुत्क्रामतीति ॥४।२।१६॥

इति तदोकोऽधिकरणम्।

अथ रश्म्यनुसाराधिकरणम्।

रश्म्यनुसारी ॥४।२।१७॥

विद्वान्मूर्धन्यया नाड्या निर्गत्य रश्म्यनुसारी गच्छत्यन्यथा वेति संशये "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती"ति श्रुतिबलेन शरीरान्मूर्धन्यया नाड्या निर्गतस्य शरीरान्निस्सरणकालेमृतत्वश्रवणान्न रश्म्यनुसारित्वमुपपद्यत इति प्राप्त आह—रश्म्यनुसारीति। "तयोर्ध्व मायन्" इति श्रुतेरमृतत्वं पुनर्जन्ममरणाभावत्वं प्राप्नोतीत्यर्थकत्वाद्विद्वान् मूर्धन्या शरीरान्निष्क्रम्य रश्म्यनुसरी गच्छति रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रम्यादित्यं प्राप्य तदूर्ध्वं सनातनं परब्रह्म गच्छतीति ॥४।२।१७॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥४।२।१८॥

नन्वहनि हृदयनाडीसूर्यरश्मिसम्बन्धस्य सत्त्वादहन्येव मृतो रश्म्यनुसारी सूर्यम्प्राप्योर्ध्वं गच्छति, रात्रौ तु तत्सम्बन्धस्यासत्त्वान्न

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रश्म्यनुसारित्वमुपपद्यते । कुतस्तरां तदूर्ध्वगमनमिति चेन्न । नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् रात्रावपि रश्म्यनुसारित्वेनादित्यं प्राप्य तद्द्वारा ब्रह्मप्राप्त्युपपत्तेः । दर्शयति च नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' (छा० ।८।६।२।) इति । ननु रात्रौ रश्मय एव न भवन्ति कुतस्तदनुसारेण गमनमिति चेन्न, निदाघादौ रात्रावप्यूष्मोपलम्भाद्रश्मिसद्भावस्तदानीमप्यस्त्येव । तस्माद्रात्रावपि मृतोऽब्रह्मविद्रश्म्यनुसारेणादित्यमुपसङ्गम्य ब्रह्म प्राप्नोतीति ॥४।२।१८॥

इति रश्म्यनुसाराधिकरणम् ।

अथ दक्षिणायनाधिकरणम् ।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥४।२।१९॥

यतो नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादहनि रात्रौ वा मृतो विद्वान् रश्म्यनुसारी सन्नादित्यद्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा ब्रह्म प्राप्नोत्यतः सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्धेतोश्चकारादक्षिणायनेऽपि देह औष्ण्यस्यदर्शनात्तत्रापि नाडीरश्मिसम्बन्धस्यानुमानादक्षिणायनेऽपि मृतो विद्वान् सद्यो रश्म्यनुसार्यादित्यद्वारा ब्रह्मोपैतीति ॥४।२।१९॥

ननु स्मृतिषु 'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ' (गी० ८।२३।) 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' (गी० ८।२४।) इत्यादिना कथमुत्तरायणकालस्यैवानावृत्तौ हेतुताभिहितेत्यत्राह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते ॥४।२।२०॥

अथ "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षम्" (छा० ५।१०।१।) इति क्रमेणार्चिरहःशुक्लपक्षादिप्राप्तेः श्रवणात्। नह्येकस्य एतद्योगपद्येन सम्भवत्यतोऽग्न्यादेः कालपरत्वानुपपत्तेः कालशब्दस्य कालाभिमानिन्यामातिवाहिकदेवतायां लक्षणाकरणात्। 'सन्दिग्धन्तु वाक्यशेषा' दिति न्यायेनोपक्रमे संदिग्धार्थकस्य कालशब्दस्य 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते' 'नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन' (गी० ८) इत्युपसंहारश्रुतेः "सृती" पदानुसारेण नेतव्यत्वात्। एते शुक्लकृष्णे गती स्मार्ते स्मृतिविषयभूते चिन्तितव्ये योगाङ्गत्वेन प्रतिदिनं स्मरणाय योगिनः प्रतिस्मर्येते श्रीगीताचार्येण 'नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन' (गी० ८) इति तस्मान्मुमूर्षून्प्रति नात्रकालनियमनमिति ॥४।२।२०॥

इति दक्षिणायनाधिकरणम्।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकविन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥२॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथार्चिराद्यधिकरणम् ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥४।३।१॥

एवमतीतेन ग्रन्थेन ब्रह्मविद उत्क्रान्तिरभिहिता । इदानीमा-ब्रह्मप्राप्तेस्तस्याध्वा विचार्यते । तत्रानेकधा श्रुतिषु सोऽध्वा समा-म्नायते । यथा छान्दोग्ये—"तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः" (छा० ५।१०।१) इत्यर्चिरादिक एकः । पुनस्तत्रैवाष्टमे प्रपाठके 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" (जा०८।६।५) इति भिन्न एव । 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति पुनरन्यः । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' (मु० १।२।११) इति चापरः । तत्रायं विषयः समुदेति । किमेभिर्नाना श्रुतिषु प्रभिन्नरूपेण प्रतिपादितैरध्वभिरुपासकोऽनियमेन गच्छत्याहोस्विद-नेकविशेषणविशिष्टेन तत्र तत्र प्रतिपादितेनैकेनैवार्चिरादिनाध्व-नेति । तत्र प्रकरणभेदात्प्रकारभेदाच्च भिन्ना एवैते सर्वेऽप्यध्वान इति सर्वैरेवानियमेनोपासनाद्यनुष्ठानभेदादब्रह्मविद्गच्छति । तथैव प्रतिपादितत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते—अर्चिरादिनेति । अनेकविशे-षणविशिष्टोऽर्चिरादिरेक एवाध्वा सर्वत्र प्रतिपाद्यते । अतः सर्वे हि ब्रह्मविदोऽर्चिरादिनाऽध्वनैव गच्छन्ति । कुतः ? तत्प्रथितेः । तस्यैव बहुश्रुतिषु प्रसिद्धेः । न च प्रकरणभेदान्मार्गभेदः । सर्वासां मार्गपराणां श्रुतीनामैक्यात् । प्राप्तव्यस्य ब्रह्मण एकत्वाच्च । अन्यत्र श्रुतानां पदानामन्यत्रोपसंहारेण सर्वासामेकवाक्यतोपपत्त्यैकस्यै-वार्चिरादिमार्गस्य प्रतिपादकत्वनिष्पत्तेः । तस्माद्ब्रह्मप्राप्तेरेक एवा-र्चिरादिलक्षणोऽध्वेति सिद्धम् ॥४।३।१॥

इत्यर्चिराद्यधिकरणम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ वाय्वधिकरणम् ।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥४।३।२॥

इदानीमर्चिरादिमार्गस्य विभिन्नासु श्रुतिषु क्रमभेद उपलभ्यते। तस्य व्यवस्था क्रियते। तत्र छान्दोग्ये "मासेभ्य संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्" (छा० ४।१५।५) इति श्रूयते। बृहदारण्यके "मासेभ्य देवलोकं देवलोकादादित्यम्" (बृ० ६।२।१५) इति पञ्चमाध्याये "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति" (बृ० ५।१०।१) एवं श्रूयते। तत्र संशयः। किं वायुशब्देन देवलोकशब्देन चैकार्थस्यैव प्रतिपाद्यत्वादुचितक्रमेण ब्रह्मविद् गच्छत्याहोस्वित् संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकं गत्वा वायुलोकमिति। किम्प्राप्तम् ? अविशेषाद्यथेष्टम्। इति प्राप्तेऽभिधीयते। वायुमब्दादिति। संवत्सरादूर्ध्वं वायुमभिगच्छतीति। कुतः ? अविशेषविशेषाभ्याम्। देवलोकशब्दो हि देवानां लोकमित्यविशेषेण व्याख्यानेन वायुमेवाह। तथान्यत्र 'स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति विशेषेण रूपेण वायुमाचष्टे। तस्माद्देवलोकवायुशब्दाभ्यामविशेषविशेषाभ्यां वायुरेवाभिधीयते। अतः संवत्सरात्परं वायुमेवाभिगच्छतीति ॥४।३।२॥

इति वाय्वधिकरणम् ।

अथ वरुणाधिकरणम ।

तडितोधि वरुणः सम्बन्धात् ॥४।३।३॥

"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" (कौषी० १।३) इति श्रूयते। तत्र संशयः। किं वरुणादीनां

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पाठमनुसृत्य वायोः परं निवेश आहोस्विद्विद्युत ऊर्ध्वमेवेति संशये । कुतः ? यथाश्रुतं वायोरूर्ध्वं वरुणादीनां निवेश इति प्राप्तेऽभिधीयते—तडितोऽधिवरुण इति । तडित ऊर्ध्वमेव वरुणो निवेशनीयः । कुतः ? सम्बन्धात् । मेघाधिपतिना वरुणेन मेघोदरवर्तिन्या विद्युतः सम्बन्धस्य लोकवेदयोः प्रसिद्धत्वात् । पाठावैयर्थ्याय क्वचिदपि निवेशनीये बलीयांसमर्थक्रममनुसृत्य विद्युतोऽधिवरुणो निवेशनीयः । तत ऊर्ध्वमिन्द्रादीनामन्यत्र श्रुतानां निवेशः । 'आगन्तूनामन्ते निवेश' इति न्यायमनुसृत्येति । ततश्चायं क्रमः सम्पन्नः नाडीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिषमर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद्वायुं वायोरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं वैद्युतादारुणं वारुणादैन्द्रमैन्द्राद्धातृलोकं धातृलोकाद्विरजां तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारमिति ॥४।३।३॥

इति वरुणाधिकरणम् ।

अथातिवाहिकाधिकरणम् ।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४।३।४॥

किमेतेऽर्चिरादयोऽध्वनश्चिह्नभूता अथवा भोगस्थानानि आहोस्विद्ब्रह्मप्रेप्सूनामातिवाहिका इति संशयेऽध्वचिह्नभूताश्चैते । कुतः ? लौकिकोपदेशवन्निर्दिष्टत्वात् । अथवा भोगस्थानान्येव । कुतः ? अग्निलोकादिशब्दानां दर्शनात् । इति प्राप्तेऽभिधीयते—आतिवाहिका इति । ब्रह्मविदामतिवहनकर्तारः देवताविशेषाश्चैतेऽर्चिरादयः । कुतः ? तल्लिङ्गात् । अतिवहनात्मिकात् गच्छतां जनानां गमयितृत्वमेवातिवाहिकत्वम् । तच्च 'स एनान्ब्रह्म गमयती'त्युपसंहारवाक्ये

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्पष्टमेव दृश्यते। एतदनुरोधेन पूर्वतनानामप्यातिवाहिकत्वं सिद्धम्। अर्चिरादिशब्दानाञ्चार्चिराद्यभिमानि देवतापरत्वमिति प्रागेवाभिहितम् ॥४।३।४॥

ननु वैद्युतस्यैव पुरुषस्य 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इति श्रुतेर्ब्रह्मप्रापकत्वदर्शनात् कथमन्येषामुपरितनानामातिवाहिकत्वमित्यत्राह—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥४।३।५॥

वैद्युतेन विद्युल्लोकादागतेनामानवेनैवातिवाहिकेन विद्युत उपरिष्टाद् ब्रह्मविदामाब्रह्मप्राप्तेर्नयनम्। कुतः ? तच्छ्रुतेः। 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इति तस्यैवा ब्रह्मप्राप्तेर्गमयितृत्वश्रुतेः। तस्मात्पूर्वेषामर्चिरादीनामप्यतिवाहिकत्वसामान्येन गन्तृगमयितृत्वमुपपद्यते। ॥४।३।५॥

इत्यातिवाहिकाधिकरणम्।

अथ कार्याधिकरणम्।

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥४।३।६॥

ब्रह्मविदामर्चिरादिमार्गेण गमनमर्चिरादिमार्गस्य स्वरूपञ्च प्रदर्शितम्। इदानीमेतद्विचार्यते। किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हिरण्यगर्भं तदुपासीनान् गमयति उत परं ब्रह्मैव ब्रह्मोपासीनान्। आहोस्वित्प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकतयोपासीनान् परं ब्रह्मेति सन्देहे कार्यमुपासीनानेव कार्यं हिरण्यगर्भं गमयतीति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः ? अस्य परिच्छिन्नहिरण्यगर्भोपासकस्य देशविशेषस्थस्य हिरण्यगर्भस्य प्राप्त्यर्थतया गत्युपपत्तेः। सर्वगतस्य सर्वात्मभूतस्य परब्रह्मणः प्राप्तये गत्यनुपपत्तेरिति भावः ॥४।३।६॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विशेषितत्वाच्च ॥४।३।७॥

"पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति" (बृ० ६।२।१५) इति श्रुतिस्थबहुवचनान्तेन लोकशब्देन लोकविशेषान्तर्वर्तितया परिच्छिन्नं हिरण्यगर्भमेव गमयन्त्यर्चिरादयः। "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" इति कार्यब्रह्मणः सभाया वेश्मनश्च प्राप्त्यनुसन्धानाच्च तत्रैव गतिरुपपद्यते ॥४।३।७॥

ननु नपुंसकब्रह्मशब्दस्य परस्मिन् ब्रह्मणि मुख्यत्वात्कथं ब्रह्म गमयतीति व्यपदेशः कार्ये ब्रह्मण्युपपद्यत इत्याह—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥४।३।८॥

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" (श्वे० ६।१८) "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजन्यत्वेन ब्रह्मसामीप्यात् ब्रह्मशब्देन व्यपदेश उपपद्यते ॥४।३।८॥

ननु हिरण्यगर्भप्राप्तस्य 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'-(गी. ८।१६) इति शास्त्रेण पुनरावृत्तिरभिधीयत इति कथमर्चिरादिना गतस्य 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (का० २।६।१६) इत्यमृतत्ववचनमुपपद्यतामित्यत्राह—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥४।३।९॥

कार्यस्य ब्रह्मलोकस्यात्यये नाशे सति तदध्यक्षेण तल्लोकस्वामिना हिरण्यगर्भेणाधिकारिणा सह तत्रैवाधीतविद्योऽयं पुरुषः। अतो हिरण्यगर्भलोकात्परं ब्रह्म प्राप्नोति। कुतः? अभिधानात्। 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' (मु० ३।२।६) इति श्रौताभिधानादिति ॥४।३।९॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्मृतेश्च ॥४।३।१०॥

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्" (कू० पु० १ ख० १२।२६७) इति स्मृतेश्च कार्यब्रह्मोपासकानर्चिरादिगणो नयतीत्यवगम्यते ॥४।३।१०॥

एवं बादरिमतमुक्त्वा जैमिनिमतमभिधत्ते—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥४।३।११॥

'स एनान् ब्रह्म गमयति' इत्यादौ ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात्परमेव ब्रह्म गमयत्यर्चिरादिको गण इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥४।३।११॥

दर्शनाच्च ॥४।३।१२॥

"स एतं देवयानं पन्थानमापद्ये" त्यादिकौषीतकिश्रुतिरर्चिरादिमार्गेण गन्तव्यस्य ब्रह्मलोकस्य प्रजापतिलोकादुपरितनत्वं दर्शयति। ततः पृथक्त्वं चेति। एतदनुरोधेन ब्रह्मलोकानित्यत्र कर्मधारय आश्रयणीयः। बहुवचनं तु श्रेष्ठत्वज्ञापनार्थम् ॥४।३।१२॥

न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ॥४।३।१३॥

यश्चार्चिरादिना गतस्य कार्यब्रह्मणि प्रत्यभिसन्धिः संकल्पः 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' इत्यनया श्रुत्यावगम्यते, सोऽपि परस्मिन्नेव ब्रह्मणि ज्ञेयः। न च कार्ये हिरण्यगर्भे। कुतश्चैतत्। तस्याभिसन्धातुः 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८।१४।१) इति वाक्यशेषे सर्वात्मभावाभिसन्धानात्। अतोऽर्चिरादिको गणः परमेव ब्रह्मोपासीनं नयतीति जैमिनिमुनेर्मतम् ॥४।३।१३॥

तदेवं जैमिनेर्मतम्प्रदर्श्येदानीं स्वमतेन सिद्धान्तमाह भगवान् बादरायणः—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ॥४।३।१४॥

किमर्चिरादिकोगणो बादर्युक्तप्रकारेण ब्रह्मविदः कार्यं ब्रह्म नयत्याहोस्विज्जैमिन्युक्तप्रकारेणेति संशये परस्परविरोधित्वाद्वयोरपि वचनमप्रमाणमिति प्राप्ते नानयोर्वचनं सर्वथाप्रमाणम् । किन्तु दोषग्रस्तमेव । तदाह—अप्रतीकेति । उभयथा च दोषाद् बादरिजैमिन्युक्तप्रकारेण दोषापत्तेः। बादरिपक्षे "अस्माच्छरीरात्" "स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" इत्येवमादिश्रुतीनां स्वार्थबाधेन तदर्थबाधरूपो दोषः। जैमिनिपक्षे च "तद्य इत्थं विदुर्येचेमे" इति श्रुतेरर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिश्रुतेश्च स्वार्थबाधरूपो दोषः। तस्मात् सर्वासां श्रुतीनां स्वार्थे स्वतन्त्रप्रमाणत्वाद्यथाश्रुतमप्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् सर्वानपि तत्तदुपासकांस्तत्तदुपास्यं प्रति नयत्यर्चिरादिको गण इति भगवान् बादरायणो मन्यते। सर्वेप्युपासकाः स्वोपास्यमेव प्राप्नुवन्तीत्यत्र हेतुमाह—तत्क्रतुश्चेति। "यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इत्यादिश्रुतेः, अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरमित्यादिस्मृतेश्च परब्रह्मोपासक परं ब्रह्म प्राप्नोति, हिरण्यगर्भोपासकश्च तं प्राप्नोति । प्रकृतिवियुक्तात्मचिन्तकस्तादृशमात्मान प्राप्नोत्येवं तत्तदुपासकांस्तं तमुपास्यं नयत्यर्चिरादिकोतिवाहिको गण इति ॥४।३।१४॥

विशेषञ्च दर्शयति ॥४।३।१५॥

नामादिप्राणपर्यन्तप्रतीकोपासकानां फलविशेषमेव श्रुतिर्दर्शयति "यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" (छा० ७।१।५)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इति । अतः परब्रह्मोपासकान् प्रत्यगात्मानञ्च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनांश्चार्चिरादिको गणो नयतीति सिद्धम् ॥४।३।१५॥

इति कार्याधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे चतुर्थाध्यायस्य
तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीतस्य शारीरकमीमांसायाः श्रीजानकी-कृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

अथ सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥४।४।१॥

एवं ब्रह्मविदोऽर्चिरादिना पुनरावृत्तिवर्जितं गमनं तेन च ब्रह्मप्राप्तिमभिधाय मुक्तानामैश्वर्यनिर्णय इदानीं क्रियते । तत्रेदं श्रूयते—"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८।१२।२।) अत्र संशयः । किं परज्योतिरुपसम्पन्नस्य कर्मसाध्यदेवादिरूपाभिनिष्पत्तिवत् ब्रह्मविद्यासाध्येन केनापि रूपेण सम्बन्धोऽनया श्रुत्याभिधीयते आहोस्वित्स्वाभाविकस्य स्वरूपस्यैवाविर्भाव इति । तत्र साधनानां साध्यनिष्पादकत्वदर्शनात् कर्मसाध्यदेवादिरूपसम्बन्धवद्विद्यासाध्येन रूपेण सम्बन्ध एवेति प्राप्तेऽभिधीयते—सम्पद्याविर्भाव इति । कर्मफलस्यानित्यत्वेन तदृष्टान्तस्यात्रानवकाशात् । अत्र तूपासनरूपविद्यया कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्यात्मस्वरूपस्य तिरोधाननिवृत्या स्वाभाविकरूपस्याविर्भावो भवत्यतोऽयं प्रत्यगात्माऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्याविद्यातिरोधानविरहितस्वाभाविकस्वरूपाविर्भावरूपं विद्याफलं प्राप्नोति नत्वपूर्वाकारोत्पत्तिरूपम् । कुतः ? स्वेन शब्दात् । 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति रूपविशेषणेन स्वेनेति कथनेनागन्तुकरूपपरिग्रहस्य व्यावर्तनाद् ॥४।४।१॥

ननु स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात्कः पुनः पूर्वावस्थातो विशेषो येन 'उपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति वचनं सार्थकं स्यादित्यत्राह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥४।४।२॥

'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यनेन कर्मसम्बन्धतत्कृतदेहादिसर्वानर्थविनिर्मुक्तः स्वाभाविकेन रूपेण समवस्थित उच्यते। पूर्वन्तु अवस्थात्रयकलुषितः संसारी चेति विशेषः कर्मरूपाविद्याकृतं यदात्मस्वरूपस्य तिरोधानं तन्निवृत्तिपूर्वकं यः स्वाभाविकस्वरूपस्याविर्भावः स 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति वाक्यविषयः। कुतश्चैतद्विज्ञायते तत्राह—प्रतिज्ञानात्। "य आत्मापहतपाप्मा विजरः" (छा० ८।७।१।) इति प्रकृत्य 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्यनेनाविद्यासम्बन्धकृतजरामृत्युशोकादिसकलदोषविनिर्मुक्तस्यात्मनोऽन्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वञ्चाभिधाय यस्तादृशमात्मानं विजानाति "स सर्वांश्चलोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्" (छा० ८।७।१।) इति तादृशात्मस्वरूपविदः सर्वलोकसर्वकामप्राप्तेः प्रतिज्ञानात्। तस्मादत्र परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिः कर्मसम्बन्धनिर्मुक्तिरूपा मुक्तिरेवाभिधीयते। स्वाभाविकस्वरूपाविर्भावः स एवास्य जीवात्मन इति ॥४।४।२॥

ननु यस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुक्ता तस्य तत्स्वरूपं किंशब्दवाच्यं किंलक्षणञ्चेत्यपेक्षायामाह—

आत्मा प्रकरणात् ॥४।४।३॥

अयमात्मा स्वरूपेणापहतपाप्मत्वादिगुणक एव। कुतः ? प्रकरणात्। "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः" (छा.८।७।१) इति प्रकरणादवगम्यते। अयमाशयः। कर्मसंज्ञयाऽविद्यया तिरोहितस्वरूपः संसारीत्युच्यते। स एव ब्रह्मविद्ययास्माच्छरीरात्समुत्थायार्चिरादिना परज्योतिरुपसम्पद्याविद्यातिरोधाननिवृत्त्याविर्भूतस्वरूपो मुक्त इत्युच्यते। अस्य चात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वान्ता ये गुणा ये च ज्ञानानन्दादयो गुणास्ते संसारदशायां

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तिरोहिता आसन्। ततस्त एव गुणा विद्यया विनष्टे कर्मबन्धे परज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भवन्ति नोत्पद्यन्ते।

तथा चोक्तं भगवता शौनकेन—

यथा ह्येयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः।
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते॥ वि० ध० १०४।५७

॥४।४।३॥

इति सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्।

अथाविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम्।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४।४।४॥

किमयं परंज्योतिरुपसम्पद्य प्रक्षीणकर्मबन्धः प्रत्यगात्मा ब्रह्मविभागेन तिष्ठत्याहोस्विदविभागेनेति संशये 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।' (श्वे० १।६) इति स्वस्मात्पृथङ्मत्वा सेवितात्परमात्मनः पृथक्त्वेन जीवस्थितेःसत्त्वात् ब्रह्मविभागेनावतिष्ठत इति प्राप्तेभिधीयते—अविभागेनेति। 'अजो ह्येकी जुषमाणोऽनुशेते' (श्वे०।४।५) इति जीवस्याजत्वेन नित्यत्वात्। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः' (बृ० ३।७।२२) इत्याद्यासु श्रुतिष्वात्मपरमात्मनोर्व्याप्यव्यापकत्वनियम्यनियन्तृत्वश्रवणाद्व्याप्यनियम्यस्वरूपस्थितिप्रवृत्योस्तद्व्यापकनियन्त्रधीनत्वोपपत्तेः। व्याप्यस्य व्यापकात्पृथक्सिद्धेश्च व्याप्यव्यापकयोरविभागेन स्थित्युपपत्तेः। तस्माद् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति व्यपदेशादविभागेनैव तिष्ठतीति॥४।४।४॥

इत्यविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथ ब्राह्माधिकरणम् ।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥४।४।५॥

पूर्वं परं ज्योतिरुपसम्पद्य निवृत्ताविद्यातिरोधानस्यात्मनः स्वरूपाविर्भावो भवतीत्यभिहितम् । तत्र येन स्वरूपेणाविर्भूय तिष्ठति तत्स्वरूपं मतभेदेन विचार्यते । किमयं जीवोऽपहतपाप्मत्वादिनाविर्भूय तिष्ठति, उत चैतन्यस्वरूपेणाहोस्विदविरोधादुभयस्वरूपेणेति संशये जैमिनिराचार्यस्तु ब्राह्मेणापहतपाप्मत्वादिना स्वरूपेणेति मन्यते । कुतः ? उपन्यासादिभ्यः । दहरवाक्यावगतापहतपाप्मत्वादयो हि ब्रह्मगुणाः प्रजापतिवाक्येऽप्यात्मनो गुणतया 'य आत्मापहतपाप्मे'त्यारभ्य 'सत्यसंकल्पः' इत्यन्तेन वाक्येनोपन्यस्यन्त इति । तस्मात्प्रत्यगात्मनः स्वरूपतो गुणतश्चापहतपाप्मत्वादिकमेवोपपद्यते न विज्ञानमात्रस्वरूपत्वमिति जैमिनेर्मतम् ॥४।४।५॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥४।४।६॥

"एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (बृ० ४।५।१३) इत्याद्यनेकश्रुतिभ्यः प्रत्यगात्मनस्तदात्मकत्वात्प्रज्ञानघनात्मकत्वाच्चैतन्यमात्रस्वरूपत्वात्; चिति तन्मात्रेण रूपेणायमवतिष्ठत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥४।४।६॥

एवं मतद्वयम्प्रदर्श्य बादरायणो भगवान् स्वमतं सिद्धान्तयति–

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥४।४।७॥

एवमपि–आत्मनो विज्ञानमात्रस्वरूपत्वाङ्गीकारेऽपि "उपन्यासात्पूर्वभावात्" अपहतपाप्मत्वादीनां प्रकरणावगतानां गुणानामविरोधं बादरायणो भगवान् मन्यते । कुतो विज्ञायते । उपन्यासात्पूर्वभावात् । 'अपहत पाप्मे' त्यादिश्रौतवचनोपन्यासात्प्रमाणात् । पूर्वेषामपहतपाप्मत्वादिगुणानामपि भावाद्विद्यमानत्वात् । चेतन-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वरूपविरोधिपाप्मत्वादिदुष्टगुणनिषेधेनापहतपाप्मत्वादीनां चेतनस्वरूपप्रकाशकानां गुणानामविरोधादिति भावः। तदेवमपहतपाप्मत्वादीनां स्वरूपधर्मतया नाविद्यापरिकल्पितत्वम्। यथा च रसनेन्द्रियेणावगतस्य कृत्स्नस्य सैन्धवघनस्य रसमयत्वेन चक्षुराद्यवगततद्रूपकाठिन्यादिभिर्न विरोधः, तथैव 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इति वाक्यावगतेनात्मनो विज्ञानघनस्वरूपेण 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादिवाक्यावगतापहतपाप्मत्वादिधर्माणामविरोध इति ॥४।४।७॥

इति ब्राह्माधिकरणम्।

अथ संकल्पाधिकरणम्।

संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ॥४।४।८॥

एवं ब्रह्मोपसम्पत्त्यनन्तरं मुक्तात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वान्तगुणकत्वमाविर्भवतीत्यभिहितम्। इदानीं स एव मुक्तात्मा सांकल्पिकान्विषयाननुभवतीति छान्दोग्येऽभिधीयते। "स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" (छा० ८।१२।३) इत्यादिना। अत्रायं संशयः। किं मुक्तात्मप्रयत्नान्तरजन्येयं स्त्र्यादीनामुपस्थितिराहोस्वित्परमात्मन इव संकल्पादेवेति। तत्र लोके कार्यमात्रस्य तत्तत्पुरुषप्रयत्नजन्यत्वदर्शनादस्यामपि मुक्तात्मनः प्रयत्नान्तरसाध्यत्वमेव स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते—संकल्पादेवेति। संकल्पादेवास्य सर्वकामावाप्तिः। कुतः? तच्छ्रुतेः। "स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा० ८।२।१) इति संकल्पादेव पित्रादिसमुत्थितिः श्रूयते। एवकारः साधनान्तरनिरपेक्षतां द्योतयति। संकल्पमात्रादेव सर्वकामावाप्तिरिति निर्गलितोर्थः ॥४।४।८॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अत एव चानन्याधिपतिः ॥४।४।९॥

अतः सत्यसंकल्पादेवानन्याधिपतिः—नास्त्यन्यः पुरुषः कर्मादिर्वा नियामकः संकल्परोधको यस्य तादृशो भवति। इदन्तु युक्तम्। ब्रह्मोपासनयैवास्य सत्यसंकल्पत्वादिसिद्धिरिति न ब्रह्माधिपत्यमत्र वार्यते किन्तु तदतिरिक्तस्य कस्यचिदप्याधिपत्यं नास्तीत्यभिधीयते। अत एव परब्रह्मप्रसादेन लब्धसत्यसंकल्पत्वात् तस्यानन्याधिपतित्वसिद्धा स्वराट्त्वनिष्पत्तेः 'स स्वराड् भवति' (छा० ७।२५।२) इत्यभिहितम् ॥४।४।९॥

इति संकल्पाधिकरणम्।

अथाभावाधिकरणम्।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥४।४।१०॥

इदानीं मुक्तात्मनः संकल्पसत्वात्तस्य शरीरेन्द्रियादिविषये विचार्यते—किं मुक्तात्मनः शरीरेन्द्रियाणि सन्ति नवेति संशये शरीरेन्द्रियाणामभावं बादरिराचार्यो मन्यते। कुतश्चैवम्? आह ह्येवम्। 'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।' (छा० ८।१२।१) इति मुक्तस्य शरीराभावमभिधत्ते। संकल्पस्य मनोऽधीनत्वान्मनोऽतिरिक्तानामिन्द्रियाणामभाव इत्यपि मतम्। अत एव "मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके" (छा० ८।१२।५।६।) इति श्रुतिः संगच्छते ॥४।४।१०॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥४।४।११॥

जैमिनिराचार्यो मुक्तस्य शरीरेन्द्रियाणां भावं मन्यते। कुतः? विकल्पामननात् 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा'

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(छा० ७।२६।२) इति विविधभावस्य कथनात् शरीरस्य भावोस्तीत्यवगम्यते। 'अशरीरं वाव सन्त'मिति श्रुतिस्तु कर्मादिनिमित्तकशरीराभावमभिधत्त इति ॥४।४।११॥

एवं मतद्वयम्प्रदर्श्य स्वकीयं सिद्धान्तमाविष्करोति भगवान् बादरायणः—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥४।४।१२॥

अत एव संकल्पादेवोभयविधं शरीरेन्द्रियादिसहितं तद्रहितञ्च मुक्तं जीवं मन्यते भगवान् बादरायणः। द्वादशाहवत्। यथा 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयु' रित्युपैति चोदनया द्वादशाहस्य सत्रत्वम् 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' इति यजति चोदनया च द्वादशाहस्यैवाहीनत्वं भवति। तथा संकल्पवैचित्र्यादत्राप्युभयविधम् ॥४।४।१२॥

शरीरेन्द्रियरहितस्य कथं भोगोपपत्तिरित्यपेक्षायामाह—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥४।४।१३॥

स्वसंकल्पसृष्टतन्वाद्युपकरणाभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः स्वप्नभोगवदीश्वरसृष्टैरुपकरणैर्भोगोपपत्तेः। अयम्भावः। करणकलेवराद्यभावेऽपि मुक्तः परमात्मप्रदत्तैस्तैस्तैरेव पितृलोकादिभिश्च लीलारसमनुभवति ॥४।४।१३॥

भावे जाग्रद्वत् ॥४।४।१४॥

स्वसंकल्पेन प्राप्तकरणकलेवरादिभावे पितृलोकादिविषयसद्भावे च जाग्रज्जीवभोगवन्मुक्तपुरुषः स्वप्नभोगविलक्षणं लीलारसमनुभवति ॥४।४।१४॥

नन्वात्मनोऽणुत्वात् 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादिनोक्तेष्वनेकशरीरेषु व्याप्त्यनुपपत्तेर्नानेकैर्निरात्मकैः शरीरैर्मुक्तस्य भोग उपपद्यत इत्यत्राह—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥४।४।१५॥

यथैकस्मिन्प्रदेशे समवस्थितस्यैकस्यैव प्रदीपस्य स्वप्रभाद्वारा देशान्तरावेशः, यथा चैकस्मिन्नपि देहे हृदयाद्येकदेशावस्थितस्यात्मनश्चैतन्यव्याप्त्या सर्वस्मिन्नपि शरीर आत्माभिमानस्तथा मुक्तस्याप्यनेकशरीरेषु समान एवात्माभिमानो व्यवहारश्च। एतदुक्तम्भवति। बद्धानांजीवानामनादिकर्मणा संकुचितज्ञानत्वाद्देहान्तरे चैतन्यद्वारा व्याप्तिर्न भवति स्वदेहे तु तेषामावेशोऽस्त्येव। मुक्तानान्तु परमात्मोपासनयापगतकर्मबन्धानां परमात्मानुग्रहेणासंकुचितज्ञानत्वात् स्वदेहवद्देहान्तरेऽपि व्याप्तिरुपपद्यते। तेन च सर्वोऽपि व्यवहारः सम्यगुपपद्यते। तथा हि दर्शयति। "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" (श्वे० ५।७) तथा च स्वसंकल्पेनैव मुक्तस्य सर्वमुपपद्यते' इति न कश्चिद्दोषः ॥४।४।१५॥

ननु "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंच न वेदनान्तरम्" (बृ० ४।३।२१) इत्येषा श्रुतिर्मुक्तस्य बाह्यान्तरज्ञानाभावं वदत्यतः कथं तस्य सर्वज्ञत्वमुच्यत इत्यत्राह—

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥४।४।१६॥

एतज्ज्ञानाभाववचनं स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षं न तु मुक्तिविषयकम्। स्वाप्ययः सुषुप्तिस्तत्र ज्ञानाभावः श्रुत्यन्तरेऽपि प्रतिपाद्यते "नाहं खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानाम्ययमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति" (छा० ८।११।२) इति। तथा 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इत्यादिदर्शनात् सम्पत्तिर्मरणम्। तत्रापि ज्ञानाभावः श्रुतौ प्रतिपादित "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" (बृ० २।४।१२) इति। मुक्तस्य हि सार्वज्ञ्यं श्रुतावाविष्कृतम्—"स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान्

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पश्यन् रमते । य एते ब्रह्मलोके" (छा० ८।१२।५।६) इति मुक्तावस्थायां सर्वविषयकं ज्ञानं स्पष्टमेवाविष्कृतम् । तस्मात्संकल्पेनैव मुक्तस्य शरीरेन्द्रियादीनां सत्त्वमसत्त्वं सर्वज्ञानाश्रयत्वञ्चेति सिद्धम् ॥४।४।१६॥

इत्यभावाधिकरणम् ।

अथ जगद्व्यापारवर्ज्याधिकरणम् ।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥४।४।१७॥

पूर्वं संकल्पमात्रेण मुक्तस्य सर्वकामावाप्तिरभिहिता । अनन्याधिपतित्वञ्चोक्तम् । तथा सतीदमिदानीं विचार्यते । किं मुक्तस्य संकल्पमात्रेण परमपुरुषस्येव सर्वेश्वरत्वमपि प्राप्यत आहोस्वित्सर्वकामप्राप्तिरूपमैश्वर्यमेवेति संशये जगदीश्वरत्वमपि । कुतः ? मुक्तस्यानन्याधिपतित्वेनार्थात्सर्वाधिपतित्वोपपत्त्या परमेश्वरस्येव सर्वनियन्तृत्वोपपत्तेः । "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति परमपुरुषसाम्यापत्तिश्रवणाज्जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वमपि मुक्तस्य सम्भवतीति प्राप्तेऽभिधीयते—जगद्व्यापारवर्ज्जमिति । जगद्व्यापारो जगदुत्पत्त्यादिकर्तृत्वं तेनाशेषचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनं तद्वर्ज्जमविद्यातिरोधानराहित्यपूर्वकपरब्रह्मानुभवरूपम् 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणे'तिश्रुत्यभिहितसंकल्पमात्रेण सर्वकामावाप्तिरूपं मुक्तस्यैश्वर्यमस्ति । न तु जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वमपि । तत्तु परमपुरुषस्यासाधारणम् । कुतः ? प्रकरणात् । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" (तै० ३।१) इति परमात्मानमेव प्रकृत्याम्नातम्—न तु मुक्तात्मानम् । एवं "तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३) इत्यादि प्रकरणान्तरेष्वपि ज्ञेयम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

असन्निहितत्वाच्चापि मुक्तस्य । न हि जगन्नियमनादिबोधकप्रकरणे मुक्तस्य सान्निध्यमप्यस्ति येन तस्याप्ययं व्यापारः स्यात् ॥४।४।१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥४।४।१८॥

ननु च "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ७।२५।२) इत्यादौ प्रत्यक्षेणैव स्वातन्त्र्योपदेशान्मुक्तस्य निरङ्कुशमैश्वर्यं स्यादितिचेन्न । आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । अधिकारे नियुक्तानां हिरण्यगर्भादीनां लोकेषु स्थितान् भोगान्प्रति मुक्तस्य कामचारत्वोक्तेः विमुक्तबन्धो मुक्तो ब्रह्मविभूतिभूतेषु हिरण्यगर्भादीनां विकारलोकेषु यथासंकल्पं विहरतीति तदर्थः । न हि तेन वाक्येन जगद्व्यापारोपि मुक्तस्यास्तीति प्रतिपाद्यते ॥४।४।१८॥

तर्हि संसारिवन्मुक्तस्यापि विकारान्तर्वर्तिभोगभोक्तृत्वाद्बद्धस्येव मुक्तस्यापि भोग्यं क्षयिष्णु स्यादित्यत्राह—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥४।४।१९॥

चकारः पूर्वोक्तहिरण्यगर्भादिलोकभोगसमुच्चयार्थकः । न केवलमाधिकारिकलोकस्थानेव भोगाननुभवति मुक्तोपि तु विकारेजन्मादिके न वर्तत इति निरस्ताखिलविकारं निरवधिककल्याणगुणसागरं परं ब्रह्म सविभूतिकमप्यनुभवति । तथा हि मुक्तस्य परमात्मनि सर्वात्मकेऽनन्तकल्याणगुणेऽनुभवितृत्वेन स्थितिमाह श्रुतिः—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति" (तै० २।७) "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" (तै० २।७) इति ॥४।४।१९॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥४।४।२०॥

जगत्सृष्टिनियमनादिरूपो व्यापारस्तु परमात्मन एवेति दर्शयतश्चैवमेव श्रुतिस्मृती "पतिं विश्वस्य" "एष सर्वेश्वर एष भूताधि-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" (बृ० ४।४।२२) "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृ० ३।८।९) इत्यादिका श्रुतिः। तथा स्मृतिरपि—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

इत्यादिः ॥४।४।२०॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥४।४।२१॥

"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै० १।२) इति मुक्तस्य ब्रह्मणा सह भोगमात्रेण साम्यं श्रूयते नतु जगद्व्यापारेणाऽपि। तस्माल्लिङ्गाज्जगद्व्यापारवर्जमेव मुक्तस्य सत्यसंकल्पतया सर्वेषु लोकेषु कामचारत्वमिति ॥४।४।२१॥

ननु परमात्मसंकल्पायत्तमेव मुक्तस्यैश्वर्यं यदि स्यात्तर्हि कदाचित्तदिच्छया पुनरावृत्तिरपि मुक्तस्यस्यादित्याह—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥४।४।२२॥

ध्यानोपासनवेदनादिशब्दवाच्यया परमपुरुषैकचिन्तनलक्षणयानन्यभक्त्या प्रसन्नेन परमपुरुषेणार्चिरादिना ब्रह्मलोकं नीतस्य मुक्तस्यानावृत्तिरेव "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" (छा० ८।१५।१) इत्यादिवैदिकशब्दादवगम्यते। एवं स्वानन्यभक्तस्यानावृत्तिः स्वयं गीताचार्येण भगवताऽप्यभिहिता—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमं गताः॥ गी० ।८।१५॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ गी० ।८।१६॥

तस्मात्परमपुरुषमुपसम्पन्नस्य मुक्तस्य पुनरावृत्तिर्न भवतीति सिद्धान्तः । सूत्रावृत्तिः शास्त्रसमाप्तिं गमयति ॥४।४।२२॥

इति जगद्व्यापारवर्ज्याधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर-
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दुश्रीपीठसंस्थापक-
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृते
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्य-
संक्षिप्तसारे चतुर्थोऽध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चाध्यायः ।

परिसमाप्तञ्च शास्त्रम् ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अकारादिक्रमेण सूत्राणां सूची ।

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
अ	
अकरणत्वाच्च न दोषः	२।४।११
अक्षरमम्बरान्तधृतेः	१।३।९
अक्षरधियान्त्ववरो०	३।३।३३
अग्निहोत्रादि तु तत्का०	४।१।१६
अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिचेन्न	३।१।४
अङ्गावद्धास्तु न शा०	३।३।५३
अङ्गित्वानुपपत्तेश्च	२।२।८
अङ्गेषु यथाश्रयभावः	३।३।५९
अचलत्वं चापेक्ष्य	४।१।९
अणवश्च	२।४।७
अणुश्च	२।४।१३
अत एव च नित्यत्वम्	१।३।२८
अत एव च तद्ब्रह्म	१।२।१६
अत एव चाग्नीन्धना०	३।४।२५
अत एव चानन्याधि०	४।४।९
अत एव चोपमासूर्य०	३।२।१८
अत एव न देवता०	१।२।२८
अत एव प्राणः	१।१।२४
अत एव सर्वाण्यनु०	४।२।२
अतः प्रबोधोऽस्मात्	३।२।८
अतश्चायनेऽपि दक्षिणे	४।२।१९
अतस्त्वितरज्या०	३।४।३९
अतिदेशाच्च	३।३।४५
अतोऽनन्तेन तथा हि०	३।२।२५
अतोऽन्यापि ह्येकेषा०	४।१।१७
अत्ता चराचरग्रहणात्	१।२।९
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	१।१।१
अदृश्यत्वादिगुणको०	१।२।२२
अदृष्टानियमात्	२।३।५०
अधिकन्तुभेदनिर्दे०	२।१।२२
अधिकाररूप०	२।३।१३
अधिकोपदेशात्तु वा०	३।४।८
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च	२।२।३९
अध्ययनमात्रवतः	३।४।१२
अनभिभवञ्च दर्शयति	३।४।३५
अनवस्थितेरसम्भवाच्च०	१।२।१८
अनारब्धकार्ये एव तु०	४।१।१५
अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्	३।४।४९
अनावृत्तिः शब्दाद०	४।४।२२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
अनियमः सर्वेषाम०	३।३।३२
अनिष्टादिकारिणा०	३।१।१२
अनुकृतेस्तस्य च	१।३।२१
अनुज्ञापरिहारौ०	२।३।४७
अनुपपत्तेस्तु न शा०	१।२।३
अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञा०	३।३।४८
अनुस्मृतेर्बादरिः	१।२।३१
अनुस्मृतेश्च	२।२।२५
अनुष्ठेयं बादरायणः०	३।४।१९
अनेन सर्वगतत्वमा०	३।२।३६
अन्तर उपपत्तेः	१।२।१३
अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः	३।४।३६
अन्तराभूतग्रामव०	३।३।३५
अन्तरा विज्ञानम्०	२।३।१६
अन्तर्याम्यधिदैवा०	१।२।१९
अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा	२।२।४१
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्	१।१।२१
अन्त्यावस्थितेश्चो०	२।२।३६
अन्यत्राभावाच्च न०	२।२।५
अन्यथात्वं शब्दादिति०	३।३।६
अन्यथानुमितौ च शक्ति०	२।२।९
अन्यथानुमेय०	२।१।१२
अन्यभावव्यावृत्तश्च	१।३।११
अन्यश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्	१।३।२१
अन्यार्थन्तु जैमिनि०	१।४।१८
अन्यार्थश्च परामर्शः	१।३।१९

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
अन्याधिष्ठिते पूर्ववद०	३।१।२४
अन्वयादिति चेत्स्या०	३।३।१७
अपरिग्रहाच्चात्यन्तम०	२।२।१७
अपि चैवमेके	३।२।१३
अपि च सप्त	३।१।१५
अपि संराधने प्रत्य०	३।२।२३
अपि च स्मर्यते	१।३।२२
अपि च स्मर्यते	३।४।३०
अपि च स्मर्यते	३।४।३७
अपि स्मर्यते	२।३।४४
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गा०	२।१।८
अप्रतीकालम्बना०	४।३।१४
अबाधाच्च	३।४।२९
अभावं बादरिराह०	४।४।१०
अभिध्योपदेशाच्च	१।४।२४
अभिमानिव्यपदेश०	२।१।५
अभिव्यक्तेरित्याश्म०	१।२।३०
अभिसन्ध्यादिष्व०	२।३।५१
अभ्युपगमेप्यर्थाभावात्	२।२।६
अम्बुवदग्रहणात्तु न तथा	३।२।१९
अरूपवदेव हि तत्प्रधा०	३।२।१४
अर्चिरादिना तत्प्रथितेः	४।३।१
अर्भकौकस्त्वाच्चद्व्य०	१।२।७
अल्पश्रुतेरितिचेत्तदुक्तम्	१।३।२०
अवस्थितिवैशेष्यादि०	२।३।२५
अवस्थितेरितिकाश्म०	१।४।२२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
अविभागेन दृष्टत्वात्	४।४।४
अविभागो वचनात्	४।२।१५
अविरोधश्चन्दनवत्	२।३।२४
अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्	३।१।२५
अंशो नानाव्यपदेशादन्य०	२।३।४२
अस्मादिवच्च तदनु०	२।१।२३
अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टा०	३।१।६
असति प्रतिज्ञोपरोधो०	२।२।२१
असदिति चेन्न प्रति०	२।१।७
असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न०	२।१।१८
असन्ततेश्चाव्य०	२।३।४८
असम्भवस्तु सतो०	२।३।९
असार्वत्रिकी	३।४।१०
अस्ति तु	२।३।२
अस्मिन्नस्य च तद्यो०	१।१।२०
अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा०	४।२।११
आ	
आकाशस्तल्लिङ्गात्	१।१।२३
आकाशे चाविशेषात्	२।२।२४
आकाशोर्थान्तरत्वा०	१।३।४१
आचारदर्शनात्	३।४।३
आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्	४।३।४
आत्मकृतेः	१।४।२६
आत्मगृहीतिरितरवदु०	३।३।१६
आत्मनि चैवं विचि०	२।१।२८
आत्मशब्दाच्च	३।३।१५
आत्मा प्रकरणात्	४।४।३
आत्मेति तूपगच्छन्ति०	४।१।३
आदरादलोपः	३।३।३९
आदित्यादिमतयश्चाङ्ग०	४।१।६
आध्यानाय प्रयोजना०	३।३।१४
आनन्दादयः प्रधानस्य	३।३।११
आनन्दमयोभ्या०	१।१।१३
आनर्थक्यमिति चे०	३।१।१०
आनुमानिकमप्येके०	१।४।१
आपः	२।३।११
आप्रायणात्तत्रापि हि०	४।१।१२
आभास एव च	२।३।४९
आमनन्ति चैनमस्मिन्	१।२।३३
आर्त्विज्यमित्यौडुलोमि०	३।४।४५
आवृत्तिरसकृदुपदेशात्	४।१।१
आसीनः सम्भवात्	४।१।७
आह च तन्मात्रम्	३।२।१६
इ	
इतरपरामर्शात्स०	१।३।१७
इतरव्यपदेशाद्धि०	२।१।२१
इतरस्याप्येवमसंश्ले०	४।१।१४
इतरेतरप्रत्ययत्वा०	२।२।१९
इतरे त्वर्थसामान्यात्	३।३।१३
इतरेषाञ्चानुपलब्धेः	२।१।२
इयदामननात्	३।३।३४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
ई	
ईक्षतिकर्मव्यपदे०	१।३।१२
ईक्षतेर्नाशब्दम्	१।१।५
उ	
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	२।३।२०
उत्क्रमिष्यत एवम्भावा०	१।४।२१
उत्तरत्र चैत्ररथेन०	१।३।३५
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरू०	१।३।१८
उत्तरोत्पादे च पूर्वनि०	२।२।२०
उत्पत्त्यसम्भवात्	२।२।४२
उदासीनानामपि०	२।२।२७
उपदेशभेदान्नेति चे०	१।१।२८
उपपत्तेश्च	३।२।३४
उपपन्नस्तल्लक्ष०	३।३।३०
उपपूर्वमपीत्येके०	३।४।४२
उपमर्दञ्च	३।४।१६
उपलब्धिवद०	२।३।३६
उपसंहारदर्शना०	२।१।२४
उपसंहारोर्थाभे०	३।३।५
उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्	३।३।४०
उपादानाद्बिहारो०	२।३।३४
उभयथा च दोषात्	२।२।१६
उभयथा च दोषात्	२।२।२३
उभयथापि न कर्मा०	२।२।१२
उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्ड०	३।२।२६
उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते	१।२।२१
ऊ	
ऊर्द्ध्वरेतस्सु च शब्दो हि	३।४।१७
ए	
एक आत्मनः शरीरे भावात्	३।३।५१
एतेन मातरिश्वा व्या०	२।३।८
एतेन योगः प्रत्युक्तः	२।१।३
एतेन शिष्टापरिग्र०	२।१।१३
एतेन सर्वे व्याख्या०	१।४।२९
एवमप्युपन्यासात्पू०	४।४।७
एवञ्चात्माकात्स्न्र्यम्	२।२।३४
एवं मुक्तिफलानियमस्त०	३।४।५१
ऐ	
ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे०	३।४।५०
क	
कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्	२।३।३३
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च	१।२।४
करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः	२।२।४०
कम्पनात्	१।३।३९
कल्पनोपदेशाच्च मध्वा०	१।४।१०
कामकारेण चैके	३।४।१५
कामाच्च नानुमानापेक्षा	१।१।१९
कामादीतरत्र तत्र चा०	३।३।३८
काम्यास्तु यथाकामं०	३।३।५८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
कारणत्वेन चाकाशा०	१।४।१४
कार्याख्यानादपूर्वम्	३।३।१८
कार्यात्यये तदध्यक्षेण०	४।३।९
कार्यं बादरिरस्य गत्युप०	४।३।६
कृतप्रयत्नापेक्ष०	२।३।४१
कृत्स्नप्रसक्तिर्निर०	२।१।२६
कृत्स्नभावात्तु गृहि०	३।४।४७
कृतात्ययेनुशय०	३।१।८
क्षणिकत्वाच्च	२।२।३१
क्षत्रियत्वावगतेश्चो०	१।२।३१
ग	
गतिशब्दाभ्यां तथा०	१।३।१४
गतिसामान्यात्	१।१।११
गतेरर्थवत्त्वमुभयथा०	३।३।२९
गुणसाधारण्यश्रु०	३।३।६२
गुणाद्वाऽलोकवत्	२।३।२६
गुहाम्प्रविष्टावात्मा०	१।२।११
गौणश्चेन्नात्मशब्दात्	१।१।६
गौण्यसम्भवात्	२।३।३
गौण्यसम्भवात्	२।४।२
च	
चक्षुरादिवत् तत्स०	२।४।१०
चमसवदविशेषात्	१।४।८
चरणादिति चेन्न०	३।१।९
चराचरव्यपाश्र०	२।३।१७
चिति तन्मात्रेण त०	४।४।६
छ	
छन्दत उभयाविरोधात्	३।३।२८
छन्दोऽभिधानान्नेति चे०	१।१।२६
ज	
जगद्वाचित्वात्	१।४।१६
जगद्व्यापारवर्जं प्रक०	४।४।१७
जन्माद्यस्य यतः	१।१।२
जीवमुख्यप्राणलिङ्गा०	१।४।१७
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति	१।१।३२
ज्ञेयत्वावचनाच्च	१।४।४
ज्ञोऽत एव	२।३।१९
ज्योतिश्चरणाभिधानात्	१।१।२५
ज्योतिर्दर्शनात्	१।३।४०
ज्योतिराद्यधिष्ठा०	२।४।१४
ज्योतिरुपक्रमात्तु त०	१।४।९
ज्योतिषि भावाच्च	१।३।३१
ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने	१।४।१३
त	
त इन्द्रियाणि त०	२।४।१७
तच्छ्रुतेश्च	३।४।४
तडितोऽधिवरुणः स०	४।३।३
तत्तु समन्वयात्	१।१।४
तत्प्राक्श्रुतेश्च	२।४।३
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः	२।४।४
तत्रापि तद्व्यापारा०	३।१।१६
तथा चैकवाक्यतोप०	३।४।२४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
तथान्यप्रतिषेधात्	३।२।३५
तथा प्राणाः	२।४।१
तदधिगमउत्तरपू०	४।१।१३
तदधीनत्वात्तदर्थवत्	१।४।३
तदनन्यत्वमारम्भणश०	२।१।१५
तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति०	३।१।१
तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः	१।३।३७
तदभावो नाडीषु त०	३।२।७
तदभिध्यानादेव तु०	२।३।१४
तदव्यक्तमाह हि	३।२।२२
तदापीतेः संसारव्य०	४।२।८
तदुपर्यपि बादराय०	१।३।२५
तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्र०	४।२।१६
तद्गुणसारत्वात्तद्व्य०	२।३।२९
तद्भूतस्य तु नातदभा०	३।४।४०
तद्वतो विधानात्	३।४।६
तद्धेतुव्यपदेशाच्च	१।१।१५
तन्निर्धारणानियमस्त०	३।३।४१
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्	१।१।७
तन्मनःप्राण उ०	४।२।३
तन्वभावे सन्ध्यवदु०	४।४।१३
तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथा	२।१।११
तस्य च नित्यत्वात्	२।४।१६
तानि परे तथा ह्याह	४।२।१४
त्रयाणामेव चैव०	१।४।६
त्र्यात्मकत्वात्तु भूय०	३।१।२

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
तुल्यन्तु दर्शनम्	३।४।९
तृतीयशब्दावरोध०	३।१।२१
तेजोऽतस्तथा ह्याह	२।३।१०
द	
दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षा०	४।४।२०
दर्शयति च	३।३।४
दर्शयति च	३।३।२२
दर्शनाच्च	३।१।२०
दर्शनाच्च	३।३।६४
दर्शनाच्च	४।३।१२
दर्शयति चाथो०	३।२।१७
दहर उत्तेरभ्यः	१।३।१३
दृश्यते तु	२।१।६
देवादिवदपि लो०	२।१।२५
देहयोगाद्वा सोऽपि	३।२।५
द्वादशाहवदुभयं बा०	४।४।१२
द्युभ्वाद्यायतनस्वश०	१।३।१
ध	
धर्मं जैमिनिरत एव	३।२।३९
धर्मोपपत्तेश्च	१।३।८
धृतेश्च महिम्नोऽस्या०	१।३।१५
ध्यानाच्च	४।१।८
न	
न कर्माविभागादिति०	२।१।३५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
न च कर्तुः करणम्	२।२।४३
न च कार्ये प्रत्यभि०	४।३।१३
न च पर्य्यायादप्यवि०	२।२।३५
न चं स्मार्तमतद्धर्मा०	१।२।२०
न चाधिकारिकमपि०	३।४।४१
न तु दृष्टान्तभावात्	२।१।९
न तृतीये तथोप०	३।१।१८
न प्रतीके न हि सः	४।१।४
न प्रयोजनवत्त्वात्	२।१।३२
न भावोऽनुपलब्धेः	२।२।३०
न वक्तुरात्मोपदेशा०	१।१।३०
न वा तत्सहभावा०	३।३।६३
न वा प्रकरणभेदात्०	३।३।७
न वायुक्रिये पृथगु०	२।४।९
न वा विशेषात्	३।३।२१
न वियदश्रुतेः	२।३।१
न विलक्षणत्वा०	२।१।४
न सामान्यादप्युप०	३।३।४९
न संख्योपसङ्ग्रहा०	१।४।११
न स्थानतोऽपि पर०	३।२।११
नाणुरतच्छ्रुतेरि०	२।३।२२
नातिचिरेण विशे०	३।१।२३
नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वा०	२।३।१८
नानाशब्दादिभे०	३।३।५६
नानुमानमतच्छब्दात्	१।३।३
नाभाव उपलब्धेः	२।२।२८
नाविशेषात्	३।४।१३
नासतोऽदृष्टत्वात्	२।२।२६
नियमाच्च	३।४।७
निर्मातारं चैके पुत्रा०	३।२।२
निशि नेति चेन्न सम्ब०	४।२।१८
नित्यमेव च भावात्	२।२।१४
नित्योपलब्ध्यनुपल०	२।३।३२
नेतरोऽनुपपत्तेः	१।१।१७
नैकस्मिन्दर्शयतो हि	४।२।६
नैकस्मिन्नसम्भवात्	२।२।३३
नोपमर्देनातः	४।२।१०
प	
पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्य०	२।४।१२
पत्यादिशब्देभ्यः	१।३।४३
पत्युरसामञ्जस्यात्	२।२।३७
पटवच्च	२।१।१९
पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रा०	२।२।३
परमतः सेतून्मान०	३।२।३०
परं जैमिनिर्मुख्यत्वा०	४।३।११
परात्तु तच्छ्रुतेः	२।३।४०
पराभिध्यानात्तु तिरो०	३।२।४
परामर्शं जैमिनिरचो०	३।४।१८
परिणामात्	१।४।२७
परेण च शब्दस्य ताद्वि०	३।३।५०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
पारिप्लवार्था इति चे०	३।४।२३
पुरुषाश्मवदिति चे०	२।२।७
पुरुषार्थोऽतःशब्दा०	३।४।१
पुरुषविद्यायामपि०	३।३।२४
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतो०	२।३।३१
पूर्ववद्वा	३।२।२८
पूर्वविकल्पः प्रकार०	३।३।४४
पूर्वन्तु बादरायणो हेतु०	३।२।४०
पृथगुपदेशात्	२।३।२८
पृथिवी	२।३।१२
प्रकरणाच्च	१।२।१०
प्रकरणाच्च	१।३।५
प्रकाशवच्चावैयर्थ्या०	३।२।१५
प्रकाशादिवच्चावैशे०	३।२।२४
प्रकाशादिवत्तु नैवं०	२।३।४५
प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्	३।२।२७
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञाद०	१।४।२३
प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषे०	३।२।२१
प्रतिज्ञाविरोधात्	१।१।९
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्म०	१।४।२०
प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेका०	२।३।६
प्रतिषेधाच्च	३।२।२९
प्रतिषेधादितिचेन्न शा०	४।२।१२
प्रतिसंख्याप्रतिसंख्या०	२।२।२२
प्रत्यक्षोपदेशादिति चे०	४।४।१८
प्रथमेऽश्रवणादिति०	३।१।५
प्रदानवदेव तदुक्तम्	३।३।४२
प्रदीपवदावेशस्तथा हि०	४।४।१५
प्रदेशभेदादिति चे०	२।३।५२
प्रवृत्तेश्च	२।२।२
प्रसिद्धेश्च	१।३।१६
प्राणगतेश्च	३।१।३
प्राणवता शब्दात्	२।४।१५
प्राणस्तथानुगमा०	१।१।२९
प्राणादयो वाक्यशे०	१।४।१२
प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्ति०	३।३।१२

फ

फलमत उपपत्तेः	३।२।३७

ब

बहिस्तूभयथापि स्मृतेरा०	३।४।४३
बुद्ध्यर्थः पादवत्	३।२।३२
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्	४।१।५
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्या०	४।४।५

भ

भाक्तं वानात्मावत्त्वात्त०	३।१।७
भाव जैमिनिर्विकल्पा०	४।४।११
भावं तु बादरायणो०	१।३।३२
भावशब्दाच्च	३।४।२२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
भावे चोपलब्धेः	२।१।१६
भावे जाग्रद्वत्	४।४।१४
भूतादिपादव्यपदेशो०	१।१।२७
भूतेषु तच्छ्रुतेः	४।२।५
भूमा सम्प्रसादादध्यु०	१।३।७
भूम्नः क्रतुवज्यायस्त्वं०	३।३।५५
भेदव्यपदेशाच्च	१।३।४
भेदव्यपदेशाच्चान्यः	१।१।२२
भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च	२।४।१८
भेदादितिचेन्न प्रत्येक०	३।२।१२
भेदान्नेतिचेदेकस्यामपि	३।३।२
भोक्त्रापत्तेरविभागश्चे०	२।१।१४
भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च	४।४।२१
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा०	४।१।१९

म

मध्वादिष्वसम्भवा०	१।३।३०
महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वप०	२।२।११
महद्वच्च	१।४।७
मन्त्रवर्णाच्च	२।३।४३
मन्त्रादिवद्वा विरोधः	३।३।५४
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते	१।१।१६
मायामात्रन्तु कात्स्न्यें०	३।२।३
मांसादिभौमं यथाश०	२।४।२०
मुक्तः प्रतिज्ञानात्	४।४।२
मुक्तोपसृप्यव्यपदे०	१।३।२
मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परि०	३।२।१०
मौनवदितरेषाम०	३।४।४८

य

यत्रैकाग्रता तत्राविशे०	४।१।११
यथा च तक्षोभयथा	२।३।३९
यथा च प्राणादिः	२।१।२०
यदेव विद्ययेति हि	४।१।१८
यावदधिकारमवस्थि०	३।३।३१
यावदात्मभावित्वा०	२।३।३०
यावद्विकारन्तु विभा०	२।३।७
योगिनः प्रति स्मर्येते०	४।२।२०
योनिश्च हि गीयते	१।४।२८
योनेः शरीरम्	३।१।२७

र

रचनानुपपत्तेश्च नानु०	२।२।१
रश्म्यनुसारी	४।२।१७
रूपादिमत्वाच्च विपर्यय०	२।२।१५
रूपोपन्यासाच्च	१।२।२४
रेतःसिग्योगोऽथ	३।१।२६

ल

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि०	३।३।४३
लिङ्गाच्च	४।१।२
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्	२।१।३३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
व	
वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि०	१।४।५
वाक्यान्वयात्	१।४।१९
वाङ्मनसि दर्शना०	४।२।१
वायुमब्दादविशेषविशेषा०	४।३।२
विकल्पो विशिष्टफ०	३।३।५७
विकरणत्वान्नेति चे०	२।१।३१
विकारशब्दान्नेति चे०	१।१।१४
विकारावर्तिच तथा हि०	४।४।१९
विज्ञानादिभावे वा त०	२।२।४४
विद्याकर्मणोरिति प्र०	३।१।१७
विद्यैव तु निर्द्धारणा०	३।३।४६
विधिर्वा धारणवत्	३।४।२०
विपर्ययेण तु क्रमा०	२।३।१५
विप्रतिषेधाच्च	२।२।४५
विप्रतिषेधाच्चासमञ्ज०	२।२।१०
विभागः शतवत्	३।४।११
विरोधः कर्मणीति चे०	१।३।२६
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च	१।२।२
विशेषञ्च दर्शयति	४।३।१५
विशेषणभेदव्यप०	१।२।२३
विशेषणाच्च	१।२।१२
विशेषानुग्रहश्च	३।४।३८
विशेषितत्वाच्च	४।३।७
विहितत्वाच्चाश्रमकर्मा०	३।४।३२

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भा०	३।२।२०
वेधाद्यर्थभेदात्	३।३।२५
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रु०	४।३।५
वैधर्म्याच्च न स्वप्न०	२।२।२९
वैशेष्यात्तु तद्वाद०	२।४।२१
वैश्वानरः साधारण०	१।२।२५
वैषम्यनैर्घृण्ये न सा०	२।१।३४
व्यतिरेकस्तद्भावभावि०	३।३।५२
व्यतिरेकानवस्थिते०	२।२।४
व्यतिरेको गन्धव०	२।३।२७
व्यतिहारो विशिंष०	३।३।३६
व्यपदेशाच्च क्रि०	२।३।३५
व्याप्तेश्च समञ्जसम्	३।३।९
श	
शक्तिविपर्ययात्	२।३।३७
शब्द इति चेन्नातः०	१।३।२७
शब्दश्चातोकामकारे	३।४।३१
शब्दविशेषाच्च	१।२।५
शब्दादेव प्रमितः	१।३।२३
शब्दादिभ्योन्तःप्रतिष्ठा०	१।२।२७
शब्दाच्च	२।३।४
शमदमाद्युपेतस्या०	३।४।२७
शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो०	१।१।३१
शास्त्रयोनित्वात्	१।१।३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम	अध्यायाद्यङ्कः
शिष्टेश्च	३।३।६०
शुगस्य तदनादर०	१।३।३३
शेषत्वात्पुरुषार्थवा०	३।४।२
श्रवणाध्ययनार्थ०	१।३।३८
श्रुतत्वाच्च	१।१।१२
श्रुतत्वाच्च	३।२।३८
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्	२।१।२७
श्रुतोपनिषत्कगत्य०	१।२।१७
श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च०	३।३।४७
श्लेषश्च	२।४।८

स

स एव तु कर्मानु०	३।२।९
सत्त्वाच्चावरस्य	२।१।१७
सन्ध्ये सृष्टिराह हि	३।२।१
सप्त गतेर्विशेषित०	२।४।५
समन्वारम्भणात्	३।४।५
समवायाभ्युपग०	२।२।१३
समाकर्षात्	१।४।१५
समाध्यभावाच्च	२।३।३८
समान एवञ्चाभेदा०	२।३।१९
समाननामरूपत्वा०	१।३।२९
समाना चासृत्युपक्रमा०	४।२।७
समाहारात्	३।३।६१
समुदाय उभयहे०	२।२।१८
सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा०	१।२।३२
सम्पद्याविर्भावः स्वे०	४।४।१
सम्बन्धादेवमन्य०	३।३।२०
सम्बन्धानुपपत्तेश्च	२।२।३८
सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः	३।३।२३
सम्भोगप्राप्तिरिति०	१।२।८
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्	१।२।१
सर्वथानुपपत्तेश्च	२।२।३२
सर्वथापि त एवोभ०	३।४।३४
सर्वधर्मोपपत्तेश्च	२।१।३६
सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदना०	३।३।१
सर्वान्नानुमतिश्च प्रा०	३।४।२८
सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रु०	३।४।२६
सर्वाभेदादन्यत्रेमे	३।३।१०
सर्वोपेता च तद्दर्शनात्	२।१।३०
संकल्पादेव तच्छ्रुतेः	४।४।८
संयमने त्वनुभूये०	३।१।११
संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति०	३।३।८
संस्कारपरामर्शा०	१।३।३६
संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु०	२।४।१९
सहकारित्वेन च	३।४।३३
सहकार्यन्तरविधिः प०	३।४।४६
साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः	३।१।२२
साक्षाच्चोभयाम्नानात्	१।४।२५
साक्षादप्यविरोध०	१।२।२९
सा च प्रशासनात्	१।३।१०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्रम्	अध्यायाद्यङ्कः
सामान्यात्तु	३।२।३१
सामीप्यात्तु तद्व्यपदे०	४।३।८
साम्पराये तर्तव्या०	३।३।२७
सुकृतदुष्कृते एव तु०	३।१।११
सुखविशिष्टाभिधा०	१।२।१५
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन	१।३।४२
सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वाद्	१।४।२
सूक्ष्मं प्रमाणतश्च०	४।२।९
सूचकश्च हि श्रुतेरा०	३।२।६
सैव हि सत्यादयः	३।३।३७
सोऽध्यक्षे तदुपगम०	४।२।४
स्तुतयेऽनुमतिर्वा०	३।४।१४
स्तुतिमात्रमुपादा०	३।४।२१
स्थानविशेषात्प्रका०	३।२।३३
स्थानादिव्यपदेशाच्च	१।२।१४
स्थित्यदनाभ्याञ्च	१।३।६
स्मरन्ति च	२।३।४६
स्मरन्ति च	३।१।१४
स्मरन्ति च	४।१।१०
स्मर्यमाणमनुमान०	१।२।२६
स्मर्यते च	३।२।४१
स्मर्यते च	४।२।१३
स्मर्यतेऽपि च लोके	३।१।१९
स्मृतेश्च	१।२।६
स्मृतेश्च	४।३।१०
स्मृत्यनवकाशदोष०	२।१।१
स्याच्चैकस्य ब्रह्मश०	२।३।५
स्वपक्षदोषाच्च	२।१।१०
स्वपक्षदोषाच्च	२।१।२९
स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च	२।३।२३
स्वात्मना चोत्तरयोः	२।३।२१
स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि०	३।३।३
स्वाप्ययात्	१।१।१०
स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यत०	४।४।१६
स्वामिनः फलश्रुतेरित्या०	३।४।४४

ह

हस्त्यादयस्तु स्थिते०	२।४।६
हानौ तूपायनशब्द०	३।३।२६
हृद्यपेक्षया तु मनु०	१।३।२४
हेयत्वावचनाच्च	१।१।८

इति सूत्रसूची समाप्ता ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh